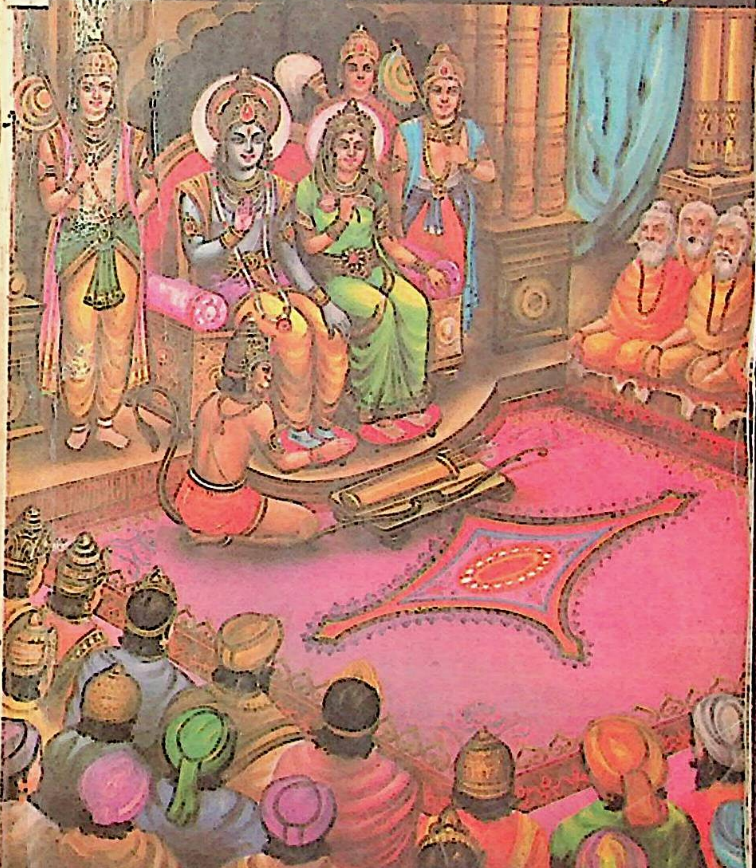
श्री हरिः

महत्त्वपूर्ण-शिक्षा



श्री जयदयाल गोयन्दका

श्रीहरिः

महत्त्वपूर्ण-शिक्षा



लेखक

श्रीजयदयाल गोयन्दका

म॰ पू॰ शि॰—१-२—

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं २०१३ से २०४५ तक	१,४०,२५०
सं० २०४६ चौदहवाँ संस्करण	१०,०००
	कुल १,५०,२५०

मूल्य—चार रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

निवेदन

'कल्याण'के २४वें और २५वें वर्षमें मेरे बहुत-से लेख निकले हुए हैं। उनमें सार्वजनिक शिक्षा होनेके कारण उनको पुस्तकाकारमें छापनेके लिये कई भाइयोंने विशेष आग्रह किया। अतः उन लेखोंका संशोधन करके उन्हें पुस्तकरूपमें प्रकाशित किया जा रहा है। इन लेखोंमें शास्त्रोंके आधारपर सभी वर्ण और आश्रमवालोंके लिये आत्माके उद्धारकी बातें कही गयी हैं। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, सदाचार, वैराग्य, सत्सङ्ग और स्वाध्यायका विषय कथा और कहानियोंद्वारा भी समझाया गया है। अतः सर्वसाधारणको भी इसके पठनसे उपर्युक्त विषय सहजमें ही समझमें आ सकते हैं। कोई भी स्त्री-पुरुष इसे पढ़कर काममें लायेंगे तो मुझे विश्वास है कि इससे उनको विशेष लाभ हो सकता है तथा जो कोई भी सज्जन इस पुस्तकमें भूलसे रही हुई त्रुटियोंको मुझे बतलायेंगे, तो मैं उनका आभारी होऊँगा।

विनीत—

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

—०—

ॐ

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

महत्त्वपूर्ण शिक्षा

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

हिंदू-संस्कृति और रामायण

हिंदू-संस्कृतिके स्वरूपको बतलानेके लिये रामायण एक महान् आदर्श ग्रन्थ है। उसमें हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप स्थल-स्थलपर भरा है। हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र) का 'न्धु' लेकर 'हिन्धु' शब्द बना है। उसीका अपभ्रंश 'हिंदू' शब्द है। हिमालयसे समुद्रतकके स्थानका नाम है हिंदुस्थान और उसमें बसनेवाली जातिका नाम हिंदू है। हिंदूजातिका ही दूसरा नाम है—आर्यजाति, श्रेष्ठजाति। इस जातिका चाल-चलन, रहन-सहन, आहार-व्यवहार आदि जो स्वाभाविक कल्याणमय आचरण है, उसका नाम है 'हिंदू-संस्कृति'। आर्य पुरुषोंकी उक्त संस्कृतिको सदाचार कहा जाता है। उनका चाल-चलन, आहार-विहार, खान-पान आदि प्रत्येक आचरण श्रुति-स्मृति-विहित होनेसे आत्माका कल्याण करनेवाला है। इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला होनेके कारण इस सदाचारको ही

'हिंदू-धर्म'* कहते हैं। यह अनादि कालसे चला आ रहा है,इसलिये इसीको 'सनातन-धर्म' कहते हैं। मनुजीका वचन है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२।१२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचरण तथा अपने आत्माका प्रिय (हित) करनेवाला कार्य—इस तरह चार प्रकारका यह धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है।'

यह सनातनधर्म ईश्वरका कानून है और सदा ईश्वरमें निवास करता है। यह सृष्टिके आदिमें ईश्वरसे ही प्रकट होता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
(४।१)

'मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा।'

तथा यह प्रलयके समय ईश्वरमें ही समा जाता है। इसलिये ईश्वर ही इसकी प्रतिष्ठा हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(गीता १४।२७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

अतः इस शाश्वत धर्मको ईश्वरका स्वरूप ही कहा जाता है। यह सदासे है और सदा रहेगा, इसलिये इसका नाम 'सनातन-धर्म' है।

---

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिकदर्शन १।२)

यह कभी प्रकटरूपसे रहता है, कभी अप्रकटरूपसे; किंतु इसका कभी विनाश नहीं होता। ईश्वरके अवतारकी भाँति इसका केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है।

वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणके समस्त श्लोक तथा तुलसीकृत रामचरितमानसके सारे दोहे, चौपाई, छन्द आदि सभी इसी शाश्वत धर्मरूप हिंदू-संस्कृतिका दिग्दर्शन करा रहे हैं। उनमें भी श्रीराम और सीताके आदर्श चरित्र एवं सभी भाइयोंका परस्पर भ्रातृप्रेम हिंदू-संस्कृतिके प्रधान निदर्शक हैं।

रामायणमें श्रीरामका आदर्श चरित्र

श्रीरामचन्द्रजीकी सारी ही चेष्टाएँ धर्म, ज्ञान, नीति, शिक्षा, गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यसे भरी हुई हैं। उनका व्यवहार देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभीके साथ बहुत ही प्रशंसनीय, अलौकिक और अतुलनीय है। देवता, ऋषि, मुनि और मनुष्योंकी तो बात ही क्या—जाम्बवान्, सुग्रीव, हनुमान् आदि रीछ-वानर; जटायु आदि पक्षी तथा विभीषण आदि राक्षसोंके साथ भी उनका ऐसा दयापूर्ण, प्रेमयुक्त और त्यागमय व्यवहार हुआ है कि जिसे स्मरण करनेसे ही रोमाञ्च हो आता है। भगवान् श्रीरामकी कोई भी चेष्टा ऐसी नहीं, जो कल्याणकारिणी न हो।

उन्होंने साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा होते हुए भी मित्रोंके साथ मित्रका-सा, माता-पिताके साथ पुत्रका-सा, स्त्रीके साथ पतिका-सा, भाइयोंके साथ भाईका-सा, सेवकोंके साथ स्वामीका-सा, मुनि और ब्राह्मणोंके साथ शिष्यका-सा—इसी प्रकार सबके साथ यथायोग्य त्यागयुक्त प्रेमपूर्ण व्यवहार किया है। अतः उनके प्रत्येक व्यवहारसे हमलोगोंको शिक्षा लेनी चाहिये।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यका तो कहना ही क्या है, उसकी तो संसारमें एक कहावत हो गयी है। जहाँ कहीं सबसे बढ़कर सुन्दर शासन होता है, वहाँ 'रामराज्य' की उपमा दी जाती है। श्रीरामके राज्यमें प्रायः सभी मनुष्य परस्पर प्रेम करनेवाले तथा नीति, धर्म, सदाचार और ईश्वरकी भक्तिमें तत्पर रहकर

अपने-अपने धर्मका पालन करनेवाले थे। प्रायः सभी उदारचित्त और परोपकारी थे। वहाँके प्रायः सभी पुरुष एकनारीव्रती और अधिकांश स्त्रियाँ पतिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली थीं। भगवान् श्रीरामका इतना प्रभाव था कि उनके राज्यमें मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी प्रायः परस्पर वैर भुलाकर निर्भय विचरा करते थे। भगवान् श्रीरामके चरित्र बड़े ही प्रभावोत्पादक और अलौकिक थे। यह हमारे आर्य पुरुषोंका स्वाभाविक ही व्यवहार था। इसी आदर्शको हिंदू-संस्कृति कहते हैं। हमें उसी आदर्शको लक्ष्यमें रखकर उसका अनुकरण करना चाहिये।

रामायणमें सीताजीका अनुकरणीय चरित्र

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार पतिके साथ पत्नीको कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसकी शिक्षा माताएँ श्रीसीताके चरित्रसे ले सकती हैं। जगज्जननी श्रीसीताका प्रायः सारा जीवन ही माता-बहिनोंके लिये आदर्श और शिक्षाप्रद है। सास-ससुर, माता-पिता, देवरों, सेवकों तथा अन्य सभी स्त्री-पुरुषोंके साथ—यहाँतक कि दुष्टोंके साथ भी कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसका सुन्दर उपदेश हमें श्रीसीताजीके जीवनसे विशेषरूपसे मिलता है। इसे किसी भी रामायणमें देख सकते हैं। श्रीसीताजीकी सभी क्रियाएँ कल्याणकारिणी हैं, अतः माता-बहिनोंको सीताजीके जीवनमें जो शिक्षाएँ भरी हुई हैं, उन्हें अपने जीवनमें उतारनेकी कोशिश करनी चाहिये।

रामायणमें भ्रातृ-प्रेम

हिंदू-संस्कृतिके अनुसार भाइयोंके साथ कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार होना चाहिये, इसकी शिक्षा हमें रामायणमें श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत एवं श्रीशत्रुघ्नके चरित्रोंसे स्थल-स्थलपर मिलती है। उनकी प्रत्येक क्रियामें स्वार्थत्याग और प्रेमका भाव झलक रहा है। श्रीराम और भरतके स्वार्थत्यागकी बात क्या कही जाय—श्रीरामचन्द्रजीका प्रत्येक संकेत, चेष्टा और प्रसन्नता भरतके राज्याभिषेकके लिये है और भरतकी श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये। पाठकगण किसी भी रामायणके अयोध्याकाण्डमें इस विषयको विस्तारपूर्वक देख सकते हैं। इसी प्रकार

द्वापरयुगमें युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंका परस्पर भ्रातृ-प्रेम आदर्श और अनुकरणीय है। यह है हिंदू-संस्कृति !

ईश्वरवाद

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरवाद एक प्रधान स्थान रखता है। ईश्वरको केवल हिंदू ही नहीं, ईसाई और मुसलमान आदि सभी मानते हैं। जिसे हम हरि, ओम्, ईश्वर, परमात्मा, नारायण, राम, कृष्ण आदि अनेक नामोंसे कहते हैं, उसे ही ईसाई गॉड और मुसलमान अल्लाह, खुदा आदि नामोंसे पुकारते हैं। जैसे जल, पानी, नीर, अप्, वाटर आदि सभी जलके ही नाम हैं, उसीके पर्याय हैं—वस्तुतः सबका अर्थ एक जल है—उसी प्रकार ये सभी नाम वस्तुतः एक ही ईश्वरके हैं।

हमारे श्रुति[1], स्मृति[2], दर्शन[3], इतिहास[4], पुराण[5] आदि शास्त्रोंमें तो

---

१. श्रुति कहती है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(यजुर्वेद ४०।१)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है।'

२. मनुजी कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम्॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥

(मनु १२।१२२, १२४)

'जो सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन करनेवाला है एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमें भी बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये। यही सम्पूर्ण प्राणियोंको पञ्चभूतरूपी पाँच मूर्तियोंके द्वारा व्याप्त किये हुए है तथा जन्म, वृद्धि और क्षयके द्वारा निरन्तर समस्त प्राणियोंको चक्रकी भाँति घुमा रहा है।'

३. महर्षि वेदव्यासजी कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः।

(ब्रह्मसूत्र १।२)

'इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि जिससे होते हैं, वह ईश्वर है।' महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

ईश्वरका अस्तित्व पद-पदपर अङ्कित है तथा गीता[६], भागवत[७], रामायणकी तो बात ही क्या है—ये तो ईश्वरवादके प्रधान आदर्श ग्रन्थ हैं ही।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(योग० १।२४)

'क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (पाप-पुण्य), कर्मोंके फल (जाति, आयु, भोग) तथा वासनाओंसे रहित जो पुरुषोंमें विशेष है, वह ईश्वर है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (योग० १।२५)

'सर्वज्ञताका बीज (कारण) अर्थात् सम्यक् ज्ञान उस परमेश्वरमें सबसे बढ़कर है, उससे बढ़कर किसीमें नहीं है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योग० १।२६)

'वह ईश्वर ब्रह्मादिकोंको भी शिक्षा देनेवाला और सबसे बड़ा है; क्योंकि उसका कालके द्वारा अन्त नहीं होता।'

४. महाभारतमें आया है—

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्॥

(अनुशासन १४९।१३८)

'समस्त ऋषिगण, पितृगण, देवगण और प्रकृतिके विकाररूप पाँच महाभूत आदि तथा मूल प्रकृति, बुद्धि, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ यह सम्पूर्ण जड-चेतनात्मक जगत् नारायणसे ही उत्पन्न हुआ है।'

५. श्रीविष्णुपुराणमें आता है—

स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः।
सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः॥

(६।५।८६)

'वे ईश्वर ही समष्टि और व्यष्टिरूप हैं, वे ही व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप हैं, वे ही सबके स्वामी, सबके साक्षी और सब कुछ जाननेवाले हैं तथा उन्हीं सर्वशक्तिमान्‌को परमेश्वर कहते हैं।'

६. गीता कहती है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(१५।१७)

'इन (क्षर-अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां॥
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

'जिनकी मायाके वशीभूत सम्पूर्ण विश्व, ब्रह्मादि देवता और असुर हैं, जिनकी सत्तासे रस्सीमें सर्पके भ्रमकी भाँति यह सारा दृश्य जगत् सत्य ही प्रतीत होता है और जिनके श्रीचरण ही भवसागरसे तरनेकी इच्छावालोंके लिये एकमात्र नौका हैं, उन समस्त कारणोंसे परे (सब कारणोंके कारण और सबसे श्रेष्ठ) राम कहानेवाले भगवान् श्रीहरिकी मैं वन्दना करता हूँ।'

तथा अरण्यकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके पूछनेपर भगवान् स्वयं कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(१८।६१)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

७. श्रीभागवतकार कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥
(१।१।१)

'जिससे इस जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, जो अन्वय और व्यतिरेक—दोनों प्रकारसे सत्य है अर्थात् जिसकी सत्तासे ही जगत्की सत्ता है, परन्तु जगत्के न रहनेपर भी जिसका अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है, जो जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त और सर्वज्ञ है तथा अखण्ड, अबाध, ज्ञानसम्पन्न होनेके कारण जो स्वयंप्रकाश है, सर्गके आदिमें जिसने अपने संकल्पसे ही ब्रह्माके हृदयमें उन वेदोंका ज्ञान प्रदान किया है, जिसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि मोहित हो जाते हैं; जिसके सत्य-स्वरूपमें यह त्रिगुणमयी सृष्टि उसकी सत्तासे सत्य है, परन्तु भिन्न-भिन्न नामरूपोंकी दृष्टिसे असत्य भी है—जैसे तेजोमय सूर्यकी किरणोंसे काँच आदि मृत्तिकाके विकारोंमें जलकी और जलमें स्थलकी भ्रान्ति हो जाया करती है, जिसके अपने ज्ञानमय प्रकाशसे

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

'जो मायाको, ईश्वरको और अपने स्वरूपको नहीं जानता, वह जीव है; और जो कर्मानुसार बन्धन और मोक्ष देनेवाला, सबसे परे,मायाका प्रेरक और कल्याण-मय है, वह ईश्वर है।'

जो ईश्वरको नहीं माननेवाले नास्तिक हैं, उन्होंने अनेक प्रकारके झूठे तर्क-वितर्क करके बहुत-से अनजान लोगोंको मोहित कर दिया है, जिससे वे बेचारे भोले-भाले लोग भ्रममें पड़कर ईश्वरके सम्बन्धमें भी अनेक प्रकारके शङ्का-समाधान करने लगे। इससे हमारी हिंदू-संस्कृतिका ह्रास होने लगा, जो हिंदुस्तानके पतनमें बहुत बड़ा कारण सिद्ध हुआ। ईश्वरको माननेमें लाभ और न माननेमें अनेक हानियाँ प्रत्यक्ष ही हैं।

ईश्वरको माननेवाला मनुष्य ईश्वरके भयसे पाप नहीं करता और ईश्वरपर निर्भर हो जाता है, जिससे उसके हृदयमें निर्भयता, धीरता, वीरता, गम्भीरता आदि अनेक गुण आ जाते हैं। ईश्वरके चिन्तनसे अनायास ही सारे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर उसमें पूर्णतया सद्गुण-सदाचार आ जाते हैं तथा परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति होकर मरनेपर उत्तम गति मिलती है।

ईश्वरको न माननेवाले नास्तिकके हृदयमें दुर्गुण-दुराचार घर कर लेते हैं। उसे ईश्वरका तो भय रहता नहीं, फिर वह क्यों पाप करनेसे रुकेगा ? उसे पापोंके फलस्वरूप दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर चिन्ता, शोक, भय प्राप्त होते हैं और मरनेपर

माया—छल-कपट आदि सदा ही निरस्त रहते हैं, उस परम सत्यस्वरूप परमेश्वरका हम ध्यान करते हैं।'

तथा—

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां संतत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥
(११।९।२१)

'जिस प्रकार मकड़ी अपने पेटमेंसे मुखद्वारा तन्तुको निकालकर उसको फैलाती है और उसके साथ विहार करके उसे पुनः निगल जाती है, उसी प्रकार सर्वेश्वर परमात्मा भी (जगत्की रचना करके तथा उसमें विहार करके पुनः अपनेमें उसे लीन कर लेते हैं) ।'

उसकी बड़ी दुर्गति होती है।

तर्कसे भी यह बात सिद्ध है। आप कहते हैं, 'ईश्वर नहीं है' और मैं कहता हूँ 'ईश्वर है'। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये, आपकी बात ही सत्य हो, तो ऐसी परिस्थितिमें यदि ईश्वर नहीं है और मैंने भूलसे ईश्वरको मान लिया तो इससे मुझे क्या हानि होगी? आपकी मान्यताके अनुसार वास्तवमें ईश्वर है ही नहीं, तो चाहे जितना ही उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया जाय, न वह आपको मिलेगा न मुझे ही। यह तो हो ही नहीं सकता कि मुझे ईश्वर न मिले और आपको मिल जाय; जब ईश्वर है ही नहीं, तब मिलेगा क्या? हमने जो भूलसे ईश्वरको मान लिया, उसके फलस्वरूप हमें कोई दण्ड तो होना ही नहीं है। फलतः आप और हम दोनों समान कक्षामें ही रहेंगे। परन्तु थोड़ी देरके लिये मान लें यदि हमारी मान्यता सत्य हो गयी, ईश्वरका वास्तवमें होना प्रमाणित हो गया तो इसके फलस्वरूप यदि हमने शास्त्रानुसार साधन किया तो हमें तो ईश्वरकी प्राप्ति होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जायगी और आप इन सबसे वञ्चित रहेंगे। इतना ही नहीं, इसके फलस्वरूप आपको घोर नरकोंकी प्राप्ति होगी और भारी दुःखोंका सामना करना पड़ेगा। इस तर्कके अनुसार भी ईश्वरको मानना ही सब प्रकारसे श्रेयस्कर है।

अन्य युक्तियोंसे भी ईश्वरका होना सिद्ध है। ईश्वरके बिना किसीका भी काम चलना सम्भव नहीं है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि सभी ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणित कर रहे हैं। ये सभी जिससे उत्पन्न हुए हैं और जिससे संचालित हो रहे हैं, वही ईश्वर है; क्योंकि बिना किसी कारणके कोई कार्य नहीं हो सकता। अतः इस जगत्का भी तो कोई कारण होना चाहिये। यह सारा जगत् जिससे उत्पन्न हुआ है, वही सबका अभिन्न निमित्तोपादान कारण*

---

* जिस वस्तुसे जो चीज बनती है, वह उसका उपादान-कारण है और बनानेवाला निमित्तकारण—जैसे घड़ेका उपादानकारण मिट्टी है और निमित्तकारण कुम्हार है। किंतु संसारके उपादान और निमित्तकारण परमात्मा ही हैं। जैसे मकड़ी जाला तानती है, तो उस जालेका उपादान कारण भी मकड़ी है और निमित्तकारण भी मकड़ी ही है, उसी प्रकार परमात्मा जगत्के उपादान और निमित्तकारण दोनों हैं और वे उससे अभिन्न हैं।

एकमात्र परमात्मा है। जो इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला तथा पाप-पुण्यके अनुसार फलदाता और सबको नियममें रखकर यथायोग्य संचालन करनेवाला है, वही ईश्वर है। संसारमें बड़े-बड़े यन्त्र और कारखाने हैं; किंतु बिना किसी बुद्धिमान् चेतन संचालकके उनका चलना सम्भव नहीं, बल्कि बिना उसके वे नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

आपकी दृष्टिमें जो कुछ देखने-सुननेमें आता है, वह सब जिससे संचालित है, वह ईश्वर है। वह है चेतन; क्योंकि जो जड प्रकृति (नेचर) है, उसमें ज्ञान न होनेके कारण वह न तो सबको यथायोग्य स्थानमें स्थापित ही कर सकती है और न उसका संचालन ही कर सकती है; किंतु इस संसारके पीछे जो शक्ति है, उसका कार्य देखनेसे मालूम होता है कि वह बहुत विलक्षण अतिशय ज्ञानमयी शक्ति है। जिससे समस्त संसारका संचालन नियमानुसार हो रहा है, उसकी इस विलक्षण कुशलताको तो देखिये। ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्राणी होते हैं, जो सूक्ष्मतासे देखनेसे कागजोंपर भी कभी-कभी लक्ष्यमें आते हैं। वे सफेद, लाल आदि अनेक रंगोंके होते हैं और पोस्ताके दानेकी अपेक्षा भी सूक्ष्म होते हैं। उन्हें कोई 'पोस्तिया जानवर' भी कहते हैं। उनके इतने सूक्ष्म शरीरमें भी सब यन्त्र होते हैं। चलनेके लिये पैर और उड़नेके लिये पाँखें तो रहती ही हैं; मन, बुद्धि भी होती हैं। इनके अलावा शरीरके भीतरके बहुत-से यन्त्र भी उसी जन्तुके अंदर होते हैं। उनमें सूक्ष्म जीव होते हैं, जो देखनेमें भी नहीं आते। अब विचारिये, उसका निर्माता कितना बुद्धिकुशल होना चाहिये। यह काम जड प्रकृतिसे सम्भव नहीं।

मनुष्योंकी प्रकृति, बुद्धि, इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न होनेसे उनके आचरण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसे उन विभिन्न मनुष्योंके पुण्य-पापरूप आचरणोंके अनुसार यथायोग्य सुख-दुःखादिका भुगताना भी जड प्रकृतिका काम नहीं हो सकता। अतः उसका फलदाता भी कोई बुद्धिका महान् सागर चेतन ही होना चाहिये और वह है एकमात्र परमात्मा।

देखिये, संसारमें ऐसा कोई भी यन्त्र देखनेमें नहीं आता जिसका काम बिना सँभालके चल सके। उदाहरणार्थ कपड़ेकी या गंजीकी कल है; यदि उसका

संचालक कोई चेतन पुरुष नहीं होगा तो न कपड़ा ही तैयार होगा और न गंजी ही; क्योंकि तार टूटनेपर संचालकके बिना उसे कौन जोड़ेगा। बल्कि यन्त्र ही नष्ट हो जायगा। बड़े-से-बड़ा यन्त्र रेलगाड़ी है। उसके इंजन, पटरी आदिकी सार-सँभाल-मरम्मत आदि नहीं होगी तो उसका चलना सम्भव नहीं। किसी बुद्धिशाली चेतन संचालक, संयोजकके बिना एक दिन भी काम नहीं चलेगा और सब नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। इसी प्रकार यह सारा जगचक्र चल रहा है। यदि इसका निर्माता, संयोजक, संचालक तथा सँभाल-मरम्मत करनेवाला कोई बुद्धिशाली चेतन न हो तो इसकी भी वही दशा होगी।

हम, आप, कोई प्राणी अपनी सत्तामें संदेह नहीं करते। हम हैं, साथ ही हम चेतन हैं; किंतु ज्ञानके लिये इच्छुक भी हैं। हमको और अधिक ज्ञान मिले, इस प्रयत्नमें रहते हैं; सभी ज्ञानके साथ सुख चाहते हैं और किसी-न-किसीको अपनेसे अधिक सुखी मानते हैं। इस प्रकार सत्ता, ज्ञान और सुख—सत्, चित्, आनन्दको हम मानते तो हैं और यह भी देखते हैं कि जीवोंमें ज्ञान और आनन्द कहीं पूर्ण नहीं, सब उसको पानेके ही प्रयत्नमें हैं। जिसे सभी विद्वान् पाना चाहते हैं, वह नहीं है—ऐसा सम्भव नहीं। अतः जहाँ सत्ता, ज्ञान और आनन्द तीनों पूर्णरूपसे हैं, वही तो सच्चिदानन्द ईश्वर है। जडमें तो केवल सत्ता ही प्रत्यक्ष प्रतीत होती है, चेतनता और आनन्द नहीं और सबसे छोटे प्राणी जो दूरबीनसे भी कठिनतासे दीखते हैं, उनमें भी सत्ताके साथ ज्ञान रहता है। वे अपने आहारको पहचानते हैं, वे भी सुख चाहते हैं; क्योंकि शत्रुसे डरकर भागते उन्हें भी देखा गया है। यह चेतना, ज्ञान और सुखकी इच्छा जब जडमें नहीं है, तब कहीं माननी पड़ेगी। जहाँ वह है, वहीं परमात्मा है। वह चेतन ही इस जडका संचालक है। वही सर्वेश्वर है।

इससे यही निर्णय हुआ कि इसका उत्पादक, निर्माता, संचालक, संयोजक, रक्षक—जो कोई है, वही चेतन परमात्मा है। यह हिंदुओंकी अनुभवयुक्त मान्यता सदासे चली आ रही है—इसीको 'हिंदू-संस्कृति' कहते हैं।

अवतारवाद

भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं, यह विश्वास

हिंदू-जातियोंमें प्रायः सदासे ही चला आ रहा है। यह युक्तियुक्त और उचित ही है। निर्गुण-निराकाररूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सगुण-साकाररूपमें प्रकट होते हैं, जैसे आकाशमें परमाणुरूपसे स्थित जल ही बादलके रूपमें आकर फिर जल और बर्फके रूपमें प्रकट होकर बरसने लगता है। सर्गके आदिमें सारे पदार्थ भी निराकारसे साकार बनते हैं—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

(गीता ८। १८)

उस निराकाररूप ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे ही सारी स्थूल व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्वयं ही निराकार-रूपसे साकार-रूपको धारण करता है। इसीका नाम अवतार लेना है।

तुलसीकृत रामायणमें अवतारवाद स्थान-स्थानपर भरा हुआ है। यहाँ संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

बालकाण्डमें श्रीशिवजी पार्वतीसे कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु ॥

वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि जब देवता और ऋषियोंने रावणके उपद्रवोंसे दुःखित हो ब्रह्माजीसे प्रार्थना की, तब ब्रह्माजी उन्हें सान्त्वना देने लगे। उसी समय भगवान् श्रीविष्णुके प्रकट होनेका वर्णन इस प्रकार आया है—

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः ।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः ॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा ।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः ॥

(वा॰ रा॰, बा॰ १५। १६-१७)

'उसी समय महान् तेजस्वी जगत्पति भगवान् विष्णु मेघपर आरूढ़ हुए-से सूर्यके समान गरुड़पर सवार हो वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीरपर पीताम्बर, हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध एवं भुजाओंमें चमकीले स्वर्णके बाजूबंद शोभा पा रहे थे। सभी श्रेष्ठ देवताओंने उनको प्रणाम किया।'

भगवान्ने देवताओंकी प्रार्थनापर दशरथजीके घरमें मनुष्य-रूपसे अवतार लेना स्वीकार कर लिया—

हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम्।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च॥
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम्।

(वा॰ रा॰, बाल॰ १५। २९-३०)

'देवता और ऋषियोंको भय देनेवाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षसका नाश करके मैं ग्यारह सहस्र वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन करता हुआ मनुष्यलोकमें निवास करूँगा।'

अध्यात्मरामायणमें कथा आती है—जब विश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मणको यज्ञरक्षार्थ ले जानेके लिये आये, उस समय दशरथजीके द्वारा सलाहके रूपमें पूछे जानेपर वसिष्ठजीने कहा—

शृणु राजन् देवगुह्यं गोपनीयं प्रयत्नतः।
रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः॥
भूमेर्भारावताराय ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा।
स एव जातो भवने कौसल्यायां तवानघ॥

(अध्यात्म॰, बाल॰ ४। १२-१३)

'राजन्! यह देवताओंकी गुह्य लीला सुनो, इसे किसी प्रकार प्रकट न होने देना चाहिये। ये राम मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् सनातन परमात्मा ही (अपनी मायासे) इस रूपमें प्रकट हुए हैं। अनघ! पूर्वकालमें पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर उसे पूर्ण करनेके लिये उन परमेश्वरने ही तुम्हारे यहाँ कौसल्याके गर्भसे जन्म लिया है।'

चित्रकूटमें माता कैकेयीने श्रीरामसे क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहा है—

त्वं साक्षाद् विष्णुरव्यक्तः परमात्मा सनातनः।
मायामानुषरूपेण मोहयस्यखिलं जगत्॥
(अध्यात्म० अयोध्या० ९।५७)

'आप साक्षात् विष्णु भगवान्, अव्यक्त परमात्मा और सनातन पुरुष हैं। अपने लीलामय मनुष्यरूपसे आप समस्त संसारको मोहित कर रहे हैं।'

रावणवधके अनन्तर ब्रह्मादि देवताओंसे बातचीत करते हुए श्रीरामने कहा कि 'मैं तो अपनेको दशरथपुत्र राम ही समझता हूँ। वास्तवमें मैं जो हूँ, जैसा हूँ आप ही बतलाइये।' इसपर ब्रह्माजी श्रीरामका महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—

भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
....
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः॥
....
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्॥
(वा० रा०, युद्ध० ११७।१३, २७, २८)

'आप साक्षात् चक्रपाणि लक्ष्मीपति प्रभु श्रीनारायणदेव हैं। सीता साक्षात् लक्ष्मी हैं और आप भगवान् विष्णु, कृष्ण* एवं प्रजापति हैं। आपने रावणवधके लिये ही इस मनुष्यलोकमें मानवशरीर धारण किया है।

भगवान्के परमधाम पधारनेके प्रकरणसे यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि श्रीराम साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर थे। उस समय ब्रह्माजीके कथनानुसार भगवान्ने अपने भाइयोंके साथ इस मानवविग्रहसे ही उस वैष्णवतेजमें प्रवेश किया—

विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः।
(वा० रा०, उत्तर० ११०।१२)

---

* यहाँ 'कृष्ण' नाम आया है, इससे सिद्ध होता है कि परमात्माका यह नाम अनादिकालसे प्रसिद्ध है; कृष्ण-अवतार लेनेके कारणसे नहीं।

इसी प्रकार गीता[1], भागवत[2] आदि ग्रन्थोंमें भी अवतारवादका उल्लेख स्थान-स्थानपर मिलता है। इसके संस्कार प्रायः हिंदुओंके हृदयमें स्वाभाविक ही अङ्कित हैं। यह है हिंदू-संस्कृति !

परलोकवाद

बहुत-से आदमी यह शङ्का करते हैं कि 'मरनेके बाद आत्मा रहता है या नहीं, किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको परलोकमें मिलता है या नहीं, मृत व्यक्तिके लिये दिया हुआ पदार्थ उसे मिलता है या नहीं और जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ पदार्थ किसको मिलता है ?' इन प्रश्नोंका समाधान यह है कि

१-गीतामें कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(४।६-८)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

२- भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण माता देवकीसे कहते हैं—

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्। अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः॥
तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्। उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः॥
तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम्। जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति॥
(१०।३।४१-४३)

'संसारमें शील, उदारता आदि सद्गुणोंमें अपने सदृश दूसरेको न देखकर मैं स्वयं ही आप दोनोंका पुत्र होकर पहले 'पृश्निगर्भ' के नामसे विख्यात हुआ था। उसके बाद जब आप दोनों कश्यप और अदितिके रूपमें प्रकट हुए, तब मैं उत्पन्न होकर 'उपेन्द्र' के नामसे विख्यात हुआ; उस समय मेरा शरीर छोटा होनेके कारण मेरा दूसरा नाम 'वामन' हुआ था। इस तीसरे अवतारमें अब मैं ही उसी शरीरसे आप दोनोंके यहाँ पुनः उत्पन्न हुआ हूँ। हे सती ! मैंने यह आपसे सत्य कहा है ।'

मरनेपर आत्मा अवश्य रहता है तथा किये हुए कर्मोंका फल कर्ताको अवश्यमे मिलता है। वह इस लोकमें भी मिल जाता है और शेष बचा हुआ परलोकमें मिलता है। मृत व्यक्तिके लिये जो कुछ दिया जाता है, वह सब उसे प्राप्त होता है; किंतु जो मृत व्यक्ति मुक्त हो गया है, उसके प्रति दिया हुआ कर्ताके संचित कर्मरूप कोषमें जमा होता है।

(क) कठोपनिषद्में यमराजके प्रति नचिकेताने भी यही प्रश्न किया था कि मरनेपर आत्मा रहता है या नहीं? यमराजने यही उत्तर दिया कि अवश्य रहता है। यमराज कहते हैं—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठ० १।२।६)

'जो धनके मोहसे मोहित हो रहा है ऐसे प्रमादी मूढ़, अविवेकी पुरुषको परलोकमें श्रद्धा नहीं होती। यह लोक ही है, परलोक नहीं है—इस प्रकार माननेवाला वह मूढ़ मुझ मृत्युके वशमें बार-बार पड़ता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(कठ० १।२।१८)

'नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है। यह न तो स्वयं किसीसे हुआ है, न इससे कोई भी हुआ है। अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा एकरस रहनेवाला और पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
(२।१२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

वाल्मीकीय रामायणमें युद्धके बाद दशरथजीका आना तथा श्रीराम और लक्ष्मण आदिसे वार्तालाप करना परलोकका जीता-जागता प्रमाण है, इसके लिये वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड, १२१वाँ सर्ग देखिये।

अन्यान्य शास्त्रोंमें भी जगह-जगह इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। हिंदू-जातिके हृदयमें यह संस्कार स्वाभाविक ही अङ्कित है। यह युक्तिसंगत भी है। जब मनुष्य जन्मता है, तब उसके जाति, आयु, भोग और स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं तथा मनुष्यका जन्मते ही रोना, हँसना, कम्पित होना, सोना, माताके स्तनोंसे स्वयं ही दूधको आकर्षित करना आदि उसके पूर्वजन्मके अभ्यासके द्योतक होनेसे पूर्वजन्मको सिद्ध करते हैं। इसलिये आत्मा नित्य है। शरीरके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता।

गीतामें भी कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) श्रीरामचरितमानसमें दशरथजीने कहा है—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फलु हृदयँ बिचारी॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सबु कोई॥

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः॥

शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत् पापमश्नुते ।

(युद्ध । १११ । २५-२६)

'स्वामिन्! इसमें संदेह नहीं कि समय आनेपर कर्ताको उसके पाप-कर्मका फल अवश्य ही मिलता है। शुभ कर्म करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और पापीको पापका फल दुःख भोगना पड़ता है।'

मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है—यह बात गीता आदि शास्त्रोंमें भलीभाँति बतलायी गयी है। * यह युक्तियुक्त भी है। मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं। फिर उनके अनुसार ही उसके अन्तःकरणकी वृत्ति बनती है। वृत्तिके अनुसार ही अन्तकालमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार ही भावी जन्म होता है। इन कर्मोंके भेदके कारण ही मनुष्यके जाति, आयु, भोग और स्वभावकी भिन्नता होती है। अर्थात् सब प्राणियोंमें जो बुद्धि, स्वभाव और भोगकी भिन्नता देखी जाती है, इसका मूल कारण कर्म ही है।

---

* गीता कहती है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(१३ । २१)

'प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥

(१४ । १६)

'श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है। राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है।'

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥

(१८ । १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

अतः कर्मफल प्राप्त होनेकी बात बिलकुल युक्तिसंगत है और प्रत्यक्ष देखनेमें भी आती है।

(ग) श्राद्ध-तर्पणका उल्लेख रामायणमें स्थान-स्थानपर आया है। श्रीरामचरितमानसमें महाराज दशरथकी मृत्यु होनेपर भरतके द्वारा उनकी यथोचित ऊर्ध्वक्रिया करनेका उल्लेख मिलता है। यथा—

नृप तनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥
चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥
जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा॥
भए बिसुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥

श्रीरामचन्द्रजी महाराजने भी पिताकी मृत्युका संवाद सुनते ही मन्दाकिनी-तीरपर जाकर तर्पण किया एवं स्वयं जैसा भोजन किया करते थे, उसीके पिण्ड बनाकर दशरथजीके निमित्त दिये—

ततो मन्दाकिनीं गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः॥
राज्ञे ददुर्जलं तत्र सर्वे ते जलकांक्षिणे।
पिण्डान् निर्वापयामास रामो लक्ष्मणसंयुतः॥
इङ्गुदीफलपिण्याकरचितान् मधुसम्प्लुतान्।
वयं यदन्नाः पितरस्तदन्नाः स्मृतिनोदिताः॥

(अध्यात्म० अयोध्या० ९। १७—१९)

'फिर सब लोग मन्दाकिनीपर जाकर स्नान करके पवित्र हुए। वहाँ उन सबने जलाकांक्षी महाराज दशरथको जलाञ्जलि दी तथा लक्ष्मणजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीने पिण्ड दिये। जो हमारा अन्न है, वही हमारे पितरोंको प्रिय होगा—यही स्मृतिकी आज्ञा है, यों कह उन्होंने इंगुदी-फलकी पीठीके पिण्ड बना उनपर मधु डालकर उन्हें प्रदान किया।'

वाल्मीकीय रामायणमें भी इसी भावके द्योतक श्लोक मिलते हैं।

रामायणके सिवा श्राद्धका प्रकरण गीता[१], मनुस्मृति[२] आदि सभी शास्त्रोंमें पाया जाता है।

यह बात युक्तिसंगत भी है। जो आदमी जिस व्यक्तिके नामसे बैंकमें रुपये जमा करता है, उसी व्यक्तिके नाम रुपये जमा हो जाते हैं और जिसके नामसे जमा होते हैं, उसीको मिलते हैं, दूसरेको नहीं। उन रुपयोंके बदलेमें उसे जो आवश्यकता होती है, वही चीज उतनी कीमतकी मिल जाती है। इसी प्रकार पितरोंके नामसे किया हुआ पिण्ड, तर्पण, ब्राह्मणभोजन आदि कर्मका जितना मूल्य आँका जाता है, उतना ही फल उस प्राणीको वह जिस योनिमें होता है वहीं आवश्यकतानुसार प्राप्त हो जाता है अर्थात् यदि वह प्राणी गाय है तो उसे चारेके रूपमें, देवता है तो अमृतके रूपमें, मनुष्य है तो अन्नके रूपमें और बंदर आदि है तो फल आदिके रूपमें उतने ही मूल्यकी वस्तु मिल जाती है।

यदि कहें कि जीवित व्यक्तिके लिये भी यदि कोई यज्ञ, दान, अनुष्ठान, व्रत, उपवास आदि कर्म करता है तो क्या वह उसे भी मिलता है,

---

१. गीतामें कहा है—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
(१।४२)

'वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं।'

२. मनुजी कहते हैं—

यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥
(३।२७५)

'मनुष्य श्रद्धावान् होकर जो-जो पदार्थ अच्छी तरह विधिपूर्वक पितरोंको देता है, वह-वह परलोकमें पितरोंको अनन्त और अक्षयरूपमें प्राप्त होता है।'

तो इसका उत्तर यह है कि अवश्य उसे मिलता है। नहीं तो, फिर यजमानके लिये जो ब्राह्मण यज्ञ, तप, अनुष्ठान, पूजा, पाठ आदि करता है, वह किसको मिलेगा ? न्यायतः वह यजमानको ही मिलेगा, कर्म करनेवाले ब्राह्मण को नहीं।

यदि कोई प्राणी मुक्त हो गया है तो उसके निमित्त किया हुआ कर्म कर्ताको ही मिलता है। जैसे किसी आदमीको रजिस्ट्री चिट्ठी या बीमा भेजी जाती है और जिसको भेजी जाय, वह आदमी मर गया हो तो फिर वह लौटकर भेजनेवालेको ही वापस मिल जाती है, उसी प्रकार इस विषयमें भी समझना चाहिये।

ये सब संस्कार हिंदुओंके रग-रगमें भरे हुए हैं। इन्हींको लेकर प्रायः सभी हिंदू सदासे श्राद्ध-तर्पण आदि करते आ रहे हैं। यह है हिंदू-संस्कृति !

ईश्वरोपासना

हिंदू-संस्कृतिमें ईश्वरोपासना सदासे ही प्रधानरूपसे चली आ रही है। यों ईश्वरको तो अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार ईसाई और मुसलमान आदि सभी मानते हैं। कोई ईश्वरके साकार रूपकी, कोई निराकारकी और कोई दोनोंकी उपासना करते हैं। यह भेद उचित ही है। हिंदुओंके हृदयमें तो ईश्वरोपासनाके भाव सदासे ही अङ्कित हैं। थोड़ी-सी विपत्ति पड़नेपर भी वे संकट-निवारणार्थ ईश्वरको ही पुकारते हैं और उन्हींका आश्रय ग्रहण करते हैं।

ईश्वरकी उपासनाका विषय श्रुति[1]-स्मृतियोंमें तो आया ही है,

१- श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

(कठ० १।२।१६, १७)

'यह अक्षर (ओंकार) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इसी

अक्षरको जानकर मनुष्य जो कुछ चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही अत्युत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है, इस आलम्बनको भली-भाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥
(श्वेताश्वतर० १।१०-११)

प्रकृति तो विनाशशील है, उसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है, इन विनाशशील जड तत्त्व और अविनाशी चेतन आत्मा-दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है। इस प्रकार जानकर उस परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें साधक उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है। तथा उस परमदेव परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे उस प्रकाशमय परमात्माको जान लेनेपर समस्त बन्धनोंका नाश हो जाता है; क्योंकि क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः वह शरीरका नाश होनेपर तीसरे लोक (स्वर्ग) तकके समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके सर्वथा विशुद्ध एवं पूर्णकाम हो जाता है।

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥
(मुण्डक० ३।२।१)

'वह निष्कामभाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध प्रकाशमान ब्रह्मधामरूप परमेश्वरको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत है, जो भी कोई निष्काम साधक परमपुरुष परमेश्वरकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्को अतिक्रमण कर जाते हैं।'

मनुजी कहते हैं—

अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥
विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

और भी सभी शास्त्रोंमें[१] इसका उल्लेख अनेक जगह मिलता है। पूर्वकालमें जितने ऋषि, मुनि, साधु, महात्मा और उच्चकोटिके पुरुष हुए हैं, उन्होंने हमारे सामने ईश्वरभक्तिका अत्युत्तम उदाहरण और आदर्श रक्खा है, जो कि हमारे लिये अनुकरणीय है।

इतिहास—पुराणोंमें[२] तो यह विषय कूट-कूटकर भरा है। महर्षि

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(मनु० २। ८४-८६)

'अविनाशी तो उस अक्षर-ओंकारको जानना चाहिये, जो परब्रह्म तथा प्रजापतिका स्वरूप है। तथा (दर्शपौर्णमासादि) विधियज्ञसे जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप (जिसे दूसरे न सुन सकें, ऐसा होठोंसे किया जानेवाला जप) सौगुना श्रेष्ठ और मानसिक जप तो हजारगुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दर्शपौर्णमास) सहित जो चार पाकयज्ञ (बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, नित्यश्राद्ध और अतिथिपूजन) हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके भी समान नहीं है।'

१- महर्षि पतञ्जलिजीने बतलाया है—,

ईश्वरप्रणिधानाद् वा। (योग० १। २३)

'ईश्वरकी भक्तिसे भी मन समाधिस्थ हो जाता है।'

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १। २७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १। २८)

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (योग० १। २९)

'उपर्युक्त साधनासे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

२- महाभारतमें बतलाया है—

तमेव चार्चयन् नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
ध्यायन् स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन् नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥

(अनुशासन० १४९। ५-६)

वेदव्यासजीने स्त्री और शूद्रोंका वेदोंमें अधिकार न होनेके कारण उनके लिये ही इतिहास-पुराणोंकी रचना की। अतः पुराणोंमें ऐसा कोई भी पुराण नहीं, जिसमें ईश्वरोपासनाका विषय न हो।

पुराणोंमें श्रीमद्भागवत[1] तो भक्तिप्रधान ग्रन्थ है ही, किंतु

'जो मनुष्य उस अविनाशी परम पुरुषका सदा भक्तिपूर्वक पूजन और ध्यान करता है तथा उसीका स्तवन और नमस्कारपूर्वक उसीकी उपासना करता है, वह साधक उस अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वलोक-महेश्वर, अखिलाधिपति परमात्माकी नित्य स्तुति करता हुआ सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है।' एवं—

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम्॥
(अनुशासन० १४९।१४२)

'जो जगत्की उत्पत्ति और विनाश करनेवाले तथा समस्त संसारके एकमात्र अधीश्वर उस अजन्मा कमललोचन परमदेवका निरन्तर भजन करते हैं, वे पराभवको नहीं प्राप्त होते।'

विष्णुपुराणमें ऋषि पुलस्त्यने कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथापरम्।
तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्॥
(१।११।४६)

'जो पर-निर्गुण और अपर—सगुण ब्रह्म है, वही परमधाम है; ऐसे उस हरिकी आराधना करके मनुष्य अति दुर्लभ मोक्षपदको भी प्राप्त कर लेता है।'

तथा महात्मा और्वने भी बतलाया है—

भौमं मनोरथं स्वर्गं स्वर्गि रम्यं च यत् पदम्।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्॥
(३।८।६)

'भगवान् विष्णुकी आराधना करनेपर मनुष्य भूमण्डलसम्बन्धी समस्त मनोरथ, स्वर्ग, स्वर्गसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मपद और परम निर्वाणपद भी प्राप्त कर लेता है।'

१-भागवतकार कहते हैं—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(२।३।१०)

'किसी भी उदारबुद्धिवाले मनुष्यको—चाहे वह किसी भी प्रकारकी कामनावाला

गीतामें[१] भी उपासनाका विषय विशदरूपसे कहा गया है, यहाँतक कि

हो, चाहे निष्काम हो और चाहे मोक्षकी कामनावाला हो—तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष परमेश्वरका आदरपूर्वक भजन-स्मरण करना चाहिये।' तथा—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥

(३।३२।२३)

'भगवान् वासुदेवमें भक्ति करके किया हुआ साधन शीघ्र ही वैराग्यको और उस ज्ञानको उत्पन्न कर देता है, जो परब्रह्मका साक्षात्कार करानेवाला है।' एवं—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(६।२।१८)

'उत्तम कीर्तिवाले भगवान् वासुदेवके नामका कीर्तन—चाहे वह ज्ञानपूर्वक किया गया हो और चाहे अनजानमें किया गया हो—मनुष्यके पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे कि अग्नि ईंधनको।'

१- गीता कहती है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

(८।२२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है।'

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(१२।३-४)

'तथा जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाला, नित्य अचल, निराकार, अविनाशी

प्रायः सभी अध्यायोंमें इसका उल्लेख मिलता है।* एवं रामायणोंमें अध्यात्मरामायण और तुलसीकृत रामचरितमानस तो उपासना-प्रधान ग्रन्थ हैं ही; वाल्मीकीय रामायणमें भी उपासनाका अनेक स्थलोंपर वर्णन है। श्रीतुलसीदासजीने तो भक्तिका ऐसा प्रवाह बहा दिया कि उसे पढ़नेपर मनुष्यका हृदय भक्ति-भावोंसे सराबोर हो जाता है।

नाम-वन्दना करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥

भगवान्ने स्वयं कहा है—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

तथा और भी अनेक स्थलोंपर उपासनाका महत्त्व और प्रभाव वर्णित है। यथा—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको प्राप्त होते हैं।'

* देखिये गीता अ० २।६१; ३।३०; ४।११; ५।२९; ६।४७; ७।१४; ८।८; ९।३४; १०।१०; ११।५४; १२।८ १३।१०; १४।२६; १५।१९; १६।१; १७।२३; १८।६६ इत्यादि।

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥ *

अध्यात्मरामायणमें सुतीक्ष्ण ऋषिसे भगवान् कहते हैं—

मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः॥
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम्।

(अरण्य० २। ३६-३७)

'इस लोकमें जो मेरे मन्त्रके उपासक हैं, जो मेरे ही शरणागत हैं, जो किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखते और जिन्हें मेरे सिवा कोई अन्य गति नहीं, ऐसे भक्तोंको मैं नित्य दर्शन देता हूँ।'

पञ्चवटीमें लक्ष्मणके पूछनेपर भगवान्ने अति गोपनीय ज्ञान-विज्ञानका वर्णन करते हुए अन्तमें कहा है—

अतो मद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च।
वैराग्यं च भवेच्छीघ्रं ततो मुक्तिमवाप्नुयात्॥

(अरण्य० ४। ५१)

'इसलिये मेरी भक्तिसे युक्त पुरुषको शीघ्र ही ज्ञान और विज्ञान तथा वैराग्य भी प्राप्त हो जाता है, जिससे वह मुक्तिको पा लेता है।'

भगवान्ने शबरीके प्रति कहा है—

भक्तौ संजातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि॥

(अरण्य० १०। २९)

---

*काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं—'मैं आपसे भलीभाँति निश्चित किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ—मेरे वचन अन्यथा (मिथ्या) नहीं हैं—कि जो मनुष्य

'भक्तिके उत्पन्न होनेमात्रसे ही तत्काल मेरे स्वरूपका अनुभव हो जाता है और जिसे मेरा अनुभव हो जाता है, उसकी उसी जन्ममें निःसंदेह मुक्ति हो जाती है।'

श्रीहनुमान्‌जीने रावणके प्रति कहा है—

विष्णोर्हि भक्तिः सुविशोधनं धिय-
स्ततो भवेज्ज्ञानमतीव निर्मलम्।
विशुद्धतत्त्वानुभवो भवेत् ततः
सम्यग्विदित्वा परमं पदं व्रजेत्॥
अतो भजस्वाद्य हरिं रमापतिं
रामं पुराणं प्रकृतेः परं विभुम्।
विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां
भजस्व रामं शरणागतप्रियम्॥

(अध्यात्म सुन्दर० ४।२२-२३)

'भगवान् विष्णुकी भक्ति बुद्धिको अत्यन्त शुद्ध करनेवाली है, उसीसे अत्यन्त निर्मल आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञानसे विशुद्ध आत्मतत्त्वका अनुभव होता है और इस प्रकार सम्यक् ज्ञान हो जानेसे मनुष्य परमपद प्राप्त करता है। इसलिये तुम प्रकृतिसे परे, पुराणपुरुष, सर्वव्यापक आदिनारायण, लक्ष्मीपति श्रीरामका भजन करो। अपने हृदयमें स्थित शत्रुभावरूप मूर्खताको छोड़ दो और शरणागतवत्सल श्रीरामका भजन करो।

वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणके अपनी शरणमें आनेपर जो वचन कहे हैं, वे सदा ध्यानमें रखने योग्य हैं। वे कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा०, युद्ध० १८।३३)

'मेरा यह व्रत है कि जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा

श्रीहरिका भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरको सहज ही पार कर जाते हैं।'

हूँ' यों कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ।'

तथा रावण-वधके अनन्तर ब्रह्माजीने भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा—

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्।
प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च॥

(वा॰ रा॰, युद्ध॰ ११७। ३१)

'जो सदा प्रकाशमान पुराणपुरुषोत्तमस्वरूप आपकी भक्ति करनेवाले हैं, वे इस लोक और परलोकमें अपने सभी मनोरथ प्राप्त कर लेते हैं तथा आपको भी पा जाते हैं।'

श्रीरामचन्द्रजी तथा श्रीभरतजीका चरित्र तो कहींसे भी देखा जाय, उसमें भक्तिरस टपकने लगता है। उनके यावन्मात्र चरित्र श्रद्धा-भक्तिसे ओत-प्रोत हैं। उनकी तो बात ही क्या, उनके भाई श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्न तथा परम भक्त सुतीक्ष्ण और हनुमान् आदिके चरित्र भी श्रद्धा-भक्तिसे भरे हुए हैं। उन चरित्रोंको पढ़कर किसका हृदय द्रवीभूत नहीं होगा? भक्त निषादराज गुह, केवट, शबरी-भीलनी आदि भी ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे परमपदको प्राप्त हो गये। इसलिये तन-मनसे तत्पर होकर भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये।

पूर्वकालमें ऋषिलोग संध्या-गायत्री, अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, पूजापाठ आदि ईश्वरोपासनाके आह्निक कृत्य करके ही दूसरे काममें प्रवृत्त होते थे। त्रेतायुगमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने भी स्वयं संध्योपासनादि नित्यकर्म करके इसका आदर्श उपस्थित किया। द्वापरयुगमें तो महाभारत-युद्धके समय भी लोग युद्ध छोड़कर संध्योपासन आदि किया करते थे, ऐसा उल्लेख मिलता है।* किंतु दुःखकी बात है कि इस समय, ब्राह्मण

---

* महाभारतमें आया है—

ततो रथांश्चं मनुष्ययानान्युत्सृज्य सर्वे कुरुपाण्डुयोधाः।
दिवाकरस्याभिमुखं जपन्तः संध्यागताः प्राञ्जलयो बभूवुः॥

(द्रोण॰ १८६। ४)

क्षत्रिय, वैश्योंमें नित्य अग्निहोत्रका तो किसी-किसी जगह ही दर्शन होता है। संध्या-गायत्री, वेदाध्ययन भी ब्राह्मणजातिमें तो कुछ देखनेमें आता है; परन्तु प्राचीन कालमें तो संध्योपासनरहित ब्राह्मण जातिबहिष्कृत कर दिया जाता था। यह थी हिंदू-संस्कृति ! आज वे भाव लुप्तप्राय हो गये। अतएव हमें यथाधिकार नित्य संध्या, गायत्री, अग्निहोत्र, स्वाध्याय, पूजापाठ, भजन-ध्यान आदि ईश्वरोपासना करनेमें मनको लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। उपासनाके लिये प्रातःकाल और सायंकाल बहुत ही उत्तम और विशेष उपयोगी हैं। ये समय स्वाभाविक ही सूर्य तापसे रहित होनेके कारण मनके लिये रमणीय और शान्तिमय होते हैं। शयन और स्नानके अनन्तर तथा भोजनसे पूर्व वृत्तियाँ शान्त रहती हैं, विक्षेप और आलस्य भी नहीं आते; अतः उस समय चित्त अनायास ही परमात्मामें लग सकता है। फिर श्रद्धा-भक्ति और विवेक-वैराग्यपूर्वक कोशिश करनेपर परमेश्वरकी उपासनामें चित्त स्थिर हो जाय, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है !

अर्वाचीन कालमें श्रीतुलसीदासजी, कबीरदासजी, सूरदासजी, श्रीगौराङ्गमहाप्रभुजी, परमहंस रामकृष्णजी आदि अनेक संत हो गये हैं। उन्होंने तो स्वयं ईश्वरोपासनाका बहुत ही सुन्दर आदर्श स्थापित करके विशदरूपसे उसका प्रचार किया है।

आधुनिक कालमें महात्मा गांधीजी ईश्वरोपासनाके महान् समर्थक थे। वे कहते थे कि मेरे तो राम-नामका आधार है और उससे सारे कार्य सिद्ध होते हैं; संसारमें ऐसा कोई काम नहीं, जो राम-नामसे सिद्ध न हो सके। नामकी महिमा और प्रार्थनाके विषयमें उनके बहुत-से लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

कुछ उद्धरण नीचे लिखे जा रहे हैं—

'जिसके चित्तमें तरंग उठते ही रहते हैं, वह सत्यके दर्शन कैसे कर सकता है ? चित्तमें तरंग उठना समुद्रके तूफान-जैसा है। तूफानमें जो सुकानी

(चौदहवें दिनके पश्चात् रात्रियुद्ध करते हुए जब अरुणोदय हुआ तो) उस समय कौरव और पाण्डव—दोनों सेनाओंके सभी योद्धा अपनी-अपनी सवारियों—रथ, घोड़े और पालकियोंको छोड़कर संध्या-वन्दनके लिये उतर पड़े और सूर्यके सम्मुख जप करते हुए हाथ जोड़े खड़े हो गये।

सुकानपर काबू रख सकता है, वह सलामत रहता है। ऐसे ही चित्तकी अशान्तिमें जो राम-नामका आश्रय लेता है, वह जीत जाता है।'

—(३० । ११ । ४४)

'विकारी विचारसे बचनेका एक अमोघ उपाय राम-नाम है। नाम कण्ठसे ही नहीं, किंतु हृदयसे निकलना चाहिये।'

—(२८ । १२ । ४४)

'व्याधि अनेक हैं, वैद्य अनेक हैं, उपचार भी अनेक हैं। अगर व्याधिको एक ही देखें और उसका मिटानेहारा वैद्य एक राम ही है, ऐसा समझें तो बहुत-सी झंझटोंसे हम बच जायँ।'

—(२९ । १२ । ४४)

'आश्चर्य है ! वैद्य मरते हैं। डाक्टर मरते हैं। उनके पीछे हम भटकते हैं। लेकिन राम जो मरता नहीं है, हमेशा जिन्दा रहता है और अचूक वैद्य है, उसे हम भूल जाते हैं।'

—(३० । १२ । ४४)

'मनुष्य जानता है कि जब वह मरनेके नजदीक पहुँचता है, सिवा ईश्वरके कोई सहारा नहीं है, तो भी राम-नाम लेते हिचकिचाहट होती है। ऐसा क्यों ?'

—(१२ । ३ । ४५)

(उपर्युक्त सभी उद्धरण 'बापूके आशीर्वाद (रोजके विचार)' से उद्धृत किये गये हैं।) महात्माजीके इस सम्बन्धमें और भी उद्गार पढ़िये—

'नामकी महिमाके बारेमें तुलसीदासने कुछ भी कहनेको बाकी नहीं रखा है। द्वादशाक्षर-मन्त्र, अष्टाक्षर इत्यादि सब इस मोह-जालमें फँसे हुए मनुष्यके लिये शान्तिप्रद हैं—इसमें कुछ भी शंका नहीं है। जिससे जिसको शान्ति मिले, उस मन्त्रपर वह निर्भर रहे। परन्तु जिसको शान्तिका अनुभव ही नहीं है और जो शान्तिकी खोजमें है, उसको तो अवश्य रामनाम पारसमणि बन सकता है। ईश्वरके सहस्रनाम कहे हैं—उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं, गुण अनन्त हैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। परन्तु देहधारीके लिये नामका सहारा अत्यावश्यक है

और इस युगमें मूढ़ और निरक्षर भी राम-नामरूपी एकाक्षर मन्त्रका सहारा ले सकता है। वस्तुतः 'राम' उच्चारणमें एकाक्षर ही है और ॐकार और राममें कोई फरक नहीं है। परन्तु नाम-महिमा बुद्धिवादसे सिद्ध नहीं हो सकती, श्रद्धासे अनुभवसाध्य है।'

('कल्याण'—भगवन्नामाङ्क)

'जो शक्ति राम-नाममें मानी गयी है, उसके बारेमें मुझे कोई शक नहीं है। हर-एक आदमी इच्छामात्रसे ही राम-नामको अपने हृदयमें अङ्कित नहीं कर सकेगा। उसमें परिश्रमकी आवश्यकता है, धीरजकी भी है। पारसमणिको हासिल करनेके लिये धीरज क्यों न हो? नाम तो उससे भी अधिक है।'

—(हरिजनसेवक, १७ फरवरी १९४६)

'मैंने तो बचपनसे ही राम-नामके जरिये ईश्वरको भजा है, लेकिन मैं जानता हूँ कि ईश्वरको ओम्‌के नामसे भजो या संस्कृत, प्राकृतसे लेकर इस देश की या दूसरे देशकी किसी भी भाषाके नामसे उसको जपो—परिणाम एक ही होता है।'

—(हरिजनसेवक, २४ मार्च १९४६)

'सब रोगोंकी रामबाण दवा'के रूपसे मैं जिस रामका नाम सुझाता हूँ, वह तो खुद ईश्वर ही है, जिसके नामका जप करके भक्तोंने शुद्धि और शान्ति पायी है; और मेरा यह दावा है कि राम-नाम सभी बीमारियोंकी —फिर वे तनकी हों या मनकी हों या रूहानी हों—एक ही अचूक दवा है। इसमें शक नहीं कि डाक्टरों या वैद्योंसे शरीरकी बीमारियोंका इलाज कराया जा सकता है, लेकिन राम-नाम तो आदमीको खुद ही अपना वैद्य या डाक्टर बना देता है और उसे अपनेको नीरोग बनानेकी संजीवनी हासिल करा देता है।'

—(हरिजनसेवक, २ जून १९४६)

'जीवनकी अलग-अलग हालतोंमें और आखिरी हालतमें राष्ट्रकी आजादी और इज्जतकी रक्षाके लिये अपने-आपको मिटा देनेकी जो भव्य और वीरतापूर्ण कला हमें सीखनी है, उसके लिये प्रार्थना पहला और आखिरी

सवक है।

'प्रार्थनाके लिये ईश्वरमें सजीव श्रद्धाकी जरूरत है। विना ऐसी श्रद्धाके सत्याग्रहके सफल होनेकी कल्पना नहीं की जा सकती। भगवान्‌को हम किसी भी नामसे क्यों न पहचानें, उसका रहस्य यह है कि वह और उसका कानून एक ही है!'

—(हरिजनसेवक, १४ अप्रैल १९४६)

'भगवान् अपने ढंगसे हमारी प्रार्थना सुनता है। इन्सानोंके ढंगसे भगवान्‌का ढंग अलग होता है। इसलिये कोई उसे समझ नहीं सकता। प्रार्थनाके लिये श्रद्धा होना जरूरी है। कोई प्रार्थना बेकार नहीं जाती। प्रार्थना भी दूसरे कामोंकी तरह एक काम ही है। हम देख सकें या न देख सकें, उसका फल तो मिलता ही है और नामधारी कर्मके फलके बनिस्बत दिलसे की जानेवाली प्रार्थनाका फल बहुत ज्यादा शक्ति रखता है।'

—(हरिजनसेवक, २९ जून १९४७)

महात्माजी प्रातः सायं नित्य नियमित ईश्वरकी प्रार्थना करते थे; इससे सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके भक्त और आस्तिक थे। दुःखकी बात है कि आज हमलोग उनके कथनपर ख्याल नहीं कर रहे हैं। हमें चाहिये कि हम उनके कथनानुसार ईश्वरपर विश्वास करके ईश्वर-प्रार्थना और राम-नामके जपमें प्रवृत्त हो जायँ।

इस प्रकार उपासनाकी परम्परा अनन्तकालसे चली आ रही है। अब भी हिन्दुओंके हृदयोंमें यह भाव स्वाभाविकरूपसे अङ्कित है। यह शास्त्रसंगत तो है ही, युक्तिसंगत भी है!

मनुष्यकी जैसी श्रद्धा यानी जैसा भाव होता है, वही उसका स्वरूप है। उसीके अनुसार उसकी चेष्टा होती है। चेष्टाके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं तथा संस्कारोंके अनुसार ही उसके अन्तःकरणकी वृत्ति और स्वभाव बनता है, अन्तःकरणके स्वभावके अनुसार ही उसकी श्रद्धा तथा श्रद्धाके अनुसार ही उसकी स्थिति और स्वरूप होता है एवं उसके अनुसार ही पुनः उसके आचरण होने लगते हैं, ये आचरण ही संस्कृति हैं। हिंदुओंमें अनन्त जन्मोंके प्रवाहसे जो संस्कृति चली आ रही है, उसके प्रवाहको अक्षुण्ण बनाये

रखनेके लिये शास्त्रके उपदेश और महात्माओंके चरित्र ही प्रधानतया आदरणीय और अनुकरणीय हैं। गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह अनुभव होता है कि मनुष्य जैसे-जैसे आचरण करता है, उसके अनुसार ही उसके हृदयमें संस्कार जमते हैं और तदनुसार ही उसके अन्तःकरणका स्वभाव बन जाता है। जैसे एक आदमी कसाईका काम करता है, तो उसके हृदयमें मार-काटके संस्कार इतने अधिक बद्धमूल हो जाते हैं कि उसे स्वप्नमें भी वैसे ही दृश्य दिखायी देने लगते हैं और उसका हृदय कठोर हो जाता है। दूसरी ओर, एक परोपकारी पुरुष हर समय जीवोंके हितके लिये ही चेष्टा करता रहता है, जिससे उसका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु हो जाता है। उससे स्वप्नमें भी जीवोंका अहित नहीं होता। उस दयालुसे कसाईका काम और कसाईसे दयालुका काम होना असंभव-सा है। यह बात युक्तियुक्त और प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार हिंदुओंके हृदयमें स्वाभाविक ही ईश्वरमें आस्तिक-भाव—श्रद्धा-प्रेम है। यह हिंदुओंकी संस्कृति है। इस ईश्वरोपासनाके प्रचारमें ही सब सफलताएँ और सबका परम हित संनिहित है। इसलिये इसका हमें खूब प्रचार करना चाहिये।

बड़ोंका आदर-सत्कार

प्राचीन धर्मग्रन्थोंको देखनेपर मालूम होता है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंका आज्ञापालन, वन्दन और सेवा-पूजा करना—यह भी हिंदू-संस्कृतिका एक प्रधान अङ्ग है। इसका प्रसङ्ग श्रुति[1],

---

१- श्रुति कहती है—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

(तैत्तिरीय० १।११।२)

'माताको देव (ईश्वर) माननेवाला हो। पिताको ईश्वर माननेवाला हो। आचार्यको ईश्वर माननेवाला हो। अतिथिको ईश्वर माननेवाला हो।'

स्मृति[१], गीता[२], रामायण, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमें कूट-कूटकर भरा है। उन स्थानोंको पढ़नेसे रोमाञ्च होने लगता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत, श्रीशत्रुघ्न आदि तो इसके विशेष आदर्श माने गये हैं। इस विषयमें उनके भाव बहुत ही विलक्षण, उच्चकोटिके और स्फूर्तिदायक हैं।

१- मनुजी कहते हैं—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥
(मनु० २।२३१)

'पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि, गुरु आहवनीय अग्नि— ऐसा कहा है और वह अग्नित्रय अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
(मनु० २।२३०)

'वे ही तीनों लोक, वे ही तीनों आश्रम, वे ही तीनों वेद और वे ही तीनों अग्नि कहे गये हैं।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥
(मनु० २।२३४)

'जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसने सब धर्मोंका आदर किया और जिसने इनका आदर नहीं किया, उसकी सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(मनु० २।२३७)

'क्योंकि इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब कर्तव्य-कर्म पूर्ण होता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब धर्म 'उपधर्म' (गौण-धर्म) कहे जाते हैं।'

२- गीता कहती है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
(१७।१४)

अध्यात्मरामायणमें वन जाते समय श्रीराम माता कैकेयीसे कहते हैं—

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम्॥
सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्।

(अयोध्या० ३। ५९-६०)

'पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, भयंकर विष पी सकता हूँ तथा सीता, कौसल्या और राज्यको भी छोड़ सकता हूँ।'

इसी प्रकार भरतका भी सेवा-पूजाका भाव बहुत विलक्षण है। वाल्मीकीय रामायणमें आता है, श्रीभरद्वाजजीने चित्रकूट जाते हुए भरत तथा उनके साथियोंका बहुत सत्कार-सम्मान किया। उन्होंने उन सबको सुख पहुँचानेके लिये अपनी शक्तिसे दिव्य विविध सामग्रियाँ और महल, राज्यासन आदि रच डाले; किंतु भरत उनमें आसक्त नहीं हुए। वे तो मनसे राज्यासनपर भगवान्‌को ही स्थापित समझकर उनकी पूजा और नमस्कार करते रहे—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने॥

(वा० रा०, अयोध्या० ९१। ३८-३९)

'भरतने वहाँ दिव्य राजसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा उनमें राजा (राम) की भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की। सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं, ऐसी धारणा बनाकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर वे अपने हाथमें चँवर ले मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।'

बादमें भी जब भरतजीको श्रीहनुमान्‌जीद्वारा भगवान्‌के अयोध्या लौटनेका शुभ संवाद प्राप्त हुआ, तब वे अत्यन्त हर्षके साथ भगवान्‌की चरणपादुकाओंको

'देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता, पिता, आचार्य आदि) और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मस्तकपर रखकर भगवान्के दर्शनार्थ चल पड़े। वहाँका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकिजी लिखते हैं—

आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः ॥
पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम् ।
शुक्ले च बालव्यजने राजार्हे हेमभूषिते ॥
प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः ।
यथार्थेनार्घ्यपाद्याद्यैस्ततो राममपूजयत् ॥
ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा ।
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम् ॥

(वा॰ रा॰, युद्ध॰ १२७। १८, १९, ३६, ३८)

''धर्मज्ञ भरतने अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाएँ सिरपर रखकर अपने साथ श्वेत मालाओंसे सुशोभित सफेद रंगका छत्र तथा राजाओंके योग्य सोनेमें मढ़े हुए दो सफेद चँवर भी ले लिये। फिर प्रसन्नवदन भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टि लगाये हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर उन्होंने विधिपूर्वक अर्घ्य, पाद्य आदिसे उनकी पूजा की। उस समय भरत मेरुपर्वतपर स्थित-से दिखायी पड़नेवाले सूर्यकी तरह उस विमानमें स्थित भाई श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें नमस्कार करते हुए गिर गये।'

इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर वह विमान पृथ्वीपर उतर आया। भगवान्ने भरतको उसपर चढ़ा लिया।

भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीके पास पहुँचकर प्रमुदित हो पुनः उनको प्रणाम किया।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—जब भरतजी तथा माताएँ आदि सब चित्रकूट पहुँचे हैं, उस समय श्रीरामचन्द्रजी सब गुरुजनोंको प्रणाम करते हैं।

रामः स्वमातरं वीक्ष्य द्रुतमुत्थाय पादयोः ।
ववन्दे साश्रु सा पुत्रमालिङ्ग्यातीव दुःखिता ॥
इतराश्च तथा नत्वा जननी रघुनन्दनः ।
ततः समागतं दृष्ट्वा वसिष्ठं मुनिपुङ्गवम् ॥

साष्टाङ्गं प्रणिपत्याह धन्योऽस्मीति पुनः पुनः ।

(अयोध्या० ९ । ९, १०, ११)

'श्रीरामजीने अपनी माताको देखते ही शीघ्रतासे उठकर उनका चरणवन्दन किया और उन्होंने अत्यन्त दुःखसे नेत्रोंमें जल भरकर पुत्रको हृदयसे लगाया। फिर श्रीरघुनाथजीने उसी प्रकार अन्य माताओंको भी प्रणाम किया। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीको आते देख उन्हें साष्टाङ्ग प्रणामकर बारंबार कहने लगे 'मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ।'

जब भरतजीकी प्रार्थनापर भगवान् उन्हें चौदह वर्षकी अवधिके आधारके लिये चरणपादुका देते हैं, तब वे उन्हें लेकर बड़े आनन्दित होते हैं और बार-बार भगवान्‌को प्रणाम करते हैं !

गृहीत्वा पादुके दिव्ये भरतो रत्नभूषिते ।
रामं पुनः परिक्रम्य प्रणनाम पुनः पुनः ॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९ । ५१)

'भरतजीने वे रत्नजटित दिव्य पादुकाएँ लेकर फिर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की और उन्हें बारंबार प्रणाम किया।'

इसी प्रकार रामायणमें अनेक स्थलोंपर बड़ोंके आज्ञापालन, नमस्कार और सेवाके आदर्श मिलते हैं। जब श्रीरामचन्द्रजी वनवाससे लौटकर आते हैं, तब सभी लोग परस्पर एक-दूसरसे बड़ोंको प्रणाम करते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं।

धाइ धरे गुर चरन सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह ॥
सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धर्म धुरंधर रघुकुल नाथा ॥
गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज ॥
सीता चरन भरत सिर नावा। अनुज समेत परम सुख पावा ॥

तथा राजतिलकके बाद भाइयोंके सेवा और आज्ञापालनका भाव व्यक्त करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई ॥
प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहि कछु कहहीं ॥
हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अँवराई ॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥

पाण्डवोंका भी बड़ोंकी सेवा-पूजा, नमस्कारका भाव बहुत विलक्षण और आदर्श था। धर्मव्याध और मूक चाण्डल आदिने भी माता-पिताकी सेवा करके ही परमगति प्राप्त की थी। वैश्य ऋषिकुमार श्रवणने तो माता-पिताकी सेवा करके ऐसी अनुपम ख्याति प्राप्त कर ली कि आज भी यदि कोई माता-पिताकी विशेष-रूपसे सेवा करता है, तो उसे 'श्रवण'की उपाधि दी जाती है !

शास्त्रोंमें माता-पिता आदि गुरुजनोंको—यहाँतक कि भाई-भौजाईको भी प्रणाम करनेकी बात मिलती है। मनुजी कहते हैं—

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥

(मनु॰ २।१३२)

'भाईकी सवर्णा भार्याके चरणोंकी नित्यप्रति वन्दना करे और परदेशसे लौटनेपर जातिकी तथा सम्बन्धियोंके घरोंकी पूज्य स्त्रियोंके चरणोंकी भी वन्दना करे।'

आजकल भी कहीं-कहीं इस प्रथाका अंश देखनेमें आता है, किंतु वह बहुत कम मात्रामें है। हमें नमस्कार आदिसे होनेवाले लाभकी ओर दृष्टि डालनी चाहिये। जब एक-दूसरेको प्रणाम करते हुए देखकर दर्शकको भी प्रसन्नता होती है, तब फिर प्रणाम किये जानेवालेको प्रसन्नता हो इसमें तो कहना ही क्या है। बड़ोंको नमस्कार आदि करनेसे मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है * तथा इससे लोकमें कीर्ति होती है, सम्मान मिलता है, लोग उसे आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये यह प्रत्यक्षमें भी महान् लाभकर है।

---

* अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु॰ २।१२१)

'जो मनुष्य नित्य वृद्धोंकी सेवा करता और उनको प्रणाम करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।'

एवं इसमें न तो कोई परिश्रम है, न पैसे खर्च होते हैं तथा न कोई विशेष समय ही लगता है और इसका फल महान् है। जिस घरमें सब स्त्री-पुरुष अपने बड़ोंको नमस्कार करते हैं, उस घरमें परस्पर वैमनस्य कैसे हो सकता है; क्योंकि ऐसे विनयके व्यवहारसे तो पहलेका वैमनस्य भी मिट जाता है, फिर नया कैसे हो ? वर्तमानमें भी हमारी हिंदू-जातिमें यह परम्परा है कि किसीका किसीके साथ वैमनस्य होता है तो अच्छे पुरुष उन्हें शिक्षा देकर वैमनस्य मिटा देते हैं और बादमें छोटोंके द्वारा बड़ोंको प्रणाम करवाकर भविष्यके लिये परस्पर प्रेम बढ़ानेका ही आदेश देते हैं। अतएव हिंदू-संस्कृतिके इस प्रणाम, सेवा, पूजा, आदर, सत्कार आदिके भावको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करनेकी बहुत ही आवश्यकता है। सभी माता-बहिनों और भाइयोंसे मेरी सविनय प्रार्थना है कि सबको अपने घरमें कम-से-कम एक बार प्रातःकाल प्रणाम करनेकी प्रथा तो जारी करनी ही चाहिये।

हिंदू-जातिमें यह प्रणाम करनेकी प्रथा किसी अंशमें अब भी जारी है। अपनेसे पूज्य विद्वान्, ब्राह्मण, संन्यासी आदिको देखकर प्रायः हिंदू नतमस्तक हो जाता है। यह है हिंदू-संस्कृति !

सद्गुण-सदाचारका सेवन

काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, घमण्ड, राग, द्वेष, ईर्ष्या, कपट, अभिमान, अहंकार, क्रूरता, निर्दयता, अज्ञान, संशय, भ्रम, निद्रा, आलस्य, विक्षेप, चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग, वैर, कुटिलता, नीचता, नास्तिकता, अश्रद्धा आदि दुर्गुण तथा छल, छिद्र, झूठ, चोरी, डकैती, व्यभिचार, अनाचार, अत्याचार, मांसभक्षण, मदिरापान, मादक वस्तुओंका सेवन, जुआ, हिंसा, प्रमाद, उद्दण्डता आदि दुराचार हैं, यह आसुरी सम्पदा है। इसको राक्षसी संस्कृति समझनी चाहिये। यह सर्वथा घृणित और त्याग करने योग्य है तथा इसके विपरीत जो क्षमा, दया, अहिंसा, शान्ति, संतोष, शम, दम, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, तेज, विनय, समता, सरलता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, निरभिमानता, निष्कामता, हृदयकी पवित्रता, निर्लेपता, आस्तिकता, श्रद्धा आदि सद्गुण तथा यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत,

उपवास, सेवा, पूजा, आदर, सत्कार, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्यका पालन, स्वाध्याय, परोपकार, माता-पिता, गुरुजनों तथा दुःखी अनाथ आतुरोंकी सेवा आदि सदाचार हैं, ये दैवी सम्पदाके लक्षण हैं और अनन्तकालसे श्रेष्ठ पुरुषोंमें स्वभावसिद्ध चले आ रहे हैं। यह है हिन्दू-संस्कृति।

हिंदू-संस्कृतिके इन भावोंको खूब जोरसे जाग्रत् करके सर्वत्र प्रचार करना चाहिये। इसीसे हमारे लिये इस लोकमें गौरव और सुख-शान्ति है और मरनेपर परमगतिकी प्राप्ति हो सकती है। ये हिंदू-संस्कृतिके भाव शनैःशनैः विधर्मी और विदेशियोंके कुसंग और शासनसे बहुत ही दब गये थे, जिससे हमलोगोंका पतन होकर पराधीनता आ गयी थी। उपर्युक्त भावोंकी पुनः जागृति होनेपर उससे असली स्वराज्यकी प्राप्ति हो जाती है; फिर हमारा इस लोक या परलोकमें कहीं कोई भी पराभव नहीं कर सकता। इसीमें हिंदू-देश और हिंदू-जातिकी इज्जत और गौरव है। इसीके सेवन, पालन और प्रचारके लिये तन, मन, धनसे प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

कानूनसे हिंदू-धर्मकी रक्षा

विवाह-संस्कार भी हिंदू-धर्मका एक प्रधान अङ्ग है। वर्तमानमें हिन्दुओंमें जो विवाह-संस्कार-पद्धति प्रचलित है, यह ब्राह्मविवाहके अनुसार है। यह चाल बहुत ही उत्तम और शास्त्रविहित है। इसके संस्कार हिंदू-जातिके हृदयमें स्वाभाविक ही अंकित हैं। वैदिक मन्त्रोंद्वारा होम, वर-कन्याको उपदेश तथा सप्तपदी आदिद्वारा विवाह-संस्कारको सम्पन्न करना हिंदू-संस्कृतिका एक महान् आदर्श आचार है। इन सब माङ्गलिक विवाह-कार्योंको देखकर स्वतः ही चित्तमें प्रसन्नता, शान्ति और आनन्द होते हैं; किंतु इन सबको तथा और भी हिंदुओंके धार्मिक कृत्योंको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये इस समय कानून बने हैं, बनने जा रहे हैं। वे प्रायः सभी संस्कृतिके नाशक हैं। देशके धर्मप्रेमी, समाजमें प्रेम तथा सदाचारके इच्छुक, देशके बुद्धिमान् नेता— सभीको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे संस्कृति-नाशक कानून न बनें।

इसी प्रकार गायोंकी रक्षा करना हिंदुओंका परम धर्म है। यह भारत अब

अंग्रेजोंके हाथसे मुक्त हो गया, मुसलमानोंने अपना पाकिस्तान अलग बना ही लिया; अब तो इसमें गायका वध किया जाना सर्वथा बंद हो जाना चाहिये। यदि गो-वध सर्वथा बंद नहीं होगा और बूढ़ी तथा बेकार गायोंको मारनेकी छूट रहेगी, तो जैसे वर्तमानमें छोटी बछिया और जवान दूधवाली गायें मारी जा रही हैं, वही सिलसिला जारी रह सकता है, क्योंकि डाक्टरोंको घूस देकर कसाई उपयोगीको भी अनुपयोगी पास करा रहे हैं और इसपर कोई विरोध करे तो उसे सफलता मिलनी कठिन है। इससे केवल दुनियाकी आँखमें धूल झोंकना यानी धोखा देना होगा कि हमने चौदह सालसे कम उम्रकी उपयोगी गायोंका वध बंद कर दिया। अतः इसके लिये भी सबको सरकारसे प्रार्थना करनी चाहिये कि गो-वध सर्वथा बंद कर दें।

त्रिविध कर्म

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण । किये हुए शुभ-अशुभ और मिश्रित कर्मोंमेंसे फल देनेके लिये सम्मुख हुए कर्मोंका नाम 'प्रारब्ध' है, जो सुख-दुःखके * निमित्तभूत जाति, आयु और भोग दिया करते हैं। 'संचित' उन कर्मोंका नाम है, जो अनेक जन्मोंमें और इस जन्ममें किये हुए कर्म हैं और जो भोग देनेके लिये सम्मुख नहीं हुए हैं, पर कर्माशयमें इकट्ठे पड़े हैं। 'क्रियमाण' उन कर्मोंको कहते हैं; जो वर्तमानमें शुभ-अशुभ और मिश्रित कर्मफल, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानपूर्वक किये जाते हैं। इन कर्मोंको

---

* वस्तुतः यह सुख-दुःखका भोग जीवको अज्ञानस्थितिमें होता है। सुख-दुःख किसी घटना, वस्तु या स्थितिमें नहीं है, वह तो प्रतिकूल या अनुकूल भावनामें ही है और प्रतिकूल-अनुकूल भावना अज्ञानजनित है, इसलिये ये जितने भी जाति, आयु और भोग हैं, सब अज्ञानियोंके लिये ही सुख-दुःखजनक हैं। ज्ञानीके लिये विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार भक्तकी दृष्टिमें भी जगत्‌में सब कुछ भगवान् और भगवान्‌की लीला है। लीला तथा लीलामयमें अभेद है। अतएव वह भी प्रतिकूल-अनुकूल न देखकर सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करता है, अतएव उसे भी सुख-दुःख नहीं होते। वह अपने प्रभुके स्वरूपसे अभिन्न विचित्र लीला-विलासको देख-देखकर मुग्ध होता रहता है।

'पुरुषार्थ' भी कहते हैं; किंतु जो कर्म फलासक्ति और कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर किया जाता है, वह कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं है।

(गीता ४। २०; १८। १७)

इन तीनोंमें 'संचित' के द्वारा विभिन्न प्रकारकी शुभाशुभ स्फुरणाएँ होती हैं, पर उनके अनुसार कर्म करना, न करना हमारे अधिकारमें है। शुभ स्फुरणा होनेपर भी पुरुषार्थके अभावसे कर्म न होनेके कारण वह सफल नहीं होती। प्रारब्धसे भी स्फुरणा होती है और उसके अनुसार कर्म होते हैं। पर यहाँ भी कर्म करनेको मनुष्य बाध्य नहीं है। हाँ, प्रारब्धानुसार फलभोग अवश्य होता है। शुभ प्रारब्ध होगा तो बिना पुरुषार्थके ही अनिच्छा या परेच्छासे शुभ फल मिल जायगा। इसी प्रकार अशुभ भी मिल जायगा। क्रियमाण (पुरुषार्थ) तो नया फल पैदा करता ही है। अवश्य ही यह नियम नहीं है कि वह अभी तुरंत ही फल दे दे। प्रबल कर्म होनेपर फलदानोन्मुख प्रारब्धके बीचमें ही वह प्रारब्ध बनकर अपना फल दे सकता है। जैसे किसीके प्रारब्धमें पुत्रका योग नहीं है; परंतु पुत्रेष्टियज्ञ सविधिसम्पन्न होनेपर नवीन प्रारब्ध बनकर पुत्रोत्पादनमें कारण बन सकता है। इसी प्रकार आयुके विषयमें समझना चाहिये। जैसे सावित्रीने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे यमराजको प्रसन्न करके उनसे वरदानके रूपमें अपने पतिके लिये दीर्घायु प्राप्त कर ली थी। यह भी नवीन प्रारब्ध था, जो प्रबल पुरुषार्थ (क्रियमाण) का फल था। परंतु सुख-दुःख आदि फलोंके भोगमें प्रधानता पूर्वकृत कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धकी ही है।

संचितसे स्फुरणा होती है, प्रारब्धसे सुख-दुःखको देनेवाले जाति, आयु और भोगोंकी प्राप्ति होती है और पुरुषार्थसे नये कर्म बनते हैं। यहाँ एक दृष्टान्तके द्वारा इन तीनों प्रकारके कर्मोंके सम्बन्धमें यह दिखलाया जाता है कि किस कर्मकी प्रबलतासे कैसे क्या कार्य होता है।

एक जगह तीन मित्र बैठे थे। उनसे किसीने आकर कहा कि अमुक स्थानपर एक बड़े महात्मा आये हुए हैं, इसपर इनमेंसे एकने कहा कि 'चलो भाई! हम भी दर्शन कर आवें।' दूसरेने कहा— 'मैं तो नहीं जाऊँगा। तुमलोग भले ही जाओ।' तीसरेने जाना स्वीकार किया और वे दोनों महात्माके स्थानपर जा

पहुँचे। वहाँ जानेपर पता लगा कि 'महात्मा अभी थोड़ी ही देर हुई शहरमें गये हैं, कुछ देरमें आवेंगे।' इसपर तीसरा जो गया था, वह तो वहाँ जमकर बैठ गया। उसने कहा कि 'जितनी ही देरमें आवें, मैं तो दर्शन करके ही जाऊँगा।' पहलेने कहा—'भाई ! इतनी देर कौन बैठे, मैं तो वापस जा रहा हूँ।' अतएव तीसरा वहीं बैठा रहा और पहला लौट गया। इधर महात्मा शहरमें घूमते-घामते उसी स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ दूसरा बैठा था, जो महात्माके दर्शनार्थ जानेसे इनकार करके डेरेपर ही रह गया था, उसको वहाँ महात्माके दर्शन हो गये; कहीं जाना नहीं पड़ा। महात्मा वहाँसे लौटकर अपने स्थानपर गये और वहाँ उस तीसरेको भी दर्शन हो गये, जो वहाँ जमकर बैठ गया था। दूसरा जो वहाँ से लौट आया था, वह दूसरे रास्तेसे लौटा। अतः उसको महात्माके दर्शन हुए ही नहीं। इन तीनोंमें पहलेका तो शुभ संचित प्रबल था, जिसने महात्माके पास जानेकी इच्छा प्रकट की, परंतु पुरुषार्थकी कमीसे वहाँ जाकर भी वह बैठा नहीं, लौट आया। दूसरेका शुभ प्रारब्ध प्रबल था, जिसने घर बैठे महात्माके दर्शन करा दिये और तीसरेका शुभ पुरुषार्थ प्रबल था; जिसके कारण वह दृढ़तर होकर वहाँ बैठ गया और दर्शन करके ही लौटा।

संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म और मोक्षकी सिद्धिमें तो पुरुषार्थ प्रधान है तथा अर्थ और कामकी सिद्धिमें प्रारब्ध प्रधान है। अज्ञानी लोग धर्म और मोक्षको प्रारब्धपर छोड़ देते हैं। वे धर्म और मोक्षसे वञ्चित रह जाते हैं; क्योंकि धर्मका पालन और मुक्तिका साधन नवीन कर्म है, पूर्वकृत कर्मोंका फल नहीं है। मनुष्यका उत्तम स्वभाव और उत्तम संचित कर्म प्रेरक होनेसे सहायक हैं। प्रारब्ध कर्म बीमारी आदि अप्रियके संयोग और प्रियके वियोगको निमित्त बनाकर कमजोर आदमीके लिये धर्म और मोक्षके साधनमें बाधक हो जाया करते हैं एवं कहीं सत्सङ्ग आदिके संयोगसे सहायक भी हो जाया करते हैं; किन्तु धर्मके पालन और मोक्षके साधनोंमें मुख्य हेतु प्रयत्न (पुरुषार्थ) ही है, क्योंकि धर्मका पालन और मुक्तिका साधन अपने-आप होना सम्भव नहीं है। इसलिये मनुष्यको धर्मके पालन और मुक्तिके साधनके लिये महत्कृपाका आश्रय लेकर कटिबद्ध हो तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये।

प्रारब्ध

मूर्ख मनुष्य अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि नाना प्रकारके पाप करते हैं; किंतु उससे कुछ नहीं मिलता। जो कुछ मिलता है वह उसके पूर्वके प्रारब्धसे ही मिलता है और वह बिना पाप किये भी अवश्य मिलेगा ही। मनुष्य प्रयत्नपूर्वक पाप करता है पर उसका फल जो दुःख है, उसे भोगना नहीं चाहता, किंतु अनेक प्रतीकार करते हुए भी उसे पापका फल दुःख भोगना ही पड़ता है। जिस प्रकार पापका फल दुःख अनेक प्रतीकार करनेपर भी नहीं रुकता, उसी प्रकार पुण्यका फल अर्थ और कामरूप सुख भी बिना प्रयत्न किये ही प्राप्त होगा। प्रयत्न तो केवल निमित्तमात्र है, क्योंकि अर्थ और कामकी सिद्धिमें मुख्य हेतु प्रारब्ध ही है। जो कुछ प्राप्त होना है, उससे अधिक तो होगा नहीं और जो होना है, वह प्रतीकार करनेपर भी रुक नहीं सकता, अतएव अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये पाप करना निरी मूर्खता है।

मनुष्य अज्ञानवश अर्थ और कामको पुरुषार्थके अधीन मानकर उनकी सिद्धिके लिये अपना जीवन लगा देते हैं तथा नाना प्रकारके पाप करके आसुरी योनियों और नरकोंमें गिरते हैं; किंतु यदि अर्थ और कामकी सिद्धि पुरुषार्थसे होती तो सभी आदमी धनी बन जाते एवं सभीकी कामना भी सफल हो जाती; क्योंकि सभी धनी बनना चाहते हैं तथा सभीको अपनी कामनाओंकी पूर्तिकी भी इच्छा है। पर ऐसा देखनेमें नहीं आता। कहीं-कहीं पूर्वके प्रबल प्रारब्धसे काम और अर्थकी सिद्धि हो जाती है तो मूर्ख मनुष्य उसे अपने पुरुषार्थसे हुई मान बैठते हैं; परंतु यह बात गलत है। इसलिये मनुष्यको अर्थ और कामके परायण होकर अपने मनुष्य-जीवनको नष्ट करना उचित नहीं है।

प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—अनिच्छासे, परेच्छासे और स्वेच्छासे।

मनुष्य न तो मरना ही चाहता है और न दुःख ही भोगना चाहता है। पर पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप वज्रपात, महामारी, अकाल, अग्नि और बाढ़ आदिकी पीड़ासे मनुष्य दुःखित हो जाता है और कोई-कोई मर भी जाता है तथा

इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्यके प्रभावसे किसीको अकस्मात् कहीं गड़े हुए धनकी प्राप्ति हो जाती है और किसीकी पैतृक सम्पत्तिका मूल्य बढ़ जाता है, जो सुखका हेतु है। यह सब अनिच्छा-प्रारब्धका भोग है।

पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप दुःखके हेतुभूत चोर, डाकू, सिंह, व्याघ्र आदिके द्वारा धन, जन और शरीरकी हानि हो जाती है और इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे उसे कोई दत्तक पुत्र बना लेता है या कोई राजा राज्य सौंप देता है, जो कि सुखका हेतु है। यह सब परेच्छा-प्रारब्धका भोग है।

उपर्युक्त अनिच्छा और परेच्छा-प्रारब्धसे प्राप्त सुख-दुःख भोगके विषयमें भोक्ता मनुष्य बिलकुल परतन्त्र है। स्वेच्छापूर्वक किये हुए कृषि और व्यापार आदिमें पूर्वकृत पापोंके फलस्वरूप दुःखका हेतुभूत नुकसान लग जाना तथा अपने और अपने कुटुम्बीजनोंके रोगादिकी निवृत्तिके लिये किये जाने वाले औषधादि उपचारोंका विपरीत परिणाम होना और इसी प्रकार पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे सुखके हेतुभूत स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदिकी प्राप्तिके लिये इच्छापूर्वक किये हुए प्रयत्नकी सफलताका होना—यह सब स्वेच्छा-प्रारब्ध-भोग है।

उपर्युक्त प्रकारसे इस जन्ममें जो प्रारब्धका भोग होता है, वह अधिकांशमें तो पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंका ही फल होता है, किंतु कोई-कोई इस जन्ममें किया हुआ बलवान् क्रियमाण कर्म भी तुरन्त प्रारब्ध बनकर इसी जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है; जैसे कोई पुरुष परस्त्रीगमन आदि पाप कर्म करता है, तो उसके फलस्वरूप उसे उपदंश, सूजाक, धातुक्षय आदि बीमारियाँ हो जाती हैं तथा इसी प्रकार कोई स्त्री, पुत्र, धनकी प्राप्ति और रोगकी निवृत्तिकी कामनासे यज्ञ, दान, तपरूप पुण्यकर्म विधि और श्रद्धापूर्वक करता है तो उसके फलस्वरूप उसे उपर्युक्त इष्टकी प्राप्ति हो जाती है। परंतु जो मनुष्य आत्मोद्धारके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और निष्कामकर्म आदि साधनोंका तत्परतासे अनुष्ठान करता है, उसे तो उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें शीघ्र ही मोक्ष (भगवत्प्राप्ति) प्रत्यक्ष ही हो जाता है।

संचित

मनुष्य इस जन्ममें जो कुछ क्रियमाण कर्म करता है, उसमेंसे जिस अंशका प्रारब्ध बनकर मनुष्यको भोग देनेके लिये प्रस्तुत हो जाता है, वह तो फल भुगताकर क्षय हो जाता है और उसके सिवा इस जन्मके बचे हुए क्रियमाण कर्म पूर्वजन्मोंके संचित कर्मोंमें सम्मिलित हो जाते हैं। इन संचित कर्मोंके समूहका भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्म आदि साधनोंसे क्षय होकर विनाश हो सकता है। जबतक इस संचित कर्मसमूहका विनाश नहीं हो जाता, तबतक वे भावी जन्मको देते रहते हैं।

मनुष्य जो भी कुछ पुण्य, पाप और मिश्रित कर्म करता है, उसके दो प्रकारके संस्कार उसके हृदयमें जमते हैं—(१) सुख दुःखादि, जो जाति, आयु, भोगको देनेवाले हैं और (२) सात्त्विक, राजस, तामस-वृत्तिरूप संस्कार जो कि स्वभावको बनानेवाले हैं। इनमें पहले प्रकारके संस्कार तो फल भुगताकर शान्त हो जाते हैं; किंतु सात्त्विक, राजस, तामस-वृत्तिरूप संस्कार स्वभावके रूपमें रहते हैं और वे भविष्यमें नवीन पुण्य-पाप आदि कर्मोंके प्रेरक होते हैं। अतएव मनुष्यको अपने स्वभावको सुधारनेके लिये विवेक-वैराग्यपूर्वक सत्सङ्ग, भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्मके द्वारा राजसी, तामसी वृत्तियोंका शमन करके केवल सात्त्विक वृत्तियोंका प्रवाह बहाना चाहिये। इस प्रकार साधन करनेसे संचित कर्म और राजसी-तामसी वृत्तियाँ—दोनोंका क्षय होकर मनुष्य भगवत्प्राप्तिके लिये समर्थ हो जाता है।

क्रियमाण

राग, द्वेष, कामना, ममता और अहंकारपूर्वक मन, वाणी, शरीरसे जो पुण्य, पाप और मिश्रित कर्म किये जाते हैं, वे क्रियमाण कर्म हैं तथा स्वेच्छा-प्रारब्धभोगके निमित्त भी जो कर्म होते हैं, वे भी क्रियमाणके ही अन्तर्गत हैं; क्योंकि उनमें कर्तव्यबुद्धिके सिवा जो शास्त्रके अनुकूल और शास्त्रके प्रतिकूल क्रिया होती है, वह पुण्य और पापरूप होनेके कारण क्रियमाणमें ही शामिल है।

जिनको ईश्वर और प्रारब्धपर विश्वास नहीं है, वे अज्ञानी मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदिके द्वारा अर्थ और कामकी सिद्धि प्रारब्धसे अतिरिक्त पुरुषार्थसे करना चाहते हैं, उनकी वह सिद्धि प्रारब्धसे अतिरिक्त तो हो ही नहीं सकती। जो कुछ प्राप्त होता है, प्रारब्धके अनुसार ही होता है, परंतु वे मूर्ख शास्त्रविरुद्ध क्रिया करके व्यर्थ ही पापके भागी होते हैं; किन्तु जिनको ईश्वर और प्रारब्धपर विश्वास है, वे कोई भी पाप-क्रिया न करके शास्त्रानुकूल कर्म करते हुए सत्य और न्यायपूर्वक ही अर्थ और कामकी सिद्धि चाहते हैं, वे भारी आपत्ति पड़नेपर भी सत्य, न्याय और धर्मसे विचलित नहीं होते। अतः प्रारब्धके अनुसार उनका कार्य तो सिद्ध होता ही है, वे पुण्यके भागी भी होते हैं और निष्कामभावसे करनेपर तो परम कल्याणको प्राप्त हो सकते हैं।

जो कर्म राग, द्वेष, कामना, ममता और अहंकारसे रहित होकर किये जाते हैं अथवा भगवदर्थ या भगवदर्पण-बुद्धिसे किये जाते हैं, वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं, इसलिये वे भी क्रियमाणमें शामिल नहीं होते तथा स्वप्नमें होनेवाली मानसिक क्रियाएँ भी क्रियमाणमें शामिल नहीं हैं; क्योंकि वे समझ-बूझकर की हुई नहीं हैं, उनमें कर्ता निद्राके वशीभूत होनेके कारण परतन्त्र है, इसलिये वे अनिच्छा और स्वेच्छासंयुक्त प्रारब्धभोगमें ही शामिल हैं।

प्रारब्धकर्म तो मनुष्यको भोगने ही पड़ते हैं, अतः वे भोग-भुगताकर क्षय हो जाते हैं तथा जो बचे रहते हैं, वे परमात्माकी प्राप्तिमें रुकावट नहीं डालते। भगवत्प्राप्तिके बाद भी वे प्रारब्धसे होनेवाले सुख-दुःखादिके निमित्त शरीरमें होते रहेंगे; अतः उनके रहनेसे हमें कोई हानि नहीं है। विवेक और वैराग्यपूर्वक सत्सङ्ग, भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्म आदि साधनोंद्वारा प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण—तीनोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

परमात्मप्राप्त पुरुषमें संचित कर्मोंका तो अत्यन्त अभाव है ही और क्रियमाण कर्म उनके लागू नहीं पड़ते; क्योंकि उनसे होनेवाली क्रियाओंमें राग, द्वेष, कामना, ममता, अहंकार आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनके कर्म कर्म ही नहीं हैं। इसके सिवा उनके द्वारा जो प्रारब्धसे होनेवाली घटनाएँ हैं, उनमें राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण कोई भी सुख-दुःखका भोक्ता नहीं रहता; अतः

उनके प्रारब्ध कर्म रहते हुए भी न रहनेके ही समान हैं, केवल सुख-दुखोंकी निमित्तमात्र घटनाएँ उनमें प्रतीत होती हैं; परन्तु जो मनुष्य सुख-दुःख और हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा रहित है, उसका प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादिके निमित्त होनेवाली घटनाओंसे वास्तवमें कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। अतः उसके प्रारब्धभोगरूप कर्म भी एक प्रकारसे क्षय ही माने गये हैं।

श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(मु॰ उ॰ २।२।८)

'उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर इस पुरुषकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशयोंका छेदन हो जाता है और इसके प्रारब्ध, संचित, क्रियमाणरूप समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं।

——::०::——

आदर्श नारी सुशीला

एक शिक्षाप्रद कहानी

(१)

श्रीमद्भगवद्गीतामें मनुष्यको आत्मकल्याणार्थ दैवी सम्पदा धारण करनेके लिये कहा गया है (गीता १६।५)। अतः कल्याणकामी मनुष्यको दैवी सम्पदामें बतलाये हुए सद्गुण-सदाचारोंको अमृतके समान समझकर उनका सेवन करना चाहिये। गीतामें सोलहवें अध्यायके आरम्भमें ही तीन श्लोकोंमें भगवान्ने सद्गुण-सदाचारोंके साररूप दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(१) भयका सर्वथा अभाव, (२) अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, (३) तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और (४) सात्त्विक दान, (५) इन्द्रियोंका दमन, (६) भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं (७) शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, (८) स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और (९) शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, (१०) मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, (११) यथार्थ और प्रिय भाषण, (१२) अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, (१३) कर्मोंमें स्वार्थका और कर्तापनके अभिमानका त्याग, (१४) अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, (१५) किसीकी भी निन्दादि न करना, (१६) सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, (१७) इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, (१८) कोमलता, (१९) लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और (२०) व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, (२१) तेज, (२२) क्षमा, (२३) धैर्य, (२४) बाहरकी शुद्धि एवं (२५) किसीमें भी शत्रुभावका न होना और (२६) अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन ! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।

प्रत्येक भाई-बहिन इन दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षणोंको अपनेमें भलीभाँति धारण करनेका कुछ तरीका जान सकें, इसके लिये यहाँ एक कहानी लिखी जाती है—

प्रयागमें एक ब्राह्मण रहते थे, उनका नाम था देवदत्त । वे बड़े ही विद्वान्, सरलस्वभाव, सदाचारी और ईश्वरभक्त थे । राज्यके अधिकारियोंमें भी उनका बड़ा सम्मान था । उनकी पत्नीका नाम था गौतमी । वह बड़ी ही सरल, सीधी, भोले स्वभावकी तथा अक्षरज्ञानरहित थी । उसको एकसे सौतककी गिनतीतक नहीं आती थी । उसके तीन पुत्र और एक कन्या थी । बड़े लड़केका नाम सोमदत्त, बिचलेका रामदत्त और सबसे छोटेका मोहनलाल था । तीनों ही सुशिक्षित और सदाचारी थे । लड़कीका नाम था रोहिणी । इन सभीके विवाह हो चुके थे । रोहिणीके पतिका देहान्त छोटी उम्रमें ही हो गया तथा उसके कोई सन्तान

नहीं हुई, इसलिये वह नैहरमें ही रहती थी। लड़कोंकी पत्नियोंके नाम क्रमशः रामदेवी, भगवानदेवी और सुशीला थे। इनमेंसे पहली दो स्त्रियाँ तो अनपढ़ और मूर्ख थीं, किंतु सुशीला बड़ी विदुषी थी, वह अपने नामके अनुसार ही बड़ी शीलवती थी। वह अत्यन्त शान्तस्वभाव, सद्गुण-सदाचारसम्पन्न, ईश्वरभक्त और पतिव्रता थी। वह सभी कामोंमें चतुर और सुशिक्षिता थी। वह कटाई-सिलाई करने, कसीदे काढ़ने, कपड़ोंपर बेल-बूटे बनाने, गंजी-मोजे बनाने, सुन्दर लिपि लिखने तथा चित्रकारी आदि शिल्प-विद्यामें भी बड़ी निपुण थी। उसमें त्याग, सेवाभाव, धैर्य और कार्यकुशलता आदि गुण विशेषरूपसे थे। जबसे सुशीला घरमें आयी, तबसे घरमें मानो सुव्यवस्था आ गयी। उसने सभीको निःस्वार्थ सेवासे मुग्ध करके अपने अनुकूल बना लिया। वह सभीके साथ बड़े प्रेमसे यथायोग्य बर्ताव किया करती। बड़ोंका आदर करती, अपनेसे छोटोंपर दया और स्नेह रखती तथा समान वयकी स्त्रियोंसे मैत्री करती थी। घरवाले तो सब उसके काम-काज और शील-स्वभावसे संतुष्ट रहते ही थे। मुहल्लेके अन्य स्त्री-पुरुष भी उसके गुणोंसे प्रभावित होकर सदा उसकी प्रशंसा किया करते। सुशीला यद्यपि छोटी उम्रकी और नववधू थी, पर उसके गुणोंकी इतनी ख्याति हो गयी कि दूर-दूरकी स्त्रियाँ उससे सलाह और शिक्षा लेने आया करती थीं।

पण्डित देवदत्तजी नित्य नियमितरूपसे संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ और जप-ध्यान किया करते। वे उपदेश, व्याख्यान और पण्डिताईसे अपने घरकी जीविका चलाते थे। उनके दोनों बड़े लड़के नगरमें ही व्यापार-कार्य किया करते और जो कुछ उससे प्राप्त होता, पिताजीको सौंप देते थे। छोटा लड़का मोहनलाल कालेजमें पढ़ता था। घरमें जो कुछ भी भोजन-खर्च लगता, उसके लिये पण्डितजी प्रतिमास अपनी पत्नीको कुछ रुपये दे दिया करते, जिनसे वह अपने रसोइये या नौकरके द्वारा बाजारसे आवश्यक सामान मँगवा लिया करती। गौतमीको अत्यन्त भोली समझकर रसोइया और नौकर दोनों ही बेईमानी और चोरी करते थे। वे जिस चीजका जो दाम बतला देते, वह उतना ही उन्हें दे देती। फिर, रुपये-पैसे भी वे ही दोनों गिनते; क्योंकि गौतमीको तो गिनती आती नहीं थी। वे रुपये माँगकर ले जाते और थोड़ी-सी चीज लाकर ही कह देते कि रुपये सब पूरे हो गये। कभी

मोटा-मोटी हिसाब बतला देते, कभी नहीं। बतलाते तो भी गौतमी तो कुछ समझती थी नहीं ।

बुद्धिमती सुशीलाको उनकी चोरी-चालाकी समझनेमें देर नहीं लगी। उसने सोचा, सासजीका स्वभाव सरल और भोला होनेके कारण ये हमारे घरका धन लूट रहे हैं । इसका कोई उपाय करना चाहिये। आखिर उसने एक दिन रसोइयासे कहा—'महाराजजी ! आप बाजारसे जो गेहूँ, चावल, दाल, साग, दूध, घी, चीनी, तैल और मसाला आदि सामान लाते हैं, उन सबका पूरा हिसाब रखना चाहिये।' रसोइयाने कड़ककर कहा—'वाह ! तू बड़ी हिसाब लेनेवाली आयी ! हमारे यहाँ तो यों ही सारा काम विश्वासपर चलता है। तेरी सास इतनी बड़ी हो गयी, पर बेचारीने कभी कोई हिसाब नहीं माँगा और तू कलकी आयी हुई हम घरके लोगोंसे हिसाब माँगने लगी। मालूम होता है, अब तू ही घरकी मालकिन हो गयी है ?' वधूके प्रति रसोइयाके तिरस्कार-सूचक कड़े शब्द बगलके कमरेमें बैठे हुए पण्डित देवदत्तजीके कानोंमें पड़े। उन्होंने स्वाभाविक ही बड़े धीरजके साथ रसोइयाको सम्बोधन करके कहा—'भैया ! बहू तो ठीक ही कहती है, उसकी सीधी बातपर यों कड़कना और डाँटना तो उचित नहीं है । तुम जो हिसाब नहीं देते, यह अच्छी बात थोड़े ही है । रुपयोंका हिसाब तो पाई-पाईका होना चाहिये । जो भी कुछ हो, अब तुम छोटी बहूको सब हिसाब बतला दिया करो। यह लिखी-पढ़ी है, सब हिसाब लिख लिया करेगी।' उन्होंने फिर बहूसे कहा—'बेटी ! तुम्हारी सास तो भोली है, अब तुम्हीं घरका हिसाब रखा करो।' सुशीला तो यह चाहती ही थी। वह लेन-देनका पूरा-पूरा हिसाब रखने लगी। रसोइया तथा नौकर दोनोंसे ही जो भी बाजारसे सामान मँगाया जाता, वह उनसे पूछकर सारा हिसाब लिख लिया करती।

उसकी सेवा, स्वभाव और गुणोंके कारण घरभरके सभी स्त्री-पुरुष बड़े मुग्ध थे; किंतु स्वार्थी रसोइया और नौकर उसे अपने पथका रोड़ा समझकर उससे द्वेष करने लगे। वे बात-बातमें उसमें छिद्रान्वेषण किया करते और घरकी अन्य स्त्रियोंके मनोंको भी खराब करते रहते। कभी-कभी तो वे ताना भी मार देते कि 'तुम सभीपर तो यह सुशीला मालकिन है। देखो न ! यह आयी तुम्हारे सामने

और अब तुमपर हुकुम चलाने लगी है।' परन्तु वे कहतीं—'यह बेचारी तो हम सभीके हुकुमके अनुसार चलती है और बहुत ही सुशील है, तुम व्यर्थ ही ऐसा क्यों कहते रहते हो?' पर वे तो उसके पीछे पड़े हुए थे, जब अवसर पाते, उसपर झूठा दोष आरोपकर घरवालोंको लगा-बझाकर उनका मन खराब करते। ऐसा होनेपर भी सुशीलाके चित्तपर कभी विक्षेप या अशान्ति देखनेमें नहीं आयी। वह तो हर समय प्रसन्नचित्त रहा करती, किन्तु अन्य स्त्रियाँ मूर्ख थीं, अतः बार-बार उनकी बातें सुननेसे उन स्त्रियोंपर उनका असर होने लगा। रसोइया और नौकरोंकी बातोंको सच्ची मानकर वे स्त्रियाँ घरके पुरुषोंको भी सुशीलाके विपरीत अनेक तरहकी झूठी बातें कहने लगीं; किंतु सुशीलाके गुणोंसे प्रभावित होनेके कारण पुरुषोंपर उनकी बातोंका कुछ भी असर नहीं हुआ।

कुछ समयके बाद सुशीलाके एक कन्या हुई, उसका नाम रखा गया इन्द्रसेनी। इसके दो वर्ष बाद एक लड़का हुआ, जिसका नाम पण्डितजीने इन्द्रसेन रखा। लड़केके जन्मके कुछ दिनों बाद सोमदत्त आदिने अनेक बन्धु-बान्धव और मित्रोंको बुलाकर उनकी बाजारू मिठाई, बीड़ी, सिगरेट आदिसे खातिर की और वे सभी चौपड़-ताश खेलने, हँसी-मजाक करने और हो-हल्ला मचाने लगे। घरमें धूम मच गयी। यह सब देखकर सुशीलाने विनयपूर्वक प्रार्थना की—'यह सब किसलिये कराये जाते हैं?' घरवालोंने कहा—'यह तो यहाँकी प्रथा है। लड़केकी रक्षाके लिये उत्सव मनाया जाता है।' बहूने हाथ जोड़कर विनयसे कहा—'इससे तो बुरे संस्कार पड़ते हैं, पैसे भी व्यर्थ खर्च होते हैं और हो-हल्ला होनेसे मुझे नींद भी कम आती है। अतः मुझे तो इसमें सिवा हानिके कोई भी लाभ नहीं दीखता। मेरे नैहरमें तो बहुत अच्छी प्रथा है। वहाँ तो नामकरण-संस्कार होनेके बाद वेद और गीताका पाठ एवं कथाकीर्तन आदि हुआ करते हैं; धर्मात्मा, भक्त, दानी, परोपकारी और शूरवीर पुरुषोंकी कथाएँ सुनायी जाती हैं, जिनसे बड़ी ही अच्छी शिक्षा मिलती है। इसलिये मेरी तो आपसे यही प्रार्थना है कि इन प्रमादके कार्योंको बंद करा दिया जाय।' सुशीलाके इन विनययुक्त वचनोंका उनपर अच्छा असर पड़ा। उन्होंने तुरन्त वे सब बंद करके सुशीलाके कहे अनुसार सारी व्यवस्था कर दी।

घरमें और कोई छोटा लड़का न होनेके कारण गौतमी उस लड़केसे विशेष प्यार किया करती। उसने उसके हाथों और पैरोंमें काले डोरे बाँध दिये और गलेमें एक झालरा पहना दिया, जिसमें व्याघ्र-नख, लाख और लोहेकी अँगूठी, तावीज तथा जरखनख आदि पिरोये हुए थे। थोड़े समय बाद वे डोरे लड़केके हाथ-पैरोंकी कलाइयोंमें कुछ-कुछ धँसकर इस प्रकार बैठ गये कि उनमें निशान पड़ गये तथा उस झालरेसे छाती और पीठपर कई जगह निशान पड़ गये। यह देखकर सुशीलाने साससे कहा—'माताजी! बच्चेके हाथ-पैरोंमें ये डोरे क्यों बाँधे गये हैं? इससे तो इसके हाथ-पैर भी कमजोर रह जायँगे और उनमें निशान भी पड़ गये हैं तथा यह झालरा रातको इसके बदनमें गड़ जाता है, इससे भी कई जगह निशान पड़ गये हैं, इनके बाँधनेसे क्या लाभ है?'

गौतमी बोली—'डाकिनी, पूतना आदिके नजरका दोष बचानेके लिये लड़केकी रक्षाके हेतु ये बाँधे जाते हैं।' तब सुशीलाने पूछा—'आपने इन्द्रसेनीको तो ये कभी नहीं पहनाये?' गौतमीने उत्तर दिया—'लड़कियोंकी रक्षा तो भगवान् करते हैं। इसलिये उनके यह सब बाँधनेकी आवश्यकता नहीं।' सुशीलाने हाथ जोड़कर बड़ी ही विनयसे कहा—'माताजी! भगवान् तो सबकी ही रक्षा करते हैं। जो भगवान् इन्द्रसेनीकी रक्षा करते हैं, वही इसकी भी रक्षा करेंगे। इसके लिये हमलोगोंको इतनी चिन्ता क्यों करनी चाहिये! इन सब कार्योंसे तो उलटा भगवान्पर अविश्वास ही प्रकट होता है तथा कोई लाभ भी नहीं दीखता।'

सुशीलाकी ये युक्तियुक्त बातें गौतमीको भी जँच गयीं और उसने बच्चेके गलेसे वह झालरा और हाथ-पैरोंके डोरे उसी दिन निकाल दिये।

(२)

कुछ दिनोंके पश्चात् हरद्वारमें कुम्भका मेला लगा। सब लड़कोंने मिलकर पण्डितजीके सामने प्रस्ताव रखा कि आपकी अनुमति हो तो सब लोग कुम्भ-मेलेपर हरद्वार चलें। इसपर पण्डितजीने कहा—'बहुत ही अच्छा है, हम भी चलेंगे।' फिर क्या देर थी, तुरंत तैयारी हो गयी और घरका प्रबन्ध करके वे समस्त परिवारसहित चल पड़े। चलते समय सुशीलाने सबसे प्रार्थना की—

'मेलेमें ठग, चोर , कुटनियाँ और लुटेरे भी आया करते हैं, उन सबसे बहुत सावधान रहना चाहिये । किसी भी अपरिचित स्त्री-पुरुषसे कभी सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये । किसीकी दी हुई वस्तु स्वीकार नहीं करनी चाहिये और न किसी अपरिचितका विश्वास ही करना चाहिये । यात्रामें खान-पानमें संयम रखना और सदा धैर्य तथा विवेकसे काम लेना उचित है । किसीके भी सामने कमजोर और डरपोक नहीं बनना, बल्कि धैर्यपूर्वक उत्साह और साहससे काम निकालना चाहिये ।'

रास्तेमें सब लोगोंने अयोध्याजी उतरकर स्नान, दर्शन करनेका विचार किया और वे वहाँ जाकर एक धर्मशालामें ठहर गये । सब लोगोंने सरयूमें स्नान करके मन्दिरोंमें जाकर भगवान्‌के दर्शन किये और फिर धर्मशालामें आ गये । रसोइया धर्मशालाके बाहर चबूतरेपर बैठा था । वहाँ एक ठगने आकर उससे कहा—'मैं तुम्हें एक मसाला देता हूँ, इसे तुम दालमें डाल दोगे तो दाल बहुत बढ़िया बन जायगी और उसको खानेपर सब घरवाले तुम्हारे वशमें हो जायँगे ।' रसोइया तो मूर्ख था ही, उसने उससे वह मसाला ले लिया और कुछ दालमें डाल दिया तथा बाकी बचा हुआ पुड़ियामें बाँधकर अलग रख दिया । भोजन तैयार होनेपर सोमदत्त और रामदत्त दोनों भाई, इन्द्रसेन, इन्द्रसेनी और बहिन रोहिणीने भोजन किया । भोजन करते ही वे सब बेहोश हो गये । यह देखकर सुशीलाने निश्चय किया कि अवश्य ही भोजनमें कुछ-न-कुछ गड़बड़ी है, नहीं तो ये सभी बेहोश कैसे होते ?

वह तत्काल रसोईघरमें गयी और देखा कि एक कागजकी पुड़ियामें धतूरेके बीज रखे हैं । उसने रसोइयासे पूछा— 'आपने आज यह क्या खिला दिया, जिससे खानेवाले सब बेहोश हो गये ?' रसोइयाने कहा—'कुछ नहीं ।' सुशीला बोली—'कुछ नहीं तो ये बेहोश कैसे हुए ? आप सच्ची बात बतला दीजिये, नहीं तो आपपर कानूनी कारवाई की जायगी ।' यह कहकर सुशीलाने उसको धतूरेके बीज दिखलाये और कहा—'यह क्यों लाये गये हैं ?' रसोइया बोला—'एक सज्जन आये थे, वे मुझको बीस रुपये तो दानस्वरूप भेंट कर गये और यह मसाला दे गये कि इसे दालमें डाल देनेसे दाल बढ़िया हो जायगी और

उसको खाकर सब प्रसन्न हो जायँगे। मैंने मसालेको देखा नहीं, कुछ तो दालमें डाल दिया था और कुछ पुड़ियामें रख दिया।'

सुशीलाने तुरंत सारी बातें अपने पतिसे कही और शीघ्र उपचार करनेके लिये निवेदन किया। मोहनलालने पण्डितजीसे कहा। सब सुनकर पण्डितजीको बड़ा खेद और आश्चर्य हुआ। उन्होंने चिकित्साके लिये उसी क्षण अच्छे वैद्योंको बुला भेजा और फिर रसोइयाको बुलाकर उसे डाँटा-धमकाया—'तुमने हम सबको मार डालनेका विचार किया था, तुमको पुलिसमें देना चाहिये।' इसपर उसने उनसे क्षमा-प्रार्थना की, तब पण्डितजीने उसको क्षमा करते हुए कहा—'भविष्यमें ऐसा काम कभी नहीं करना।' इतनेमें वैद्य आ पहुँचे और तत्काल अनुकूल चिकित्सा हो जानेसे सभी लोग बच गये। सबने सुशीलाकी प्रशंसा की।

दूसरे दिन वे वहाँसे चल पड़े। गाड़ी ज्वालापुर पहुँची। बच्चे प्यासे थे, इसलिये सुशीला उन्हें लेकर पानी पिलाने नीचे उतरी। इतनेमें गाड़ी खुल गयी और वह स्टेशनपर रह गयी। घरके लोगोंने जंजीर खींची, पर वह बिगड़ी होनेसे गाड़ी नहीं रुकी। पण्डित देवदत्तजी एवं अन्य सब लोग हरद्वार पहुँचे। शहरमें सब जगह रुकी हुई थी, इसलिये वे गङ्गाजीके किनारे तंबू डालकर उन्हींमें टिक गये; किंतु बालकों सहित सुशीलाके छूट जानेसे बड़ी चिन्तामें पड़ गये और उसकी खोज करने लगे।

इधर सुशीला घबरायी नहीं, वह बच्चोंको गोदमें लिये पैदल ही चलकर ज्वालापुरसे हरद्वार आ गयी और एक मन्दिरमें जाकर ठहर गयी। उसने विद्वान् पुजारीसे अपना सारा हाल संस्कृतमें ही कह सुनाया। पुजारीजीपर उसकी विद्वत्ताका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने उसको वहाँ ठहरनेके लिये स्थान दे दिया। तब उसने बहुत-से कागज मँगवाकर उनपर अपने ज्वालापुरसे यहाँ आकर मन्दिरमें ठहरनेकी बात लिखी और मन्दिरका पता आदि लिख दिया। पुजारीजीकी सहायतासे परोपकारी स्वयंसेवकोंद्वारा वे विज्ञापन शहरके प्रधान-प्रधान स्थानोंपर चिपकवा दिये गये तथा पुलिसमें सूचना पहुँचा दी गयी। इससे यह समाचार तुरंत ही सब जगह फैल गया। घरवाले खोज कर ही रहे थे। पता

लगते ही मन्दिरमें जाकर उसे ले आये । उसकी इस अद्‌भुत कार्यकुशलता और धीरताको देखकर घरवालोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ।

वहाँ मेलेकी भीड़के कारण उन लोगोंको शुद्ध दूध नहीं मिला और उन्हें वहाँ कुछ दिन ठहरना था, अतः दो सौ रुपयोंमें एक गाय खरीदी गयी और वे वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे । वे रातमें पारी-पारीसे जागकर पहरा दिया करते थे । एक दिनकी बात है, सुशीलाका पहरा था, रातके चार बजे थे । उस समय चोर आया और वह गायको खोलकर ले जाने लगा । सुशीला बड़ी दूरदर्शिका थी । उसने पहलेसे ही तंबूमें एक घण्टा मँगवाकर रख छोड़ा था और घरवालोंको बता रखा था कि 'कोई चोर आदि आयेगा या कोई विपत्ति आयेगी तो मैं जोरसे घण्टा बजाऊँगी।' जोरोंसे चिल्लानेपर लज्जा जाती है और सूचना न देनेपर विपत्ति नहीं हटती, चोर धन ले जाता है; इसीलिये सुशीलाने पहलेसे सोचकर यह व्यवस्था की थी। उसने चोरको देख लिया और तुरंत बड़े जोरोंसे घण्टा बजाने लगी। घण्टाकी ध्वनि सुनते ही सब घरवाले चौंक पड़े और सबने एक साथ ही हल्ला किया—'क्या है ? क्या है ?' इतनेमें चोर भाग गया। बहूकी इस बुद्धिमत्तापर सब बड़े प्रसन्न हुए।

जब कुम्भका पर्व आया, तब वे सब हरकी पैड़ीपर स्नान करनेके लिये चले। अत्यधिक भीड़ होनेके कारण कई यात्री रास्तेमें दबकर मर गये, किंतु बुद्धिमती सुशीला घरवालोंको बड़ी चतुराईके साथ भीड़से निकालती हुई सड़कके किनारे-किनारे चलकर घाटपर ले गयी। गङ्गा-स्नान करके सब लोग डेरेपर वापस आ गये । फिर एक-दो दिन बाद ही वे सब लोग प्रयाग लौट आये और अपने घरपर पहलेकी भाँति रहने लगे।

(३)

एक बार ग्रीष्मकालकी पूर्णिमाका दिन था। सुशीला अपने घरकी छतपर घूम रही थी। पड़ोसके घरकी मालकिन भी अपने घरकी छतपर आयी हुई थी। वह सम्पन्न घरकी विधवा ब्राह्मणी थी। उसके दो लड़के थे। एक १६ वर्षका और दूसरा ३ वर्षका। दोनों घरोंकी छतें बराबर होनेके कारण सुशीलाने सामने जाकर उसको नमस्कार किया। वह बड़ी ही कर्कशा थी। वह बोली-'क्यों री !

तू चार अक्षर पढ़ी है, इसीके घमंडमें मुझे चिढ़ा रही है।' सुशीला बोली— 'नहीं जी, मैं तो आपको अपनी माता और सासके समान समझकर नमस्कार करती हूँ।' वह बोली—'ठीक, तब तो तू मुझे चतुराईसे अपने बाप और ससुरकी औरत बनाना चाहती है ? तेरे उन निपूते बाप और ससुरकी दाढ़ी जलाऊँ, जो मुझे अपनी औरत बनाना चाहते हैं।' वह इस प्रकार गालियाँ देने लगी और फिर नीचे उतरकर घरके बाहर निकलकर शोर मचाने लगी। जब राह चलते और अड़ोस-पड़ोसके बहुत लोग इकट्ठे हो गये, तब वह उनसे कहने लगी—'इस छोकरी सुशीलाकी धृष्टता तो देखो, यह मुझे अपने बाप और ससुरकी औरत बनाती है।'

जो लोग सुशीलाके हितैषी थे, वे उसकी नाना प्रकारकी गालियोंको सुनकर सुशीलाके पास गये और कहने लगे कि 'तुम अपने पतिको कहकर इसकी पुलिसमें रिपोर्ट करवा दो। अदालत इससे मुचलका ले लेगी। कोई भी किसीको अनुचित गालियाँ नहीं दे सकता।' इसपर सुशीलाने बड़े विनयके साथ हाथ जोड़कर प्रेमसे उन लोगोंको समझाया—'पुलिसमें जाना भले आदमियोंका काम नहीं है। आप देखिये, भगवान्‌ने चाहा तो थोड़े ही समयमें मैं इनको प्रेमसे अपना लेती हूँ।' उसके इस सरल द्रोहरहित[२५] हितैषितापूर्ण निर्वैरताके व्यवहारको देखकर वे सब बड़े प्रसन्न होकर चले गये।

एक दिनकी बात है कि उस कर्कशाका तीन सालका बच्चा घरके बाहर सड़कपर खेल रहा था, उसी समय दो साँड़ लड़ते-लड़ते बालकके समीप आ पहुँचे। सुशीलाने यह देख लिया। वह तुरंत दौड़कर उसको अपनी गोदमें उठा लायी और पड़ोसिनके पास जाकर कहा—'अकेले बालकको सड़कपर नहीं छोड़ना चाहिये। दो साँड़ लड़ते आ रहे थे। लड़केको चोट न पहुँचा दें, इसलिये मैं इसे उठा लायी हूँ।' इसपर कर्कशा बोली—'चल री चल! इसे तू क्यों उठा लायी ? मैं आप ही ले आती।' सुशीलाने कहा—'मैं ले आयी तो इसमें मेरा क्या बिगड़ गया ?' यों कहकर लड़केको उसके पास बिठाकर वह अपने घर लौट आयी।

सुशीलाके नैहरमें एक धनी ब्राह्मण था, उसकी सुशीलापर बड़ी श्रद्धा थी।

उसने अपनी बारह वर्षकी कन्याकी सगाईके लिये सुशीलाके पास आदमी भेजा। उस कन्याकी सगाईकी बातचीत इसी कर्कशाके बड़े लड़केके साथ चल रही थी। शहरके एक आदमीने कर्कशासे कहा—'तुम्हारे लड़केकी सगाईके विषयमें पूछ-ताछ करनेके लिये सुशीलाके नैहरका ब्राह्मण उसके पास आया है।' यह सुनकर कर्कशा चौंक उठी और बोली—'वह तो मुझसे लड़ी हुई है और सदा मुझसे दुश्मनी रखती है।' यह कहकर वह सुशीलाके घरके द्वारपर छिपकर खड़ी हो गयी और सुशीला तथा उस ब्राह्मणकी परस्परकी बातचीत गुप्तरूपसे सुनने लगी।

ब्राह्मणने सुशीलासे कहा—'तुम्हारे भाईके मित्रने तुमपर विश्वास करके मुझे यहाँ भेजा है। तुम्हारे पड़ोसमें विधवा ब्राह्मणीके एक सोलह वर्षका लड़का है, उसके साथ उनकी कन्याकी सगाई करनेमें तुम्हारी क्या राय है?' सुशीला सब हाल जानती थी। उसने सोचा, दोनों ही धनी हैं। दोनोंकी ही स्त्रियाँ कर्कशा और कलहप्रिय हैं। यह सोचकर उसने ब्राह्मणसे कहा—'उनके लिये यह सगाई सब प्रकारसे अच्छी है।' ब्राह्मणने पूछा—'लड़केकी माँको तो लोग कर्कशा बतलाते हैं।' सुशीला बोली—'आजकलके समयमें स्त्रियोंमें बुद्धि कम होनेके कारण प्रायः सभी घरोंमें राग-द्वेष और कलह रहता है। इसीसे एक-दूसरेकी निन्दा करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। मेरी समझमें तो उनके लिये यह सगाई कर लेनी अच्छी है। यह संदेश लेकर ब्राह्मण वहाँसे चला गया।

कर्कशा सारी बात आद्योपान्त सुन रही थी। उसपर सुशीलाके इस बर्तावका बहुत ही अच्छा प्रभाव[२१] पड़ा। वह घरके भीतर सुशीलाके पास चली गयी और विनयसे कहने लगी— 'सुशीला! तू धन्य है। मैंने तो तेरे साथ बुरा-ही-बुरा वर्ताव किया। इसपर भी तू तो मेरा हित ही करती रहती है। बहिन! मैं तेरे इस व्यवहारको देखकर मुग्ध हो गयी। यह विद्या तूने कहाँसे सीखी है? क्या मेरा स्वभाव भी तुझ-जैसा हो सकता है? मैं तेरा संग करना चाहती हूँ। क्या मैं समय-समयपर तेरे यहाँ आ सकती हूँ?' सुशीलाने उत्तर दिया—'क्यों नहीं। यह तो आपका ही घर है। आप यहाँ पधारें, यह तो मेरे लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है। आपकी मुझपर बड़ी ही दया और प्रेम है।' वह बड़ी प्रसन्न

हुई और समय-समयपर सुशीलाके घर जाने लगी। सुशीलाके संगसे उसपर भी अच्छा असर होने लगा तथा थोड़े ही समय बाद वह भी सुशीलाके समान सुन्दर स्वभाववाली बन गयी।

कर्कशा पड़ोसिनमें ऐसा अद्भुत परिवर्तन देखकर सुशीलाके उन हितैषियोंपर भी बड़ा अच्छा असर पड़ा, जो पहले उसकी रिपोर्ट पुलिसमें करनेके लिये सुशीलासे अनुरोध करते थे, वे अब सुशीलाके पास आकर कहने लगे—'सुशीला ! बड़े आश्चर्यकी बात है, तुमने तो इसको अपने समान ही बना लिया।' सुशीला बोली—'यह सब ईश्वरकी कृपा है।' उन हितैषियोंने फिर कहा— 'धन्य है तुमको। हम जो इस कर्कशाकी पुलिसमें रिपोर्ट करनेको कहते थे, वह हमारी गलती थी।'

कुछ ही दिनों बाद कर्कशाके लड़केका विवाह निश्चित हुआ, तब वह सुशीलाके घरके सभी पुरुषोंको आग्रह करके विवाहमें ले गयी। घरके सभी पुरुष तीन दिनोंके लिये बारातमें चले गये। इसी बीचमें उस मुहल्लेमें एक बनियेके यहाँ चोरी हो गयी। अतः उस बनियेको लेकर कोतवाल पण्डितजीके घरमें आ घुसे और बोले कि हम आपके घरकी तलाशी लेने आये हैं। यह सुनकर घरकी सब स्त्रियाँ घबरा गयीं, तब गौतमी बोली—'बहू ! पुलिसवाले आये हैं, इनका आना अच्छा नहीं। इन लोगोंको कुछ रुपये-पैसे देकर विदा कर दो।' सुशीलाने कहा—'आप चिन्ता न करें, मैं स्वयं ही सब ठीक कर लूँगी।' फिर सुशीला उस बनियेसे कहने लगी—'क्यों जी ! क्या आप हमारे घरमें पुरुषोंकी अनुपस्थितिमें तलाशी करवाकर हमारी बेइज्जती कराना चाहते हैं ? क्या आपको अपने चोरीके मालका हमारे घरपर संदेह है ?' बनियेने कहा—'नहीं देवीजी ! मैं तो ऐसा नहीं चाहता। मुझे तो ये पुलिसवाले ही यहाँ ले आये।' फिर सुशीलाने निर्भीकतापूर्वक कोतवालसे कहा—'क्यों कोतवालजी ! क्या आप हमारे घरकी तलाशी लेने आये हैं ?' कोतवाल बोला—'कल रातको इस बनियेके यहाँ चोरी हो गयी, अतः हमलोग तलाशी लेनेके लिये यहाँ आये हैं।' सुशीलाने निर्भयतासे कहा—'बहुत अच्छा ! आप मुझे लिखकर दे दीजिये कि मैं अपनी स्वतन्त्रतासे तुम्हारे घरकी तलाशी ले रहा हूँ और यह भी बताइये कि तलाशी लेनेपर कुछ

नहीं पाया जायगा तो हमारी इस बेइज्जतीका दावा हम किसपर करें, उसके जिम्मेदार कौन होंगे ?' यह सुनकर कोतवाल घबराया और बोला—'यह बनिया ही मुझे यहाँ ले आया है और यहाँ आकर अस्वीकार करता है।' यों बात बनाकर वे सब वहाँसे चल दिये। जब घरके पुरुष विवाहसे लौटे तो इस घटनाको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए तथा सुशीलाका और भी अधिक आदर-सत्कार करने लगे।

(४)

इस प्रकार घरके पुरुषोंके द्वारा सुशीलाका बड़ा आदर-सत्कार होने लगा। सुशीलाके इस बढ़ते हुए आदर-सम्मानसे घरकी अन्य स्त्रियोंके मनोंमें ईर्ष्याकी आग लग गयी। वे सब उससे मन-ही-मन कुढ़ने लगीं और उसे नीचा दिखानेके लिये उसमें छिद्रान्वेषण करने लगीं; किंतु सुशीलामें तो कोई दोष था ही नहीं; वह तो सबकी सेवा करती और सबके गुणोंका बखान किया करती, किसीके अवगुणोंकी ओर तो वह कभी देखती ही नहीं। इसलिये उन लोगोंको कोई साधन नहीं सूझता था। घरकी स्त्रियोंकी इस मनोवृत्तिको देखकर रसोइया और नौकरने इस परिस्थितिसे लाभ उठानेकी सोची।

एक दिन घरकी सब स्त्रियोंने रसोइया और नौकरके साथ मिलकर सुशीलाको नीचा दिखानके लिये षड्यन्त्र रचा। एक योजना बनायी गयी और उसीके अनुसार देवी रामदेवीने यह झूठी बात फैलायी कि मेरा स्वर्णका कङ्कण चोरी हो गया और मेरा संदेह सुशीलापर है। घरके पुरुषोंको इस बातपर विश्वास नहीं हुआ। कुछ ही दिन बीतनेपर बहिन रोहिणीने यह झूठा प्रचार किया कि मेरा लहँगा और एक साड़ी कलसे गायब है। तब पुरुषोंको कुछ आश्चर्य हुआ कि रोज-रोज घरमें यह चोरी कैसे होने लगी। जाँच-पड़ताल की गयी, पर कुछ पता नहीं चला। फिर दो-चार दिनों बाद ही भगवानदेवीने कहा कि मेरा सोनेका हार कल रातसे गायब है। घरवालोंने बहुत छानबीन की, किंतु कुछ भी पता नहीं चला। चलता भी कैसे, जिसकी चीज होती, वही उसे छिपाकर रख देती। घरकी सभी स्त्रियोंने अपनी-अपनी चीजोंका सुशीलापर ही संदेह बतलाया।

वहाँ उसी मुहल्लेमें भक्तिदेवी नामकी एक बुढ़िया स्त्री रहती थी, जिसका नैहर सुशीलाके पिताके पड़ोसमें ही था और सुशीलाकी माँके साथ उसका बड़ा

प्रेम था।

नौकरसे यह सूचना मिली कि भक्तिदेवी कल अपने नैहर जानेवाली है। इसपर नौकर, रसोइया और सब स्त्रियोंने मिलकर एक जालसाजी रची। जिन चार चीजोंके खोनेकी बात फैलायी गयी थी, वे चारों चीजें रोहिणीने एक थैलीमें रखकर उसे सीकर उस बुढ़िया भक्तिदेवीके पास रसोइयाके हाथ भेजी और साथमें एक चिट्ठी लिखकर दी; जिसमें यह लिखा कि 'माताजीसे सुशीलाका नमस्कार। इस भक्तिदेवीके हाथ यह थैली भेजी जा रही है। इसका किसीको पता नहीं लगना चाहिये।' रसोइयाने भक्तिदेवीके पास जाकर कहा—'लो, सुशीलाने अपनी माँके पास यह थैली भेजी है और कहा है कि मेरी माँको ही देना, किसी दूसरेको नहीं।' यह कहकर रसोइया घर आ गया।

उसी रात्रिमें रोहिणीने सुशीलाको छोड़कर घरकी उन सभी स्त्रियों और पुरुषोंको एकत्र करके यह बात कही कि कई दिनोंसे जो अपने घरकी चीजें चोरी हो रही हैं, उनके लिये हमलोगोंका सुशीलापर ही संदेह है। अपने मुहल्लेमें रहनेवाली बुढ़िया भक्तिदेवी सुशीलाकी माँसे विशेष प्रेम रखती है। कल वह अपने नैहर जानेवाली है। उसके साथ सुशीलाने अपनी माँके पास शायद कुछ भेजा है। कल ही प्रातःकाल भक्तिदेवी जायगी और अपने घरके आगे होकर रास्ता है ही। तब उसे रोककर पूछना चाहिये और सब चीजें देखनी चाहिये कि सुशीलाने क्या-क्या चीजें भेजी हैं।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही सुशीलाका पति मोहनलाल अपने घरके द्वारपर बैठ गया और भक्तिदेवीकी प्रतीक्षा करता रहा। जब भक्तिदेवी थैली लिये जा रही थी, तब मोहनलालने उसे रोका और कहा—'बुढ़िया माई! क्या लिये जा रही हो?' भक्तिदेवीने कहा—'सुशीलाने अपनी माँके पास एक चिट्ठी और एक थैली भेजी है।' मोहनलाल बोला—'उसे नहीं भेजना है, वापस दे दो।' यह कहकर उसने बुढ़ियासे वह थैली और चिट्ठी ले ली और कहा—'अब तुम जाओ।'

इसके बाद मोहनलालने जहाँ घरके सब पुरुष थे, वहाँ वह थैली और चिट्ठी ले जाकर रख दी और बुढ़ियाने जो बात कही, वह सब भी कह दी। थैलीको खोलकर देखा गया तो जो चार चीजें चोरी हो गयी थीं, वे उसके अंदर मिलीं।

फिर जब चिट्ठी खोलकर पढ़ी गयी, तब सब आग-बबूले हो गये। मोहनलाल क्रोधमें भरकर घरमें गया और सुशीलाको बड़े बुरे शब्दोंमें डाँटने लगा—'बदमाश ! चली जा हमारे घरसे बाहर। तूने ही घरकी सब चीजें चुरायी हैं, तूने जो थैली और चिट्ठी भक्तिदेवीके हाथ अपनी माँके पास भेजनेका प्रबन्ध किया था, वह सब पकड़ी गयी। हम किसी हालतमें तुझ-जैसी चोट्टीको घरमें रखना नहीं चाहते। जहाँ तेरी इच्छा हो वहीं चली जा।' सर्वथा मिथ्या और अप्रत्याशित आरोपको सुनकर सुशीला काँप उठी, उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे; उसने बड़े ही करुण शब्दोंमें कहा—'स्वामिन् ! आप विश्वास करें, मैंने यह काम नहीं किया है। भगवान् साक्षी हैं। आप शान्त होकर सारी बातें सोचिये। जरा उस बुढ़ियासे तो पूछिये कि उसको थैली और चिट्ठी कौन दे गया था। न मैंने कोई चिट्ठी लिखी और न मैंने कोई थैली ही भक्तिदेवीको दी है। आप उस चिट्ठीके अक्षरोंको तो देखिये कि वे किसके हैं। आपको इसकी पूरी-पूरी जाँच-पड़ताल करनी चाहिये।' पर मोहनलाल तो इस समय क्रोधान्ध था। मेरी पत्नी ऐसा कुकार्य करती है, इससे उसके मनमें बड़ा क्षोभ था। क्रोधमें विवेक नष्ट हो ही जाता है। जाँच-पड़ताल कौन करे—प्रमाण सामने है। उसने झुँझलाकर कहा—'तुझे सफाई देते शर्म नहीं आती। तूने तो मुझपर अमिट कलंक लगा दिया। मेरे मुखपर वह कालिख पोत दी, जो कभी धुल नहीं सकती। मैं तेरा मुँह नहीं देखना चाहता। जा, तुरंत निकल जा यहाँसे।' सुशीलाने गिड़गिड़ाकर बहुत कुछ कहा, पर उसने एक भी नहीं सुनी और उसे घरके बाहर निकाल दिया। इन्द्रसेन उस समय चार वर्षका था और इन्द्रसेनी छः वर्षकी, उनको उनकी दादीने अपने पास रख लिया। षड्यन्त्रकारी रसोइया, नौकर और घरकी स्त्रियोंको अपनी सफलतापर बड़ा आनन्द था। वे हँस रहे थे और उछल-उछलकर कह रहे थे—'हम तो पहले ही जानते थे कि यह इतनी बड़ी-बड़ी बातें बनानेवाली निश्चय ही नीच है, पर इसने तो सबपर जादू ही डाल दिया था, आज सारी पोल खुल गयी।'

ऐसा अनुचित व्यवहार देखकर भी सुशीलाके हृदयमें कोई क्रोध[१२] नहीं आया और न कोई प्रतिहिंसाका[१०] भाव ही उत्पन्न हुआ। वह किसीपर भी दोष न लगाकर अपने प्रारब्धको कोसने लगी। उसने सोचा—'जब मुझ निरपराधिनीके

ऊपर कलंक लगाकर मेरे पतिदेव ही मुझे त्याग रहे हैं, तब ऐसी हालतमें मेरे जीनेसे ही क्या प्रयोजन है?' किंतु शास्त्रोंने बतलाया है कि स्त्रीके लिये पति ही तीर्थ, पति ही व्रत और पति ही सब कुछ है, ऐसा समझकर मुझे उनके विधानमें ही संतुष्ट रहना चाहिये और हर समय धैर्य रखना चाहिये। विपत्ति तो सभी मनुष्योंपर आया ही करती है। समझदार मनुष्यको अपने धीरज और धर्मका कभी किसी भी हालतमें त्याग नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

(२।५६)

'दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपद काल परिखिअहिं चारी॥

अतः दुःखके आवेशमें आकर आत्महत्या करना कोई बुद्धिमानी नहीं है। उससे न इस लोकमें और न परलोकमें ही सुख हो सकता है। बल्कि इस समय जो मुझे घरसे निकाले जानेका दुःख है, आत्महत्या करनेके समय तो इससे भी अधिक दुःख होगा। जो मनुष्य मरनेके लिये नदीमें प्रवेश करता है, उसे उस समय इतना अधिक दुःख होता है कि वह फिर जीनेके लिये बाहर निकलनेका प्रयत्न करता है। इसी प्रकार मरनेके लिये विष खानेवाला भी पुनः जीनेके लिये विष उतारनेका प्रयास करता है और शरीरपर मिट्टीका तेल छिड़ककर मरनेवाला व्यक्ति तो चिल्ला-चिल्लाकर सिसक-सिसककर मरता है। उनको केवल इस लोकमें ही दुःख होता हो—इतना ही नहीं, मरनेके बाद वे अन्धकारमय नरकोंमें जाकर उससे भी घोर कष्ट और दुर्गतिको प्राप्त होते हैं।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

(ईशावास्य० ३)

'अज्ञान और दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आवृत जो असुरोंके प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ और नरकरूप लोक हैं, आत्माकी हत्या करनेवाले जो कोई भी मनुष्य हों, वे मरकर उन्हीं लोकोंमें बारंबार जाते हैं।'

यही नहीं, उसके नैहर और ससुराल दोनों कुलोंको सदाके लिये घोर कलंक लग जाता है। यह मेरे लिये बहुत ही लज्जाकी[१९] बात है। उत्तम स्त्रियोंके लिये तो आत्महत्याका संकल्प होना ही कलंक है। अतः मैं अपने जीवनको कभी नष्ट नहीं करूँगी। ईश्वरके घरपर न्याय है और मैं सच्ची हूँ। मैं जीती रहूँगी तो एक दिन ऐसा आयेगा कि मेरा यह सब कलंक अपने-आप दूर हो जायगा। झूठी बात कहाँतक टिकेगी? मेरी तो बात ही क्या है, भगवान् श्रीकृष्णपर भी मणिकी चोरीका झूठा कलंक लग गया था, किंतु वह कायम नहीं रहा। ऐसा विचारकर उसने अपने हृदयमें धीरज[२३] धारण किया और वह स्वतः प्राप्त हुए कष्टको सहन करके स्वधर्मपालनरूप तपस्यामें संलग्न हो गयी एवं अपने शरीर-निर्वाहका न्याययुक्त उपाय सोचने लगी।

(५)

सायंकाल होनेपर वह एक धर्मशालामें जाकर ठहर गयी। वह नित्य-निरन्तर नियमपूर्वक परमात्माका[३] ध्यान करती, जिसके प्रभावसे उसका अन्तः करण[२] पवित्र होता गया। वह मन[५]-इन्द्रियोंका संयम करके नित्य गीता-रामायणका स्वाध्याय[७] और भगवान्के पवित्र नामोंका जप किया करती तथा बिना किसी द्रोह-द्वेषके वह मन-ही-मन अपने पतिदेवके विचार शुद्ध हों, इसके लिये कातर प्रार्थना करती।

उसकी जेबमें घरकी रोकड़के हिसाबके पाँच रुपये थे, उन्हींसे उसने अपने भावी जीवनका कार्यक्रम सोचा। दूसरे दिन वह चार आनेमें सूआ, पौने दो रुपयेमें रंगीन रेशमी सूत, आठ आनेमें अपने लिये आटा दाल और मसाला, चार पैसेमें दोने-पत्तल तथा दो रुपये सात आनेमें एक बाल्टी और तसला खरीदकर ले

आयी। उसने तसलेमें आटा गोंदा, उसे पत्तलपर रख दिया। फिर तसलेको उलटकर उसीपर रोटी सेंक ली। रोटी पत्तलपर रखकर तसलेको धोकर उसीमें दाल पका ली । इस प्रकार अपना भोजन तैयार कर लिया। भोजन करनेके बाद दिनमें उसने सूतके गंजी और मोजे बना लिये; जिनको बाजारमें बेचकर साढ़े तीन रुपये कर लिये। रोज इसी प्रकार वह पौने दो रुपये कमाने लगी, जिसमें बारह आनेमें दोनों समयके भोजनका सामान ले आती और एक रुपया जमा रख लेती। पंद्रह दिनोंमें पंद्रह रुपये हो जानेपर उसने पाँच रुपये मासिक किरायेमें एक घर ले लिया, पाँच रुपयेके रसोईके बरतन और खरीद लायी तथा पाँच रुपयेका सूत ले आयी।

इसके बाद सुशीलाने शहरमें सूचना कर दी कि साड़ी, लहँगा, ओढ़ना, चद्दर, दुपट्टा आदिपर किसीको बेल-बूटे कढ़ाने, दोहे, चौपाई, श्लोक आदि लिखवाने हों तो मेरे घरपर भेज दें। लोग उसके पास भेजने लगे। उसके लिखे हुए बड़े ही सुन्दर और आकर्षक दोहे, चौपाई, श्लोक और बेल-बूटे आदिको देखकर लोग उसकी शिक्षा और कारीगरीपर मुग्ध होने लगे। सुशीलाके इस कार्यसे डेढ़ सौ, दो सौ रुपये महीनेकी आय होने लगी। सालभरके बाद उसने एक बड़ा मकान किरायेपर लेकर उसमें एक कन्या-पाठशाला खोल दी, जिसमें बहुत-सी लड़कियोंको बिना शुल्कके ही वह व्याकरण, गीता, रामायण आदि हिन्दी-संस्कृतके ग्रन्थ पढ़ाने लगी। वह उनको विद्याके साथ कारीगरीका काम भी सिखाती थी। लड़कियाँ उसके पास जो चीजें तैयार करतीं, उनको वह बाजारमें बिक्री कर दिया करती, जिससे प्रतिमास उसके दो सौ रुपयोंकी बचत होने लगी। इस प्रकार सालभरमें उसका सब खर्च लगकर उसके पास दो हजार रुपयोंकी बचत हो गयी।

उसके बाद उसने थोड़ी जमीन खरीदकर एक कच्चा घर बना लिया और एक गाय खरीद ली तथा एक नौकर भी रख लिया जो गायका तथा घरका सब काम-काज कर देता। इस प्रकार करते-करते दूसरे वर्ष उसके पास पाँच हजार रुपये बच गये।

तीसरे वर्ष वह निजका रेशम, सूत और कपड़ा खरीदकर उनपर गीता-

रामायणके श्लोक, दोहे, चौपाई और सुन्दर-सुन्दर बेल-बूटे बनाकर सत्यता [११] और न्यायपूर्वक क्रय-विक्रय भी करने लगी तथा दूसरे लोग जो अपने कपड़ोंपर बेल-बूटे, दोहा-चौपाई लिखवाने आते, उनका काम भी करने लगी। उसके सत्य, न्याय, विनय और प्रेमयुक्त व्यवहारका जनतापर बहुत अच्छा असर पड़ने लगा। इस प्रकार व्यापार करते-करते उसके पास पंद्रह हजार रुपये हो गये एवं उसके सब तरहका खर्च लगकर प्रतिमास करीब एक हजार रुपये बचने लगे। इस तरह रुपये बढ़ जानेसे शहरमें उसकी बहुत ही ख्याति हो गयी। फिर वह एक धनी व्यक्तिकी तरह बहुत ही इज्जतके साथ रहने लगी। उसने अपनी जमीनपर एक पक्का मकान भी बना लिया तथा कई आदमी रख लिये और उसका व्यापार खूब चलने लगा। उसके चरित्र और गुण तो सर्वथा शुद्ध, सात्त्विक और आदरणीय थे ही, उसके कार्य-व्यवहारसे भी ख्याति फैल गयी। उसके हृदयमें दीन, दुखी, अनाथ, गरीब, अपाहिज लोगोंके प्रति बड़ी ही दया [१६] थी। इस कारण वह उनको आवश्यकतानुसार अन्न-वस्त्र आदिका निष्कामभावसे दान [४] करने लगी, वह नित्य रसोई बनाकर भगवान्‌के भोग लगानेके बाद बिना मन्त्रोंके बलिवैश्वदेव [६] करती और फिर पहले अतिथियोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करती।

(६)

इधर साध्वी सुशीलाको घरसे निकाल देनेके कारण शहरमें उसके सास-ससुर और जेठ-जेठानी आदि सभी लोगोंकी निन्दा होने लगी तथा घरमें आपसकी अनबन और विवेककी कमीके कारण धीरे-धीरे घरकी सम्पत्ति नष्ट होने लगी।

एक दिनकी बात है कि बहिन रोहिणीके पास उसी मुहल्लेकी एक स्त्री आयी और बोली कि आज मुझे पचास रुपयोंकी बहुत ही आवश्यकता है। यदि तुम रुपये दे सको तो मैं तुम्हें उनका दो रुपये प्रतिशत ब्याज दे दूँगी। उसे भले घरकी स्त्री समझकर रोहिणीने पचास रुपये दे दिये। वह रुपये लेकर घर चली गयी। कुछ देर बाद ही वह वापस आयी और एक रुपया देकर कहने लगी—'आपने पचास रुपयोंकी जगह इक्यावन रुपये गिन दिये हैं, इसलिये मैं वापस आयी हूँ।

अपना एक रुपया ले लें।' इसका रोहिणीपर अच्छा असर पड़ा। उसने रुपया ले लिया और सोचा—यह बड़े घरानेकी अच्छी स्त्री है। पंद्रह दिन ही बीते थे कि उसने वे पचास रुपये और उनका एक महीनेका ब्याज एक रुपया रोहिणीको दे दिया। तब रोहिणीने कहा—'आप ये रुपये कुछ दिन और रख सकती हैं।' वह बोली—'मुझे जरूरत होगी तब ले लूँगी अभी जरूरत नहीं है।' ऐसा कहकर वह चली गयी।

कुछ दिनोंके बाद वह फिर आयी और बोली—'आज मुझे दो सौ रुपयोंकी आवश्यकता है, उधार दे सकती हैं क्या ?' रोहिणीने झट रुपये निकालकर दे दिये। दस दिन बाद ही उस स्त्रीने दो सौ रुपये और उनके एक महीनेके ब्याजके चार रुपये, इस प्रकार दो सौ चार रुपये लौटा दिये। इससे रोहिणीके दिलमें और भी विश्वास जम गया।

कुछ दिनोंके पश्चात् वह फिर एक दिन आयी और रोने लगी। रोहिणीके पूछनेपर उसने कहा—'हमारे कुटुम्बमें विवाह है। क्या करूँ ? मेरा सारा गहना हमारे घरवालोंने बन्धक रख छोड़ा है और बिना गहने विवाहमें जानेसे बेइज्जती होती है, अतः आप तीन दिनको विवाहमें पहननेके लिये कृपापूर्वक मुझे अपना गहना दे दें तो हमारी इज्जतकी रक्षा हो जाय।' रोहिणीको उसपर विश्वास था ही, उसने अपना सब गहना निकालकर उसे दे दिया। वह स्त्री गहना लेकर अपने घर चली गयी। किंतु जब वह पाँच दिनोंतक लौटकर नहीं आयी तब रोहिणी, उसके घरपर गयी और उसने पूछा—'बहिन ! तुम्हारे विवाहका काम हो गया क्या ?' उस स्त्रीने कहा—'हमारे यहाँ तो किसीका विवाह था ही नहीं।' रोहिणी बोली—'आपके कुटुम्बमें विवाह था, उसके लिये आप मेरे पास गहना लेने गयी थीं न ?' उसने उत्तर दिया—'हमारे न तो कोई विवाह था, न कोई गहनेकी आवश्यकता ही थी। हमारे अपने पास ही बहुतेरे गहने हैं, हम तुम्हारे पास गहनेके लिये क्यों जातीं ?' रोहिणी बोली—' आप मेरे पास कई बार गयीं, रुपये-पैसोंका भी आपसमें कई बार लेन-देन हुआ, फिर आज आप इस तरह मेरे सामने झूठी बातें क्यों बोल रही हैं ?' उसने कहा—'वाह री-वाह ! झूठी बातें मैं बोल रही हूँ कि तू ? हम तो स्वयं रुपयोंका ब्याज उपजाते हैं, हमारे तो

रुपयोंकी कोई कमी नहीं है, मैं क्यों जाती तुम्हारे पास रुपया लाने ? हमारे यहाँ तो रुपये-पैसोंका काम पड़ता है तो पुरुष ही सब किया करते हैं। हमारे घरके पुरुष यदि ये बातें सुन लेंगे तो तुम्हारी बेइज्जती करेंगे।'

उसकी बातें सुनकर रोहिणीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपने घर लौट आयी और दुःखित हृदयसे अपने पिता और भाइयोंके सामने रोने लगी। उसकी बातें सुनकर उसके पिता और भाईने पूछा—'उस स्त्रीको तुमने जो गहना दिया है, उसकी कोई लिखा पढ़ी है क्या ? और उस समय कौन हाजिर था ?' रोहिणी बोली—'मैंने तो उसके विश्वासपर गहना दे दिया, कोई लिखा-पढ़ी नहीं की और न उस समय वहाँ कोई दूसरा था ही।' पिता और भाइयोंने कहा—'जब उसकी कोई लिखा-पढ़ी और गवाही ही नहीं, तब इसका कोई उपाय नहीं। ऐसा काम तुमको हमसे बिना पूछे नहीं करना चाहिये था।' सब लोग सिर पीटकर रह गये !

एक दिनकी बात है, पण्डित देवदत्तजीके पास एक साधु-वेषधारी ठग आया। पण्डितजीने उसकी बहुत सेवा-शुश्रूषा की। साधुने पण्डितजीसे पूछा—'योगक्षेम ठीक चलता है न ? पण्डितजी बोले—'जबसे छोटी बहू घरसे चली गयी, तबसे घरमें कलह-क्लेश रहते हैं। संसारमें हमारी निन्दा होनेसे जीविका भी प्रायः नष्ट हो गयी और सट्टे-फाटकेमें घाटा लग जानेके कारण लड़कोंका व्यापार भी बंद हो गया तथा मोहनलालके व्यापारका कोई संयोग लगा नहीं।' साधुने कहा—'मैं तुमको एक रसायन विद्या बतला देता हूँ, जिससे तुम प्रतिदिन दो मासा सोना बना लिया करो, पर अधिक लोभ नहीं करना।' साधुवेषधारीने फिर कहा—'अच्छा ! तुम बाजारसे चार आनेका संखिया, चार आनेका गन्धक, चार आनेका पारा, एक कुठाली और कुछ कोयला ले आओ।' वे तुरंत ले आये। उस ठगने अपनी झोलीसे चौलाईके पत्ते निकालकर उसके रससे संखिया, गन्धक और पाराके पुट देकर उसको पण्डितजीके हाथसे कुठालीमें डलवा दिया तथा कोयलोंसे कुठालीको भरकर गोइठोंसे आग जला दी, जिससे कोयले जलने लगे। ज्यों-ज्यों कोयले जलते गये, त्यों-त्यों पण्डितजी उसमें और कोयले डालते गये। जो कोयले डाले जा रहे थे, उनमेंसे उस ठगने पण्डितजीकी दृष्टिको बचाकर एक कोयलेके अंदर

छेदकर उसमें दो माशा सोना पहलेसे ही भर दिया था। कोयला गिराते-गिराते जब स्वर्णवाला कोयला कुठालीमें पड़ गया तब उसने और कोयला डालना बंद करवा दिया। संखिया, गन्धक और पारा तो उड़ गया और कोयले जल गये, केवल दो माशा सोना था, वह कुठालीमें रह गया।

स्वर्णको देखकर पण्डितजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। साधुवेषधारी ठग चला गया। उसके जानेके बाद पण्डितजीने संखिया, पारा और गन्धक आदिका काफी स्टाक कर लिया तथा प्रतिदिन साधुरूपधारी असाधुके कहे अनुसार करने लगे, पर बनता-बनाता कुछ नहीं। एक दिन उसीको घरके सामनेसे जाते देखकर पण्डितजी उसके चरणोंमें गिर गये और उसको घरपर लाकर बड़ी सेवा की। साधुवेषधारीने पूछा—'योगक्षेम ठीक चलता है न?' पण्डितजीने कहा—'नहीं! आपने तो मुझसे कोई छिपाव नहीं किया, परंतु मेरे भाग्यकी बात है कि प्रतिदिन संखिया, पारा और गन्धक फूँकता हूँ, पर होता कुछ नहीं।' साधुवेषधारी बोले—'अच्छा! आज हमारे सामने तुम अपने-आप सब विधि करो; कोई गड़बड़ी होगी तो हम तुमको बतला देंगे।' जब पण्डितजी भीतरसे सब सामान लाने गये, तब बाबाजीने एक कोयलेके अंदर छेदकर दो माशा स्वर्ण उसमें रख दिया। सामग्री तो सब पण्डितजीके पास थी ही, शीघ्र ही लेकर आ गये तथा गन्धक, पारा और संखियाको चौलाईके रसकी भावना देकर कुठालीमें डाला और कुछ कोयला डाल दिया। ज्यों-ज्यों कोयला जलता जाता, त्यों-त्यों पण्डितजी चिमटेसे और कोयलोंको उठा-उठाकर कुठालीमें डालते जाते। वह ठग अलग दूर बैठा देख रहा था। उसने जब देखा कि स्वर्णवाला कोयला भी कुठालीमें शामिल हो गया है तो उसने कहा—'पूरा एक घंटा हो गया है, अब सोना बन जाना चाहिये। तुम उठकर देखो, अब और कोयला मत डालो।' थोड़ी देरमें कोयले सब जल गये। संखिया, पारा, गन्धक सब उड़ गया। केवल दो माशा सोना कुठालीमें रह गया। पण्डितजी सोनेको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'महाराज! अब तो मैं बिलकुल समझ गया!' तब वह ठग वहाँसे चला गया।

पण्डितजी प्रतिदिन संखिया, पारा और गन्धक फूँकते रहे, पर बनता-बनाता

कुछ नहीं। फिर पाँच-सात दिन बाद वही साधु दरवाजेके आगे सड़कपर आता दिखलायी दिया। पण्डितजी दौड़कर उसके चरणोंमें गिर गये। उसने पूछा—'अब तो गृहस्थीका काम ठीक चलता है न ?' पण्डितजीने कहा—'कुछ नहीं। आपने तो सब बातें बतला दीं, हमारे हाथसे भी कराकर दिखा दिया,परंतु होता कुछ नहीं ! न मालूम क्या बात है ? आपके सम्मुख तो आपके प्रभावसे हो जाता है, आप नहीं रहते तब नहीं होता।' वह बोला—'हम प्रतिदिन तो आ नहीं सकते। लो, हम एक साथ ही तुम्हारे लिये इतना सोना बना देते हैं कि तुम्हारे जन्मभर काम आवे। तुम्हारे घरमें जितना सोना है, सब ले आओ। सब सोना एक हँडियामें डालकर आगपर चढ़ा दो तथा उस हँडियाको जलसे भर दो और तुम्हारे पास जितना कुछ गन्धक, पारा, संखिया है, वह सब उसमें डाल दो। फिर उस हँडियाके ऊपर एक दूसरी हँडिया जलसे भरकर रख दो और उन दोनोंकी सन्धिमें मिट्टीकी खाम लगा दो। आठ पहरतक उसके नीचे आग लगाते रहो। उसके बाद खोलकर देखोगे तो सोना दुगुना मिल जायगा।'

पण्डितजीने प्रसन्नचित्त हो अपनी स्त्रीका सारा-का-सारा गहना एक हँडियामें भरकर जैसे उसने बतलाया, वैसे ही सब क्रिया की। किंतु ऊपरकी हँडियामें जल कम रहा, अतः वे जल लानेके लिये भीतर गये। पीछेसे बाबाजीने झट हँडियासे सारा गहना निकालकर अपनी झोलीमें रख लिया और उसमें उतने ही वजनके कंकड़-पत्थर भर दिये तथा हँडियामें पहलेकी तरह ही मिट्टीकी खाम लगा दी। इतनेमें ही पण्डितजी जल लेकर आ गये और ऊपर रखी हुई हँडियामें जल भर दिया। हँडिया कुछ टेढ़ी हो गयी थी, अतः पण्डितजीने उसे उठाकर सीधी कर दी। उठाते समय उनको हँडिया पहलेकी तरह ही भारी मालूम दी।

बाबाजी दो-तीन घंटे तो बैठे रहे, फिर कहने लगे कि 'कल हम इसी समय आकर हँडियाकी खाम खोल देंगे, तब दुगुना सोना मिल जायगा।' यह कहकर वे चल दिये। दूसरे दिन समयपर पण्डितजी बाबाजीकी प्रतीक्षा करते रहे; किंतु बाबाजी दिनभर नहीं आये। आते कहाँसे, वे तो अपना काम बनाकर चम्पत हो गये थे। तब तीसरे दिन पण्डितजीने स्वयं ही खाम खोली तो उसमें सब कंकड़-पत्थर निकले। पण्डितजीको बड़ा संताप हुआ, उन्होंने सारा हाल अपने

घरवालोंसे कहा। सब लोग यह सुनकर दुखी हुए। साधुकी बहुत खोज-खाज की; किंतु उसका कुछ भी पता नहीं लगा। वह साधु थोड़े ही था, वह तो समाजमें सच्चे साधु-संन्यासियोंपर भी संदेह उत्पन्न करा देनेवाला धूर्तशिरोमणि चोर था।

एक दिनकी बात है, उनके मुहल्लेमें लाल कपड़ेवाली एक ठगिनी आयी और उसने वहाँ एक मकान किरायेपर लेकर अपना अड्डा जमा लिया। उसने अपनेको यन्त्र-तन्त्र-मन्त्रोंमें सिद्धिप्राप्त योगिनी बतलाया। उसके पास स्त्रियाँ कोई रोग-निवारणके लिये, कोई पुत्रके लिये, कोई धनके लिये, कोई अपने लड़के-लड़कियोंकी विवाह-शादीके लिये—इस प्रकार अनेक कामनाओंको लेकर आने लगीं। वह योगिनी किसीके डोरा, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र बाँध देती और किसीसे टोना कराती। इस प्रकार कराकर वह उनकी कार्य-सिद्धिके लिये उनमेंसे किसीको सालभरकी, तो किसीको छः महीनेकी और किसीको दो महीनेकी अवधि दे दिया करती। इस प्रकारकी धूर्तताद्वारा वह भोली-भाली स्त्रियोंसे गहने, कपड़े और रुपये ठगने लगी।

एक दिन रामदत्तकी स्त्री भगवानदेवी भी उसकी प्रशंसा सुनकर उसके पास पहुँच गयी और कहने लगी—'माताजी ! मेरे कोई लड़का नहीं है, इसलिये ऐसा कोई उपाय बतलाओ, जिससे मेरे सालभरमें लड़का हो जाय।' योगिनीने कहा—'एक महीनेके अंदर ही तुम्हारे गर्भ रह जायगा। आनेवाले शनिवारकी रातको मैं तुमसे एक टोना कराऊँगी। तुम उस रातको दस बजे यहाँ आना। टोनेकी सामग्री तो सब हमारे पास मिल जायगी, तुम केवल गहने-कपड़े पहनकर सोलह श्रृंगार करके शनिवारकी रातको मेरे पास चली आना।' भगवानदेवीने वैसा ही किया। वह शनिवारकी रातमें सज-धजकर उसके पास गयी। योगिनीने उसके सब गहने-कपड़े खुलवाकर एक कोठरीमें रखवा दिये और कोठरीमें बंद करके ताला लगाकर चाभी भगवानदेवीको सौंप दी। जब रात्रिके ठीक बारह बजे, तब योगिनी सिंदूर, तेल, मिट्टीका बरवा और तिकटी लेकर भगवानदेवीके साथ चौराहेपर गयी। चौराहेपर जाकर उसने तिकटीपर बरवा टिकाकर उसे बतलाकर कहा—'तुम इस मन्त्रका यहाँ एक घंटे जप करती रहो। रातका समय है, घर सूना है, मैं घरकी रखवालीके लिये जाती हूँ। एक घंटेके बाद इस बरवेको लेकर

मेरे पास चली आना।'

योगिनी मकानपर पहुँची और कोठरीके तालेमें दूसरी चाभी लगाकर उसमें जो गहने-कपड़े रखे थे, सब लेकर वहाँसे चल दी। जब भगवानदेवी एक घंटेके बाद उसके घरपर आयी, तो देखा कि वहाँ योगिनी नहीं है और कोठरी खुली पड़ी है। कोठरीमें गहने-कपड़े कुछ भी नहीं हैं। यह देखकर वह रोने लगी। वह दुःखित हृदयसे लज्जित होकर अपने घरपर लौट आयी तथा घरवालोंको अपनी सारी दुःखकी कहानी कही। घरवालोंने उसको बहुत फटकारा। इसके बाद उन्होंने योगिनीकी बहुत खोज की, किंतु कुछ भी पता नहीं चला। तब मकान-मालिकसे उसका पता पूछा। मकान-मालिकने कहा—'हमको तो उसने एक महीनेका भाड़ा अग्रिम दे दिया था और हमारे यहाँ तो प्रतिदिन ही ऐसे मुसाफिर आते-जाते रहते हैं। हमको क्या पता कि वह योगिनी कौन थी और कहाँ गयी?'

इन सब घटनाओंको देख-सुनकर सोमदत्तकी स्त्री रामदेवीने सोचा—'बहिन रोहिणीका, सासजीका, हमारी देवरानीका सब-का-सब गहना चला गया, केवल मेरा गहना ही शेष बचा है। छोटी बहूके जानेके बाद पैदा-रोजगार सब बंद हो गया। अब घरवाले मेरे गहनोंको ही बेचकर काम चलायेंगे और कोई रास्ता नहीं दीखता है।' यह सोचकर वह अपना सारा गहना अपने छोटे भाईके पास नैहरमें रख आयी। उसका नैहर उसी शहरमें दूसरे मुहल्लेमें था। उसका भाई बड़ा बदमाश और बेईमान था, उसकी नीयत पहलेसे ही खराब थी। उसने रामदेवीका सारा गहना बेचकर रुपये अपने कारोबारमें लगा लिये। थोड़े दिनों बाद उसने यह झूठा हल्ला फैला दिया कि रातमें चोर आकर ताला तोड़कर सारा माल ले गये। प्रातःकाल होते ही वह रोने लगा। लोग इकट्ठे हो गये। पुलिस भी आ गयी। सारे शहरमें बात फैल गयी, तब रामदेवीको भी अपने भाईके यहाँ चोरी होनेका पता लगा। वह तुरंत दौड़कर भाईके पास गयी और बोली—'भैया! मेरा गहना तो बच गया है न?' भाईने झुँझलाकर कहा—'तेरे गहनेके कारण ही तो हमारे घर यह काण्ड हुआ। हमारे पास तो धरा ही क्या था, जो चोर लगते? हमारे तो मामूली जो कुछ था, वह भी तुम्हारे गहनेके साथ चोर ले गये।' रामदेवी फिर बोली—'भैया! मेरा गहना तो मिलना ही चाहिये।' भाई कुपित होकर कहने

लगा—'चल यहाँसे। फिर कभी मुँह मत दिखाना। तेरे कारणसे ही हम बरबाद हो गये।' वह बेचारी दुःखित होकर लौट आयी और सारा हाल अपने ससुरालवालोंको कहा। उन्होंने डाँट-फटकार भी की; पर फिर क्या हो सकता था!

तदनन्तर सब लोगोंने मिलकर यह निश्चय किया कि अपना-अपना खर्च सब अपनी-अपनी कमाईसे चलावें। इसपर सोमदत्त और रामदत्त तो अपनी स्त्रियोंको लेकर अलग रहने लगे और शेष सब एक साथ रहने लगे।

(७)

एक दिन जब घरवाले घरमें इकट्ठे बैठे हुए थे, पण्डित देवदत्तजीने सरल हृदयसे कहा—'हमने थोड़े-से अपराधके कारण छोटी बहूको घरसे निकाल दिया, यह बड़ा भारी अपराध किया। इसी कारण हमारी यह दुर्दशा हुई। वह बड़ी भाग्यशालिनी, बुद्धिमती और उच्च विचारकी स्त्री थी। यदि वह अपने घरमें रहती तो हमलोगोंपर यह सब विपत्तियाँ कभी नहीं आती।' अन्तमें सबने यह विचार किया कि हमलोगोंको उसके पास चलना चाहिये। पर लज्जाके कारण किसीकी भी जानेकी हिम्मत नहीं होती थी। किसी प्रकार घरकी यह भीतरी खबर सुशीलाके पास पहुँच गयी। सुशीलाने सोचा—'मेरे घरवाले मेरे पास आना चाहते हैं, पर इसमें मेरा बड़प्पन नहीं है। इसलिये मुझे ही उनके पास चलना चाहिये।' यों सोचकर दूसरे दिन वह स्वयं ही ससुरालमें चली आयी और श्रद्धा, प्रेम, विनय तथा सरलताके साथ सबके चरणोंमें नमस्कार किया। उसको देखकर सब प्रसन्न हुए और साथ ही अपने कृत्यको देखकर दुःखित और लज्जित हुए। सुशीलाने कहा— 'मैंने सुना कि आपलोग मेरे पास आनेका विचार कर रहे हैं, यह सुनकर मैं ही आपके पास आ गयी; क्योंकि मैं सबसे छोटी हूँ। इसलिये मेरा ही आपके पास आना उचित है। कभी-कभी मेरे मनमें आपकी सेवाके भाव आते, किंतु आपलोगोंके द्वारा निकाली जानेके कारण यहाँ आनेकी मेरी हिम्मत नहीं हुई, इसलिये आप मेरे अपराधको क्षमा करें।'

पण्डितजीने कहा—'बेटी! तुम्हारा तो एक मामूली अपराध था, हमलोगोंने बहुत बड़ा अपराध कर डाला।' पण्डितजीको क्या पता कि बहूका कोई अपराध

था ही नहीं, वह तो षड्यन्त्र था। घरकी हालत बिगड़ जाने तथा सबपर विपत्ति आ जानेसे षड्यन्त्रकारी स्त्रियोंका पाप काँप गया। उनके मनमें ईर्ष्याके बदले पश्चात्तापकी आग जल उठी। वे सभी संतप्त हो गयीं और उन्हें निश्चय हो गया कि हमारी दुर्दशाका सच्चा कारण हमारे द्वारा निर्दोष सुशीलापर किया जानेवाला अत्याचार ही है। उनके संतप्त हृदयके तप्ताश्रु उनकी आँखोंसे बहने लगे। तब सोमदत्त और रामदत्तकी स्त्रियोंने हाथ जोड़कर काँपते हुए कण्ठसे अपनी साससे कहा—'छोटी बहूका कुछ भी अपराध नहीं था। हमीं लोगोंने डाहके कारण उसपर झूठा कलंक लगाया था, उसीका हमें यह फल मिला।' तब रोहिणी दुःखित हृदयसे कहने लगी—'छोटी भाभीका तो कुछ भी अपराध है ही नहीं और न बड़ी भाभियोंका ही विशेष अपराध है। सारे षड्यन्त्रको रचनेवाली, घोर अपराध करनेवाली दुष्टा तो मैं हूँ। मैंने ही भाभियोंके कङ्कण, हार, मेरी साड़ी और लहँगा एक थैलीमें भरकर उसे सीकर रसोइयाके हाथ उस बुढ़ियाके पास भिजवाया था, वह चिट्ठी भी मैंने ही लिखी थी और पिताजीके पास झूठी शिकायत भी मैंने ही की थी। इस सारे पापकी जड़ मैं हूँ। आज मैं पश्चात्तापकी आगसे जली जा रही हूँ। पृथ्वी फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊँ। इस निरपराध शुद्ध हृदयकी भाभीसे मैं क्षमा भी किस मुँहसे माँगू?'

यह सारी सच्ची बातें सुनकर सुशीलाका मन पिघल गया और वह हाथ जोड़कर विनयपूर्वक सबसे बोली—'जो कुछ भी हुआ, अब आप उन बातोंको हृदयसे भुला दें। मैं तो आपलोगोंके कृत्यको कोई अपराध ही नहीं मानती। फिर क्षमा[२२] कैसी?' यह सुनकर उसका पति मोहनलाल फूट-फूट कर रोने लगा और अपने किये हुएपर बार-बार पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा—'मैं धोखेसे मारा गया। अब मुझे इसका क्या प्रायश्चित्त करना चाहिये?' सुशीलाने कहा—'पतिदेव! आप किसी बातका विचार न करें। आपलोगोंमें किसीका भी कोई दोष नहीं है—यह तो मेरे पूर्वकृत पापोंका फल है। अब आपलोग इन सब बातोंको भुला दें और मुझे पहलेकी तरह ही अपनी दासी समझें। मेरे पास जो कुछ सम्पत्ति है, वह आपकी ही है। आप उस सम्पत्तिको यहाँ मँगवा लें।'

यह सुनकर सब लज्जित हो गये और कहने लगे—'तुम्हारी सब चीजें हम कैसे मँगवायें ?' सुशीला बोली—'वह सब तो आपकी ही है, मैं भी आपकी ही हूँ। यह सब तो ईश्वरने हमारे भलेके लिये ही किया था; क्योंकि यदि भगवान् ऐसा नहीं करते तो आज यह सम्पत्ति और हजार रुपये मासिक आयका स्थायी संयोग कैसे बैठता ?' यह कहकर सुशीलाने अपनी सारी चल-सम्पत्ति अपने आदमियोंद्वारा वहीं मँगवाकर निःस्वार्थभावसे ससुरके चरणोंमें अर्पित कर दी। उसके अन्य सब काम भी ससुरालवालोंकी देख-रेखमें वैसे ही चलते रहे और वह अब ससुरालमें ही रहने लगी। सुशीलाके इस पवित्र व्यवहारको देखकर सब लोग मुग्ध हो गये।

जब खेलकर आते हुए इन्द्रसेन और इन्द्रसेनीने माँको बहुत दिनोंके बाद देखा, तब वे झट उसके चरणोंमें गिर पड़े। माँने उनको बैठाकर अपनी छातीसे लगा लिया। रसोइया और नौकर तो अपने भीषण अपराधपर काँप रहे थे और जमीनमें गड़े-से जा रहे थे। उनके शरीरसे पसीना बह रहा था और आँखोंसे पश्चात्तापके गरम-गरम आँसू। उनका मूक पश्चात्ताप देखकर सुशीलाने उन्हें आश्वासन दिया और शान्त किया। आज उन दोनोंका भी जीवन बदल गया।

फिर सुशीलाने कहा—'मैंने सुना है, हमारे दोनों जेठ-जेठानियाँ अलग होकर रहते हैं, किंतु उनका अलग रहना मैं सहन नहीं कर सकती। वे पहलेकी-ज्यों ही शामिल होकर रहनेकी कृपा करें।' वे सुशीलाके इस बर्तावको देखकर मुग्ध हो गये, वे 'ना' नहीं कर सके। तदनन्तर सभी शामिल होकर रहने लगे। सुशीलाके प्रभावसे सब सदाचारी और सच्चरित्र बन गये। उनके सम्बन्धमें जो कुछ अपवाद फैला हुआ था, वह सब शान्त हो गया और उनका घर अन्य सब लोगोंके लिये एक आदर्श घर हो गया।

(८)

सुशीला सबके साथ सम व्यवहार किया करती। जो कुछ आप खाती-पहनती, वह घरमें सबको समानभावसे देकर खाती-पहनती, उसका खाने, पीने, पहननेमें कोई भेद नहीं था। जो चीज वह अपने पति और बालकोंको खिलाती-पहनाती, वही अपने जेठ-जेठानियों और सास-ससुर को भी दिया करती।

एक दिनकी बात है, वह अपने बच्चे-बच्चीको दाख, छुहारा, बादाम, नौजा, पिस्ता आदि मेवा दे रही थी। इतनेमें ही उन बालकोंके साथ खेलनेवाले बाहरके कुछ बालक आ गये। सुशीलाने अपने बालकोंको न देकर पहले उनको दिया; और जो कुछ अपने बालकोंको दिया, उतना ही उनको दिया; किंतु उनमें जो चीज कुछ बढ़िया थी, वह तो बाहरके बालकोंको दी और जो कुछ घटिया थी, वह अपने बालकोंको दी। सुशीलाके इस बर्तावका उसके बच्चोंपर भी बड़ा अच्छा असर पड़ा। उन बच्चोंने अपने हिस्सेका भी आधा भाग उन बाहरके बालकोंको दे दिया। उसके लड़के-लड़की बड़े सुशील थे। सच्ची सुशीला माताके लड़के ऐसे क्यों न होते ?

सुशीला अपने पतिकी विशेष सेवा किया करती थी और कभी-कभी अपने पतिके साथ कथा या व्याख्यान सुनने जाया करती तो साथमें उसका लड़का और लड़की भी जाया करते थे। बालकोंमें स्वाभाविक ही चञ्चलता होती है, किंतु इसके बालक शान्त प्रकृतिके थे; क्योंकि सुशीलाका स्वभाव स्वाभाविक ही चञ्चलतारहित[२०] था। वे वहाँ शान्तिपूर्वक चुपचाप बैठकर बड़े ध्यानसे व्याख्यान सुना करते। सुशीला बालकोंको नित्य नियमपूर्वक अच्छी शिक्षा दिया करती थी। वह कहा करती—'सूर्योदयसे पूर्व उठना, नित्य बड़ोंको प्रणाम करना, झूठ, कपट, छिपाव, हिंसा, चोरी आदि कभी नहीं करना। हमेशा सत्य बोलना, किसीको अपशब्द न कहना, आपसमें लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट, गाली-गलौज नहीं करना, सूर्यनारायणको नित्य अर्घ्य देना, कोई भी चीज भगवान्‌के अर्पण किये बिना न खाना, सबकी सेवा करना, बाजारकी बनायी हुई चीजें न खाना; बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, गाँजा आदि मादक वस्तुओंका सेवन न करना; नाटक, सिनेमा, क्लब आदिमें कभी नहीं जाना; कथा-कीर्तन, सत्संगमें शान्तिपूर्वक सुनना; कोई भी चीज मिले, उसे उपस्थित मित्रोंको देकर खाना; बड़ोंकी आज्ञाका पालन करना और सदा कर्तव्यपरायण रहना चाहिये। कहीं दूसरेके घरपर जायँ तो वहाँ कोई चीज माँगनेकी तो बात ही क्या, उनके देनेपर भी नहीं लेनी चाहिये। बस, अपनेसे जो कुछ बने, दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये, कभी दूसरोंकी सेवाका पात्र नहीं बनना चाहिये।' बच्चोंके लिये कितनी सुन्दर

शिक्षा है ।

इस प्रकार घरमें नित्य-नियमसे उपदेशकी बातें और कथा-कीर्तन हुआ करता था। इसका बालकों तथा घरवालोंपर बड़ा अच्छा असर पड़ने लगा और वे सब सुशिक्षित हो गये।

(९)

एक दिन सुशीलाके पिता पण्डित गोविन्दरामने उसको बुलानेके लिये उसके ससुरके पास आदमी भेजकर कहलाया—'हमारी एक प्रार्थना है—सुशीलाको आये बहुत दिन हो गये, अतः एक बार बच्चोंसहित उसको हमारे घरपर भेजें।' बुलावा आनेपर सुशीलाने भी अपने सास-ससुरसे सरलताके साथ निवदेन किया कि—'मुझे माता-पितासे मिले बहुत दिन हो गये, इसलिये आपकी आज्ञा हो तो मैं घर जाकर उनके दर्शन कर आऊँ और आपकी अनुमति हो तो मैं वहाँ कुछ दिन ठहर जाऊँ।' सास और ससुरने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'जा सकती हो; किंतु बहुत अधिक विलम्ब न करना; क्योंकि हमारे दिन तुम्हारे बिना कैसे कटेंगे ?' इस प्रकार कहकर विश्वासी पुरुषको साथ देकर उसको नैहर पहुँचा दिया।

सुशीलाने बालकोंसहित वहाँ जाकर माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। माता-पिताने पूछा—'घरपर सब प्रसन्न तो हैं ?' सुशीला बोली—'ईश्वरकी कृपासे सब कुशल है; किंतु मैं यहाँ अपने भाई रामलाल और भौजाईको नहीं देखती हूँ, सो क्या बात है ?' पण्डित गोविन्दरामजीने कहा—'वह कई दिनोंसे मकान किरायेपर लेकर हमसे अलग ही रहता है; जो कुछ कमाता है, अपने खाने-पीने और मित्रोंकी खातिरमें लगा देता है। हम लोग तो अब बूढ़े हो गये, कमानेकी शक्ति नहीं रही, पहलेकी जायदादको बेचकर ही अपना काम चलाते हैं।' सुशीला बोली—'क्या भाभीके कहनेसे ही भैया अलग हो गये अथवा और कोई कारण है ?' माताने कहा—'ना बेटी ! वह तो बहुत ही भले घरकी लड़की है। मैं उसको कभी कुछ कह देती तो भी वह नाराज नहीं होती और न कभी रूठती। उसका स्वभाव बड़ा सुशील है, लड़ना तो वह जानती ही नहीं। कोई उसे खोटी-खरी सुना देता तो भी वह उसे हँसकर टाल देती। अब भी वह मेरा

पक्ष लेकर समय-समयपर रामलालको समझाया करती है। उसके स्वभाव, सेवा और बिछोहको याद कर-करके मैं रोया करती हूँ। रामलाल भी बहुत ही भला था; किंतु आजकलके उद्दण्ड लड़कोंके संगके प्रभावसे वह हमलोगोंसे अलग हो गया।'

सुशीला बोली—'माँ! मैं भाई-भौजाईको समझाकर यहाँ ले आऊँ तो इसमें तुम्हारी क्या राय है?' माताने कहा—'ऐसा हो जाय तो बेटी! हमारा बड़ा सौभाग्य है।'

भाई रामलाल प्रयागमें ही कुछ दूर दूसरे मुहल्लेमें रहते थे। सुशीला अपने कुटुम्बके एक आदमीको लेकर बालकोंसहित भाईके यहाँ गयी। घरमें रामलाल तो थे नहीं, भाभी बैठी थी। सुशीलाको आते देखकर वह उठी और उसने बड़े ही आदर और प्रेमका बर्ताव किया। बालकोंसहित सुशीलाने भी उसके चरणोंमें प्रणाम किया। जब भाभी कुछ संकोच करने लगी, तब सुशीलाने कहा—'आप बड़ी होनेके कारण मेरी तो माँके समान हैं, इसमें संकोचकी कौन-सी बात है। बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करना बालकोंका कर्तव्य ही है।' भाभी लज्जित होकर बोली—'बहिनजी! आप माताजीके पास आयी हैं, यह मुझे मालूम हो गया था किंतु दुःखकी बात है कि मैं आपके भाईके डरसे नहीं जा सकी।' सुशीलाने कहा—'इसके लिये आपको चित्तमें कोई विचार नहीं करना चाहिये। माँ तो आपके स्वभाव और सेवाको याद कर-करके भूरि-भूरि प्रशंसा करती हुई आपके वियोगमें रोया करती हैं।'

इतनेमें ही भाई रामलाल आ गये। बालकोंसहित सुशीलाने झट उठकर भाईके चरणोंमें नमस्कार किया। रामलालने भी सुशीलाके साथ बड़े आदरका बर्ताव किया। कुशल-संवादके बाद सुशीला बोली—'भैया! आज तुमको माता-पितासे अलग देखकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है।' रामलालने कहा—'बहिन! तुम्हारे आनेकी खबर मुझे मिल गयी थी। तुमसे मिलनेकी मेरी बहुत ही इच्छा थी, परंतु मेरे मनमें यह भाव आया कि मैं यदि घर जाऊँ तो कहीं माता-पिता मेरा अपमान न कर दें और तुमको यहाँ घरपर भी इसीलिये नहीं बुलाया कि शायद वे तुमको यहाँ नहीं भेजेंगे।' सुशीला बोली—'भैया! इसमें

तुम्हारा कोई दोप नहीं है, यह तो मेरा ही दोष है कि मैं कल ही तुम्हारा दर्शन नहीं कर सकी, पर भैया ! जब मैं ससुराल गयी थी तब तो तुम दोनों ही माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालन खूब किया करते थे। तुम्हारे उन गुणोंको याद करके विस्मय होता है कि तुम उनसे अलग होकर कैसे रहने लगे ? मेरे व्यवहारकी त्रुटियाँ देखकर तुम तो मुझे शिक्षा दिया करते थे, वे बातें मुझे याद आती हैं।'

रामलालने कहा—"बहिन ! तुम्हारी बात सुनकर मुझे लज्जा होती है। मेरे अलग होनेका कारण यह हुआ कि मेरे जो, मित्रगण मेरे पास आया करते, वह माताजी और पिताजीको बुरा मालूम देता। इसे देखकर मेरे मित्रोंको अत्यन्त कष्ट होने लगा और उन्होंने मुझको यह राय दी कि 'तुम सब कुछ माता-पिताके पास छोड़कर उनसे अलग हो जाओ। इसमें तुम्हारी कोई निन्दा नहीं होगी। तुम विद्वान् हो, योग्य हो; तुमको अपनी कमाईसे पेट भरना चाहिये। माता-पिताके धनका आश्रय क्यों लेना चाहिये ?' उनकी इन बातोंमें आकर मैं माता-पितासे अलग हो गया। बहिन ! तुम समझदार हो, जैसा तुम्हारा नाम है, वैसी ही तुम गुणवती हो, अतः मुझे राय दो कि अब मुझे क्या करना चाहिये।"

इसपर सुशीला बहुत ही कोमल और मृदुलताभरे[१८] शब्दोंमें बोली—'भैया ! तुम्हें मैं राय दूँ ? मुझमें जो कुछ अच्छापन दीखता है, वह तो तुम्हारी ही शिक्षाका प्रभाव है। मैं कुछ कहूँगी तो तुमसे सीखी हुई बात ही कहूँगी। मैं जब छोटी थी तभी तुम मुझे यही शिक्षा दिया करते कि सैकड़ों वर्ष भी माता-पिताकी सेवा करके मनुष्य उनका बदला नहीं चुका सकता। माता-पिताकी सेवा ही परम धर्म है, और सब उपधर्म हैं*। आज तुम्हें

---

* यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(मनुस्मृति २। २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।'

माता-पितासे अलग देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है तथा तुम्हारे मित्रोंके सम्बन्धमें तो माता-पिताने जो कुछ भी कहा—वह तुम्हारे हितके लिये ही कहा होगा। जो मित्र माता-पितासे दूर कर दें, उनका सङ्ग किस कामका ? यदि तुम्हारे वे मित्र समझदार होते तो सहज ही मुक्तिके उपायरूप परम कल्याणकारी माता-पिताके सेवाकार्यसे तुम्हें वञ्चित क्यों करते ? इससे तुमको सोचना चाहिये था कि वे ऐसा करके अपना मतलब गाँठना चाहते थे कि तुम्हारा हित ? भैया ! माता-पिता तो तुम्हारे वियोगमें तुम्हारे गुण और सेवाको याद करके रोया करते हैं। संसारमें तुम्हारे गुण और आचरणोंकी ख्याति है और अच्छे-अच्छे पुरुषोंके हृदयोंपर तुम्हारा अच्छा प्रभाव अंकित है। तुम माता-पितासे अलग होकर रहते हो, इससे उन सज्जनोंपर कैसा बुरा असर होगा और वे जब तुम्हारी निन्दा-अपमान करेंगे तब उसे तुम कैसे सहन करोगे ? माता-पिताकी सम्पत्तिसे तुम्हें संकोच और घृणा क्यों होनी चाहिये ? माता-पितासे हम लोग कैसे छूट सकते हैं ? हमलोगोंके शरीरमें भी तो जो कुछ है, सब माता-पिताका ही है। मेरी तो राय यह है कि उनके चरणोंमें जाकर उनसे क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये; इसमें विलम्ब करना उचित नहीं। माता-पिताकी कोई गलती भी हो तो बड़ोंकी गलती कभी माननी ही नहीं चाहिये।'

इतनेमें भाभी बोल उठी—'बहिनजी ! मुझे तो सास-ससुरसे अलग रहनेमें न तो कोई सुख है और न मेरा मन ही लगता है। समय-समयपर मैं इनसे प्रार्थना भी करती रहती हूँ। पर पता नहीं विधाताने मुझे उनकी सेवासे क्यों वञ्चित रख छोड़ा है ?' रामलाल बोले—'बहिन ! माता-पिताके बिना बुलाये और बिना

अतएव—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनुस्मृति २। २३७) ।२३७)

'माता-पिता और आचार्य—इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यही साक्षात् परम धर्म है; इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

उनकी सम्मति लिये जानेमें लज्जा होती है। कहीं वे मेरा अपमान तो नहीं कर देंगे ?' सुशीलाने कहा—'भैया ! उनकी तो सम्मति ही है। वे तो तुम्हारे वियोगमें रोते हैं, उनके पास जानेमें लज्जा किस बातकी ? मेरी समझमें वे तो तुम्हारे जानेसे बहुत प्रसन्न होंगे और माता-पिताके पास जानेमें अपमानकी कौन-सी बात है ? उनके द्वारा किया हुआ अपमान तो मानसे भी बढ़कर है।' *

सुशीलाकी उपर्युक्त हितभरी बातें सुनकर रामलाल और उसकी पत्नी दोनों सुशीलाके साथ माता-पिताके पास घर आ गये तथा दोनों अपने कृत्यपर अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए उनके चरणोंपर गिरकर रोने लगे ।

माता-पिताने कहा—'बेटा ! आज बड़े सौभाग्यकी बात है, आज हमारा दिन बहुत ही अच्छा है।' फिर उन्होंने सुशीलासे कहा—'बेटी सुशीला ! तुमने जो आज महत्कार्य किया है, इसको हम आजीवन कभी नहीं भूलेंगे।' सुशीला बोली—'माँ ! तुम क्या कह रही हो? इसका जो कुछ श्रेय है वह तो तुमको, पिताजीको और भाईजी-भौजाईजीको ही है। मैं तो निमित्तमात्र ही हूँ, मुझमें भी जो कुछ अच्छापन तुम समझती हो, वह सब भी आपलोगोंकी ही कृपा है।'

सुशीलाके इस प्रकारके अभिमानरहित[१३] —व्यवहारको देखकर सब मुग्ध हो गये। सुशीलाके पास दो मोहन-मन्त्र थे, उनसे वह कोई भी क्यों न हो, उसे अपने अनुकूल बना लेती थी। वे मन्त्र ये थे—(१) अपने स्वार्थका त्याग करके निष्काम-भावपूर्वक सब प्रकारसे उसके हितकी चेष्टा करना और (२) उसके अवगुणोंको भुलाकर उसके गुणोंका वर्णन करना। इन्हींसे उसने अपने भाईके हृदयको भी पलट दिया।

---

* किसी कविने कहा है—

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति॥

'जब मनुष्य गुरुजनोंकी कठोर शब्दोंसे युक्त वाणीद्वारा अपमानित किये जाते हैं, तभी महत्त्वको प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं। जैसे कि अच्छी श्रेणीके रत्न भी जबतक शाणपर घिसकर उज्ज्वल नहीं किये जाते, तबतक राजाओंके मुकुटोंमें नहीं मढ़े जाते।'

इसके अनन्तर रामलालने अपने मित्रोंसे प्रेम और विनयपूर्वक प्रार्थना कर दी कि 'मुझको ही कभी अवकाश होगा तो मैं आपके घरपर आकर मिल सकता हूँ, क्योंकि माता-पिताके पास मैं आपका यथोचित सत्कार करनेमें लाचार हूँ।'

सुशीला पिताके घरपर कुछ दिनोंतक रही, परंतु ससुरालमें अपने प्रति होनेवाले अत्याचारको लेकर किसीकी भी कभी किंचित् भी निन्दा-चुगली नहीं की। माता-पिता और भाई-भौजाई उसे खाने-पीने, पहननेके लिये अनेक पदार्थ देते, पर उनके आग्रह करनेपर भी वह नहीं लेती। यदि कभी उनके संतोषके लिये यत्किंचित् थोड़ा-सा ले भी लेती तो अनासक्तभावसे ही लेती, उसकी उन पदार्थोंके प्रति किंचित् भी आसक्ति या लोलुपता नहीं थी। उसका व्यवहार बड़ा ही त्यागमय और प्रशंसनीय था।

तदनन्तर ससुरालसे आग्रहपूर्वक बुलावा आनेपर माताको विनय और प्रेमसे समझाकर वियोगके दुःखको प्रकट करती हुई सुशीला विश्वासी पुरुषके साथ अपने ससुराल चली आयी। सुशीलाको घरमें आये देखकर ससुरालके सभी लोग बड़े आनन्दित हुए।

(१०)

इधर सुशीलाकी लड़की इन्द्रसेनीको द्वादश वर्षकी विवाहके योग्य देखकर उसके सास-ससुरको बड़ी चिन्ता रहा करती थी। अतः एक दिन उन्होंने छोटी बहूसे कहा—'इन्द्रसेनी विवाहके योग्य हो गयी है। तेरे प्रभावके कारण कई लोग अपने साथ सम्बन्ध करना चाहते हैं। तेरी राय किसके साथ सम्बन्ध करनेमें है ?' सुशीलाने अपनी सासससे कहा—'इसमें मेरी राय क्या लेनी है ?' आप मालिक हैं, आप जिसके साथ सम्बन्ध करना उचित समझें, उसीमें हम सबको प्रसन्न रहना चाहिये। मैंने तो आप लोगोंके मुखसे ही यह सुना है कि बालक चाहे गरीब घरका हो, किंतु उसके स्वास्थ्य बल, विद्या, बुद्धि, योग्यता, आचरण, स्वभाव और चरित्र आदि देखने चाहिये। उसके कुटुम्बवालोंके तथा विशेषकर माता-पिताके स्वभाव और आचरण अच्छे होने चाहिये।' यह सुनकर सब बड़े प्रसन्न हुए।

इन्द्रसेनीके प्रारब्ध और माता सुशीलाके प्रभावके कारण सुशीलाके इच्छानुकूल ही घर और बालकका स्वतः संयोग लग गया। पण्डित दामोदर

शास्त्रीके सुपुत्र शिवकुमारके साथ इन्द्रसेनीका वाग्दान कर दिया गया। पण्डित दामोदरजीकी सुशीलापर बहुत ही श्रद्धा थी, इसलिये उन्होंने अपनी पत्नीको विवाहके विषयमें सलाह करने सुशीलाके पास भेजा। घरपर आते ही सुशीलाने उनका यथावत् सत्कार किया। तदनन्तर दामोदरजीकी पत्नीने कहा—'आपके साथ सम्बन्ध होकर विवाह आदर्श होना चाहिये। आपके घरमें तो कुरीतियाँ और फिजूलखर्च होगा ही नहीं, हमलोग भी अपने सुधारके लिये आपकी रायके अनुसार ही रहना चाहते है।' इस प्रकार विशेष आग्रह और श्रद्धापूर्वक पूछनेपर सुशीलाने कहा—'बारूद, खेल-तमाशे, सिनेमा, थियेटर, उछाल, अधिक रोशनी आदिमें व्यर्थ खर्च नहीं करना चाहिये। विवाहमें गाली-गलौज, बुरे गीत गाना, चौपड़-ताश खेलना, बहुत-से बाजे बजाना आदि भी नहीं करना चाहिये। विवाह तो अच्छे-अच्छे विद्वानोंको बुलाकर विधि-विधानसे भली-भाँति होना चाहिये, इसमें अधिक भीड़-भाड़ नहीं होनी चाहिये। हमारी ओरसे क्या करना चाहिये सो कृपया आप बतलाइये।'

पण्डित दामोदरजीकी पत्नी बोली—'हमलोग आपको क्या आदेश दें! हमलोग तो आपकी ही शिक्षाके अनुसार चलना चाहते हैं। आपने इस विषयमें कैसा विचार किया है, यह सुननेके लिये हमलोग उत्सुक हैं। यदि उचित समझें तो आप बतलानेकी कृपा करें।'

इसपर सुशीलाने कहा—'हँसी-मजाक, नाच तथा बुरे गीत तो हमारे यहाँ पहलेसे ही बंद हैं। भाँग, तम्बाकू, सुलफा, गाँजा आदि मादक वस्तु, सोडा-बर्फ, लेमोनेड देना, होटलमें भोजन करना, पार्टी देना और सेंट आदिसे सत्कार करना शास्त्र विरुद्ध तो है ही, प्रत्युत सत्कारके नामपर अपने सम्बन्धियोंका अपमान करना है। शास्त्रके अनुसार हलद्धात आदि करनेके बाद देवताओंकी विधिवत् पूजा कराकर अच्छे-अच्छे विद्वानोंकी सम्मतिके अनुसार कन्यादान करनेका विचार है। आपलोगोंका असली सत्कार तो श्रद्धा और प्रेमके व्यवहारसे होता है; उसकी तो हमलोगोंमें कमी है, भोजन तथा पान-सुपारी, लौंग, इलायचीका प्रबन्ध साधारण तौरपर किया गया है। दहेज-धन देनेके लिये तो हमारे पास है ही क्या, हम तो एक अबोध बालिकाको आपकी सेवामें अर्पण

करके अपनेको पवित्र करना चाहते हैं। आप-जैसे सरल और त्यागी मनुष्योंके साथ सम्बन्ध हमारे बड़े ही भाग्यसे हुआ है। आपके व्यवहारको देखकर हमलोग मुग्ध हो रहे हैं।'

इसके अनन्तर समयपर दोनों ओरसे श्रद्धा, विनय और प्रेमका व्यवहार होते हुए उपर्युक्त पद्धतिके अनुसार बहुत ही प्रशंसनीय सात्त्विक और आदर्श विवाह सम्पन्न हुआ तथा परस्पर नमस्कार करनेके बाद बारातको विदा किया गया।

सोमदत्त, रामदत्त और मोहनलाल तीनों भाई सुशीलाके चलाये हुए व्यापार-कार्यको निजमें ही देखा करते और परस्पर सबका बहुत ही अच्छा प्रेममय व्यवहार था। घरमें स्त्रियोंका भी व्यवहार सुशीलाके सम्पर्कसे बहुत ही सुन्दर हो गया था। इस प्रकार कुछ काल बीतनेके बाद सुशीलाका लड़का इन्द्रसेन जब सोलह वर्षका हो गया, तब उसका विवाह भी पण्डित रघुनाथ आचार्यकी पुत्री गायत्रीसे कर दिया गया। वह विवाह भी पूर्वकी भाँति ही बहुत सात्त्विक आदर्श और प्रशंसनीय हुआ। उसमें भी नाच, गीत, कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची बिलकुल नहीं की गयी तथा पण्डित देवदत्तजीकी ओरसे अत्यन्त त्यागका व्यवहार रहा। पर श्रीरघुनाथ आचार्यका विशेष आग्रह होनेके कारण उनके संतोषके लिये नाममात्रका दहेज लेना पड़ा।

इस प्रकार लड़की और लड़केका विवाह होनेपर सब घरवाले निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक अपने घरमें निवास करने लगे तथा परस्पर बड़े ही त्याग और प्रेमका व्यवहार करने लगे।

(११)

कुछ दिनोंके बाद पण्डित देवदत्तजीके श्वास-रोगके कारण शरीर दुर्बल हो जानेसे ज्वर हो गया। अनेक आयुर्वेदिक दवा की, किंतु कोई भी लागू न पड़ी। सुशीलाकी रात-दिन विनय और प्रेमपूर्वक की हुई सेवासे देवदत्तजी मुग्ध हो गये और बोले—'बेटी! तुम सर्वथा निर्दोष थी और मैंने तुम्हें घरसे निकलवा दिया था, वह दुःख मेरे हृदयमें शूलकी तरह चुभता रहता है।' सुशीलाने ननद रोहिणीके द्वारा कहा— 'ससुरजी! आपकी तो कोई गलती है ही नहीं। वह सब घटना तो धोखेसे हो गयी। उसका आपको कुछ भी विचार नहीं करना चाहिये।

मैं जो आपसे बहुत दिनोंतक अलग रही, इसे मैं ही अपना दुर्भाग्य मानती हूँ। अब इस विषयमें आप अपनेको हेतु मानकर दुःख करेंगे तो उससे उलटा मेरे चित्तपर विचार होगा।' यह सुनकर पण्डितजीने कहा—'बेटी ! तू विचार मत कर। तेरी बात सुनकर अब मेरे चित्तमें कोई विचार नहीं रहा।'

इसके बाद पण्डितजीकी अवस्था और भी दब गयी। यह देखकर घरवालोंने स्थानको बुहार-झाड़कर साफ किया और फिर पवित्र जलसे धोकर उसपर गोबर तथा गङ्गाजलका चौका लगाया एवं उसपर तिल और सरसों बिखेरकर भगवान्‌का नाम लिखा। फिर उसपर पवित्र बालूकी शय्या बनाकर गङ्गाजीकी रेणुका छिड़क दी और उसपर रामनाम लिखकर मन्त्रोंद्वारा गङ्गाजलसे उसका मार्जन किया। उस बालूपर दर्भ डालकर हाथसे बना हुआ शुद्ध सफेद वस्त्र बिछा दिया। तदनन्तर पण्डितजीका संकेत पाकर सोमदत्तने उनको पवित्र जलसे स्नान कराया और नवीन शुद्ध उत्तरीय तथा अधोवस्त्र पहनाकर उनका यज्ञोपवीत बदल दिया। इसके बाद उनको उस बालुकामयी शय्यापर सुला दिया और हाथसे बनी हुई एक नवीन, शुद्ध, सफेद चद्दर ओढ़ा दी। उनके पास एक नूतन तुलसीवृक्षका गमला रख दिया। गलेमें तुलसीकी माला पहना दी, मस्तकपर चन्दनसे तिलक कर दिया। मस्तकके नीचे बहुत कोमल और हल्की-सी एक गीताकी पुस्तक रख दी। पण्डितजी श्रीविष्णुरूपके उपासक थे, अतः एक छोटी-सी शालग्रामजीकी मूर्ति उनके वक्षःस्थलपर रख दी। फिर पत्र-पुष्प, धूप-दीप आदि षोडशोपचारसे श्रद्धा-भक्ति पूर्वक भगवान्‌की पूजा की गयी और आरती उतारी गयी। इसके बाद सोमदत्तने पण्डितजीको तुलसी और गङ्गाजल पिलाकर गीताके आठवें अध्यायका अर्थसहित पाठ सुनाया। तत्पश्चात् सब मिलकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मुग्ध होकर एक ताल और एक स्वरसे भगवान्‌के नामोंका कीर्तन करने लगे। पण्डितजीके सामने भगवान् श्रीविष्णुका सुन्दर चित्र दीवालपर टँगा हुआ था ही, उसे देख-देखकर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते तथा भगवान्‌के नामोंका कीर्तन सुनते हुए पण्डितजी भगवान्‌के परमधाम सिधार गये।

इस कहानीसे विशेषकर माता-बहिनोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि वे सुशीलाको आदर्श मानकर उसका अनुकरण करें अर्थात् अपने साथ बुराई

करनेवालेके साथ भी भलाई करें। बालकोंके साथ वात्सल्यभाव, समानवालोंके साथ मैत्री-भाव और बड़ोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति और विनय-भावसे उनकी सेवा करें। निःस्वार्थभावसे उत्तम कार्य करके मान-बड़ाईसे रहित होकर उनका श्रेय दूसरोंको ही देनेके लिये सत्यकी रक्षा करते हुए चेष्टा करें; घोर आपत्ति पड़नेपर भी काम, क्रोध, लोभ, लज्जा, भय आदिके वशमें होकर धैर्य, धर्म, ईश्वरभक्ति तथा जान-बूझकर प्राणोंके त्यागका कभी विचार ही न करें। सास-ससुर, माता-पिता, पति आदि बड़ोंकी तन, मन, धनके द्वारा कर्तव्य समझकर निःस्वार्थभावसे विनय-प्रेमपूर्वक सेवा करें; बालकोंको अपने आचरण और वाणीद्वारा अच्छी शिक्षा दें; बालकोंके विवाहमें कुरीतियाँ और फिजूलखर्चीका सर्वथा त्याग करें; चोर, बदमाश, ठग, नीच और धूर्तोंसे बचनेके लिये बुद्धि-विवेकपूर्वक कुशलतासे काम लें; बीमारी, मृत्यु और आपत्तिसे ग्रस्त मनुष्योंके हितके लिये उनकी निःस्वार्थभावसे सेवा करें। विद्या, बुद्धि, बल, तेज और शिल्पज्ञानकी वृद्धिके लिये तत्परतासे यथोचित चेष्टा करें, सबको अपने अनुकूल बनानेके लिये उनके अवगुणोंकी ओर ख्याल न करके उनके सच्चे गुणोंका वर्णन करते हुए उनके परमहितकी चेष्टा करें एवं क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, श्रद्धा, प्रेम आदि गुणोंको तथा सत्संग, स्वाध्याय, कथा-कीर्तन, सेवा, तप, दान आदि सदाचारोंको अमृतके समान और कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक धारण करें।

सत्सङ्गकी कुछ सार बातें

१. मनुष्य-जीवनके समयको अमूल्य और क्षणिक समझकर उत्तम-से-उत्तम काममें व्यतीत करना चाहिये। एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये।

२. यदि किसी कारणवश कभी कोई क्षण भगवत्-चिन्तनके बिना बीत जाय तो उसके लिये पुत्रशोकसे भी बढ़कर घोर पश्चात्ताप करना चाहिये, जिससे फिर कभी ऐसी भूल न हो।

३. जिसका समय व्यर्थ व्यय होता है, उसने समयका मूल्य समझा ही नहीं।

४. मनुष्यको कभी निकम्मा नहीं रहना चाहिये; अपितु सदा-सर्वदा उत्तम-से-उत्तम कार्य करते रहना चाहिये।

५. मनसे भगवान्‌का चिन्तन, वाणीसे भगवान्‌के नामका जप, सबको नारायण समझकर शरीरसे जगज्जनार्दनकी निःस्वार्थ सेवा—यही उत्तम-से-उत्तम कर्म है।

६. बोलनेके समय सत्य, प्रिय, मित और हितभरे शास्त्रानुकूल वचन बोलने चाहिये।

७. अपने दोषोंको सुनकर चित्तमें प्रसन्नता होनी चाहिये ।

८. यदि कोई हमारा दोष सिद्ध करे तो उसके लिये जहाँतक हो, सफाई नहीं देनी चाहिये; क्योंकि सफाई देनेसे दोषोंकी जड़ जमती है तथा दोष बतलानेवालेके चित्तमें भविष्यके लिये रुकावट होती है । इससे हम निर्दोष नहीं हो पाते ।

९. यदि हम निर्दोष हैं तो दोष सुनकर हमें मौन हो जाना चाहिये, इससे हमारी कोई हानि नहीं है और यदि सदोष हैं तो अपना सुधार करना चाहिये ।

१०. दोष बतलानेवालेका गुरु-तुल्य आदर करना चाहिये, जिससे भविष्यमें उसे दोष बतलानेमें उत्साह हो ।

११. अपने निकट-सम्बन्धीका दोष सहसा नहीं कहना चाहिये, कहनेसे उसको दुःख हो सकता है; जिससे उसका सुधार सम्भव नहीं ।

१२. यदि कहीं किन्हींसे काम लेना हो तो उनको अपने पास न बुलाकर उन्हींके पास जाना चाहिये ।

१३. सादगीसे रहना चाहिये ।

१४. स्वावलम्बी बनना चाहिये ।

१५. जीवनको अधिक खर्चीला नहीं बनाना चाहिये। ऋषि-मुनियोंका जीवन खर्चीला नहीं था। अधिक खर्चीला जीवन मनुष्यको रुपयों और दूसरे पुरुषोंका दास बना देता है, जिसके कारण अनेक पाप करने पड़ते हैं और दर-दर भटकना पड़ता है।

१६. शरीर-निर्वाहके लिये भी अनासक्त भावसे ही पदार्थोंका उपयोग करना चाहिये ।

१७. भोजनके समय स्वादकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये; क्योंकि वह पतनका हेतु है । स्वास्थ्यकी ओर लक्ष्य रखना भी वैराग्यमें कमी ही है ।

१८. कल्याणकामी पुरुषको तो वैराग्य-युक्त चित्तसे केवल शरीर-निर्वाहके लिये ही भोजन करना चाहिये ।

१९. व्यवहारके समय भजन-ध्यानमें मुख्य वृत्ति और संसारी कामोंमें गौण-वृत्ति रखनी चाहिये ।

२०. सोते समय भी भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण विशेषतासे करना

चाहिये जिससे शयनका समय व्यर्थ न जाय । शयनके समयको साधन बनानेके लिये सांसारिक संकल्पोंके प्रवाहको भुलाकर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और चरित्रका चिन्तन करते हुए ही सोना चाहिये ।

२१. अपने ऊपर भगवान्‌की अहैतुकी दया और प्रेम समझ-समझकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये ।

२२. सब प्राणियोंपर हेतुरहित दया और प्रेम करना चाहिये।

२३. एकान्तमें मनको सदा यही समझाना चाहिये कि परमात्माके सिवा किसीका चिन्तन न करो; क्योंकि व्यर्थ चिन्तनसे बहुत हानि है ।

२४. भगवान्‌के समान अपना कोई भी हितैषी नहीं है, अतः अपने अधीन सब पदार्थोंको और अपने-आपको राजा बलिकी भाँति भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये।

२५. भगवत्प्राप्तिके लिये मनुष्यको पात्र बनना चाहिये । पात्र बननेपर भगवान् स्वयं ही शीघ्र दर्शन दे सकते हैं ।

२६. सुननेवालोंकी इच्छाके विना वक्ताको सत्संगके रहस्यकी बातें नहीं सुनानी चाहिये ।

२७. जहाँ व्याख्यानदाता बहुत हों, वहाँ जहाँतक हो व्याख्यान न दे ।

२८. पूजा-प्रतिष्ठा, ऊँचे आसन और ऊँचे पदसे सदा ही दूर रहना चाहिये ।

२९. जहाँतक हो, गुरु बननेकी इच्छा कभी न करे ।

३०. किसी सम्बन्धीकी मृत्यु-सूचना मिलने पर, जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ जाना चाहिये; किंतु अपने घरमें किसीके मरनेपर, जहाँतक हो, दूरस्थ कुटुम्बियोंको आनेके लिये सभ्यतापूर्वक निवारण कर देना चाहिये ।

३१. दहेज और दान देना चाहिये; किंतु जहाँतक हो,लेनेसे बचना चाहिये ।

३२. जहाँतक हो, पंच न बनना चाहिये। बने तो पक्षपात नहीं करना चाहिए।

३३. जहाँतक हो, सगाई (वाग्दान) - विवाह आदि सम्बन्ध करानेके कामसे दूर रहना चाहिये ।

३४. ब्राह्ममुहूर्तमें उठना चाहिये । यदि सोते-सोते ही सूर्योदय हो जाय तो

दिनभर उपवास और जप करना चाहिये ।

३५. एकान्तके साधन को मूल्यवान् बनाने के लिये संध्या, गायत्रीजप, ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति, प्रार्थना, नमस्कार आदिके अर्थ और भावको समझते हुए ही निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक नित्य करना चाहिये ।

३६. भगवत्प्राप्ति पवित्र और एकान्त देशका सेवन, सत्संग और स्वाध्याय, परमात्माका ध्यान और उसके नामका जप, निष्काम भाव, ज्ञान, वैराग्य और उपरति—इनके समान कोई भी साधन नहीं है ।

३७. द्विजातिमात्रको उचित है कि नित्य सूर्योदय और सूर्यास्तसे पूर्व ही संध्योपासन और गायत्री-जप करे ।

३८. भगवान्के नाम-रूपको याद रखते हुए ही सामाजिक, व्यावहारिक, आर्थिक आदि कार्य न्यायपूर्वक निःस्वार्थभावसे करे; क्योंकि अपनी सारी चेष्टा निःस्वार्थभावसे दूसरेके हितके लिये करनेसे ही कल्याण होता है ।

३९. स्नान और नित्यकर्म किये बिना दातुन और जलके सिवा कुछ भी मुखमें न ले ।

४०. श्रीभगवान्के भोग लगाकर तथा यथाधिकार बलिवैश्वदेव करके ही भोजन करे ।

४१. तुलसीदलके सिवा चलते-फिरते या खड़े हुए भी कोई भी चीज कभी न खाय ।

४२. भोजनके आदि और अन्तमें आचमन करे ।

४३. एकान्तमें दो आदमी बात करते हों तो उनकी सम्मतिके बिना उनके समीप न जाय ।

४४. जीवहिंसाको बचाता हुआ चले ।

४५. घी, दूध, शहद, तेल, जल आदि तरल पदार्थ छानकर काममें ले ।

४६. कर्तव्यका पालन न होनेपर तथा अपनेसे बुरा काम बन जानेपर पश्चात्ताप करे, जिससे कि फिर कभी वैसा न हो ।

४७. कर्तव्यकर्मको झंझट मान लेनेपर वह भार-रूप हो जाता है, विशेष लाभदायक नहीं होता ।

४८. वही कर्म भगवान्‌को याद रखते हुए प्रसन्नतापूर्वक मुग्ध होकर किया जाय तो बहुत ऊँचे दर्जेका साधन बन जाता है ।

४९. अकर्मण्यता (कर्तव्यसे जी चुराना) महान् हानिकारक है । पापका प्रायश्चित्त है, किंतु इसका नहीं । अकर्मण्यताका त्याग ही इसका प्रायश्चित्त है ।

५०. कर्तव्यपालनरूप परम पुरुषार्थ ही मुक्तिका मुख्य साधन है ।

५१. धनका प्राप्त होना यद्यपि अपने वशकी बात नहीं है, तथापि मनुष्यको शरीरनिर्वाहके लिये कर्तव्यबुद्धिसे न्याययुक्त परिश्रम तो अवश्य करना चाहिये ।

५२. सुख-दुःख आदिके प्राप्त होनेपर उनको भगवान्‌का मङ्गल-विधान समझकर हर समय परम संतुष्ट रहना चाहिये ।

५३. उत्तम कामको शीघ्रातिशीघ्र करनेकी चेष्टा करे, क्योंकि शरीरका कोई भरोसा नहीं है ।

५४. जिसमें प्राणियोंकी हिंसा होती हो, ऐसी किसी चीजको व्यवहारमें न लावे ।

५५. रेशम और तूष काममें न ले ।

५६. हिंसायुक्त शहद, मृग-चर्म और कस्तूरी काममें न ले ।

५७. जहाँतक हो, मिलकी बनी चीजें खानेके काममें न ले ।

५८. ईश्वरकी सत्तापर प्रत्यक्षसे बढ़कर विश्वास रखे; क्योंकि ईश्वरपर जितना प्रबल विश्वास होगा, साधक उतना ही पापसे बचेगा और उसका साधन तीव्र होगा ।

५९. सदा-सर्वदा ईश्वरपर निर्भर रहना चाहिये । इससे धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता और आत्मबलकी वृद्धि होती है ।

६०. विशुद्ध ईश्वर-प्रेम एक बहुत गोपनीय परम रहस्यकी वस्तु है । उससे बढ़कर संसारमें कोई उत्तम वस्तु नहीं ।

६१. ईश्वरके ज्ञानके समान कोई ज्ञान नहीं ।

६२. ईश्वरके प्रभावके समान कोई प्रभाव नहीं ।

६३. ईश्वरके दर्शनके समान कोई दर्शन नहीं ।

६४. महापुरुषोंके आचरणसे बढ़कर कोई अनुकरणीय आचरण नहीं ।

६५. भगवद्भावसे बढ़कर कोई भाव नहीं ।

६६. समतासे बढ़कर कोई न्याय नहीं ।

६७. सत्यके समान कोई तप नहीं ।

६८. परमात्माकी प्राप्तिके समान कोई लाभ नहीं ।

६९. सत्संगके समान कोई मित्र नहीं ।

७०. कुसंगके समान कोई शत्रु नहीं ।

७१. दयाके समान कोई धर्म नहीं, हिंसाके समान कोई पाप नहीं, ब्रह्मचर्यके समान कोई व्रत नहीं, ध्यानके समान कोई साधन नहीं, शान्तिके समान कोई सुख नहीं, ऋणके समान कोई दुःख नहीं, ज्ञानके समान कोई पवित्र नहीं, ईश्वरके समान कोई इष्ट नहीं, पापीके समान कोई दुष्ट नहीं—ये एक-एक अपने-अपने स्थानपर अपने-अपने विषयमें सबसे बढ़कर प्रधान हैं ।

७२. कामीके साख नहीं, लोभीके नाक नहीं, क्रोधीके बाप नहीं, अज्ञानीके थाप नहीं, भक्तके शाप नहीं, नास्तिकके जाप नहीं, ज्ञानीके माप नहीं, अर्थात् इन लोगोंपर इन पदार्थोंका प्रभाव नहीं पड़ता ।

७३. गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं, गौके समान कोई सेव्य नहीं, गीताके समान कोई शास्त्र नहीं, गायत्रीके समान कोई मन्त्र नहीं एवं गोविन्दके समान कोई देव नहीं ।

७४. गङ्गा-स्नान, गौकी सेवा, अर्थसहित गीताका अभ्यास, गायत्रीका जप और गोविन्दका ध्यान—इनमेंसे किसी एकका भी निष्काम-भाव और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवन करनेसे कल्याण हो सकता है ।

७५. जिसने सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, समता, शान्ति, संतोष, सरलता, तितिक्षा, त्याग आदि शस्त्र धारण कर रखे हैं, उसका कोई भी शत्रु किंचिन्मात्र भी अनिष्ट नहीं कर सकता ।

७६. आचरणोंके सुधारकी जड़ स्वार्थका त्याग है ।

७७. झूठसे बचनेके लिये जहाँतक हो, भविष्यके निश्चित वचन नहीं कहने चाहिये ।

७८. भगवान्‌की प्राप्तिके सिवा मनमें किसी भी बातकी इच्छा

नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि कोई भी इच्छा रहेगी तो उसके लिये पुनर्जन्म धारण करना पड़ेगा । इसलिये इच्छा, वासना, कामना, तृष्णा आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

७९. बार-बार मनसे पूछो कि 'बतला, तेरी क्या इच्छा है ?' और मनसे यह उत्तर मिले कि 'कुछ भी इच्छा नहीं है ।' इस प्रकारके अभ्याससे इच्छाका नाश होता है । यह निश्चित बात है ।

८०. महात्माके हृदयमें किसी प्रकारकी भी इच्छा रहती ही नहीं, हमें भी उसी प्रकार बनना चाहिये ।

८१. संसारके किसी भी पदार्थसे आसक्ति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि आसक्ति होनेसे अन्तकालमें उसका संकल्प हो सकता है । संकल्प होनेपर जन्म लेना पड़ता है ।

८२. सत्ता और आसक्तिको लेकर जो स्फुरणा होती है, उसीका नाम संकल्प है ।

८३. महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि उनके हृदयमें किसी प्रकारका भी किंचिन्मात्र संकल्प रहता ही नहीं । प्रारब्धके अनुसार केवल स्फुरणा होती है, जो कि सत्ता और आसक्तिका अभाव होनेके कारण जन्म देनेवाली नहीं है, तथा कार्यकी सिद्धि या असिद्धिमें उनके हर्ष-शोकादि कोई भी विकार लेशमात्र भी नहीं होते । यही संकल्प और स्फुरणाका भेद है ।

८४. आसक्तिवाले पुरुषके मनके अनुकूल होनेपर राग और हर्ष तथा प्रतिकूल होनेपर द्वेष और दुःख होता है ।

८५. निन्दा-स्तुति आदि सुनकर जरा भी हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि विकार नहीं होने चाहिये ।

८६. कल्याणकामी मनुष्यको उचित है कि मान और कीर्तिको कलंकके समान समझे ।

८७. हर समय संसार और शरीरको कालके मुखमें देखे ।

८८. मरुभूमिमें जल दीखता है, वास्तवमें है नहीं । अतः कोई भी

समझदार मनुष्य प्यासा होते हुए भी वहाँ जलके लिये नहीं जाता । इसी प्रकार संसारके विषयोंमें भी सुख प्रतीत होता है, वास्तवमें है नहीं । ऐसा जाननेवाले विरक्त विवेकी पुरुषकी सुखके लिये उनमें प्रवृत्ति नहीं होती ।

८९. जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंकी दृष्टिमें संसार स्वप्नवत् है । इसीलिये वे संसारमें रहकर भी संसारके भोगोंसे लिप्त नहीं होते ।

९०. जीते हुए ही जो शरीरको मुर्देके समान समझता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त है । अर्थात् जैसे प्राणरहित होनेपर शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही प्राण रहते हुए भी जिसका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं, वही जीवन्मुक्त महाविदेही है ।

९१. श्रद्धालु मनुष्यके लिये तो महात्माका प्रभाव माने जितना ही थोड़ा है; क्योंकि महात्माका प्रभाव अपरिमेय है ।

९२. महापुरुषोंके प्रभावसे भगवान्‌की प्राप्ति होना—यह तो उनका अलौकिक प्रभाव है तथा सांसारिक कार्यकी सिद्धि होना—लौकिक प्रभाव है ।

९३. महापुरुषोंकी चेष्टा उनके तथा लोगोंके प्रारब्धसे होती है एवं लोगोंके श्रद्धा-प्रेम तथा ईश्वराज्ञासे भी होती है ।

९४. सर्वस्व जाय तो भी कभी किसी निमित्तसे कहीं किंचिन्मात्र भी पाप न करे, न करवावे और न उसमें सहमत ही हो ।

९५. पैसे न्यायसे ही पैदा करे, अन्यायसे कभी नहीं, चाहे भूखों ही मरना पड़े ।

९६. ईश्वरकी भक्ति और धर्मको कभी छोड़े ही नहीं, प्राण भले ही चले जायँ ।

९७. धैर्य, क्षमा, मनोनिग्रह, अस्तेय, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, सात्त्विकबुद्धि, अध्यात्मविद्या, सत्यभाषण और क्रोध न करना—ये दस सामान्य धर्मके लक्षण हैं ।

९८. विपत्तिमें भगवान्‌की स्मृति बनी रहे, इसीलिये कुन्तीने भगवान्‌से निरन्तर विपत्तिके लिये प्रार्थना की।

९९. पाण्डवोंने अपनेसे निम्न श्रेणीके राजा विराटकी नौकरी स्वीकार कर ली, पर धर्मका किंचिन्मात्र भी कभी त्याग नहीं किया।

१००. महाराज युधिष्ठिरने स्वर्गको ठुकरा दिया, पर अपने अनुगत कुत्तेका भी त्याग नहीं किया ।

१०१. स्वार्थका त्याग समान व्यवहारसे भी श्रेष्ठ है, इसलिये निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये ।

१०२. स्त्रीके लिये पातिव्रत्य-धर्म ही सबसे बढ़कर है । इसलिये भगवान्को याद रखते हुए ही पतिकी आज्ञाका पालन विशेषतासे करना चाहिये । तथा पतिके और बड़ोंके चरणोंमें नमस्कार करना और उन सबकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ।

१०३. विधवा स्त्रीके लिये तो विषय-भोगोंसे वैराग्य, ईश्वरकी भक्ति, सद्गुण-सदाचारका पालन और निःस्वार्थ-भावसे सबकी सेवा ही सर्वोत्तम धर्म है ।

१०४. दूसरोंको दुःख पहुँचानेके समान कोई पाप नहीं है और सुख पहुँचानेके समान कोई धर्म नहीं है । इसलिये हर समय दूसरोंके हितके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ।

१०५. कुटुम्ब, ग्राम, जिला, प्रान्त, देश, द्वीप, पृथ्वी और त्रिलोकीतक उत्तर-उत्तरवालेके हितके लिये पूर्व-पूर्ववालेके हितका त्याग कर देना चाहिये ।

१०६. किसीके भी दुर्गुण-दुराचारका दर्शन, श्रवण, मनन और कथन नहीं करना चाहिये । यदि उसमें किसीका हित हो तो कर सकते हैं; किंतु मन धोखा दे सकता है, अतः खूब सावधानीके साथ विचारपूर्वक करना चाहिये ।

१०७. किसीका उपकार करके उसपर अहसान न करे, न किसीसे कहे और न मनमें अभिमान ही करे; नहीं तो किया हुआ उपकार क्षीण हो जाता है । ऐसा समझे कि सब कुछ भगवान् ही करवाते हैं, मैं तो निमित्तमात्र हूँ ।

१०८. अनिष्ट करनेवालेके साथ बदलेमें बुराई न करे, उसे क्षमा कर दे; क्योंकि प्रतिहिंसाका भाव रखनेसे मनुष्य दोषका भागी होता है ।

१०९. यदि अनिष्ट करनेवालेको दण्ड देनेसे उसका उपकार होता हो तो ऐसी अवस्थामें उसे दण्ड देनेमें दोष नहीं है ।

११०. अपनेपर किये हुए उपकारको आजीवन कभी न भूले एवं अपना

उपकार करनेवालेका बहुत भारी प्रत्युपकार करके भी अपने ऊपर उसका अहसान ही समझे ।

१११. अपने द्वारा किसीका अनिष्ट हो जाय तो भी सदा उसका हित ही करता रहे, जिससे कि अपने किये हुए अपराधको वह मनसे भूल जाय, यही इसका असली प्रायश्चित्त है ।

११२. मन और इन्द्रियोंको इस प्रकार वशमें रखना चाहिये कि जिससे वे व्यर्थ और पापके काममें न जाकर जहाँ हम लगाना चाहें उसी भगवत्प्राप्तिके—मार्गपर लगी रहें ।

११३. ब्रह्मचर्यके पालनपर हरेक मनुष्यको विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

११४. कामकी उत्पत्ति संकल्पसे होती है, सुन्दर जवान स्त्री और बालक आदिके संगसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है ।

११५. गृहस्थी मनुष्यको महीनेमें एक बारसे अधिक स्त्री-प्रसंग नहीं करना चाहिये । ऋतुकालपर महीनेमें एक बार स्त्री-प्रसंग करनेवाला गृहस्थी ब्रह्मचारीके तुल्य है ।

११६. जीते हुए मन-इन्द्रिय मित्रके समान हैं और न जीते हुए विषयासक्त मन-इन्द्रिय शत्रुके समान हैं ।

११७. शरीर और संसारमें जो आसक्ति है, वही सारे अनर्थोंका मूल है, उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

११८. कोई भी सांसारिक भोग खतरेसे खाली नहीं है, इसलिये उससे दूर रहना चाहिये ।

११९. कञ्चन, कामिनी, मान, बड़ाई, ईर्ष्या, आलस्य, प्रमाद, ऐश, आराम, भोग, दुर्गुण और पापको साधनमें महान् विघ्न समझकर इन सबका विषके तुल्य सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

१२०. ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सद्गुण, सदाचार, सेवा और संयमको अमृतके समान समझकर सदा-सर्वदा इनका सेवन करना चाहिये ।

१२१. शौचाचारसे सदाचार बहुत ऊँचा है, उससे भी भगवान्‌की भक्ति और भी ऊँचे दर्जेकी चीज है ।

१२२. भगवान् जाति-पाँति कुछ नहीं देखते, केवल प्रेम ही देखते हैं; अतः मनुष्यको केवल भगवान्से ही प्रेम करना चाहिये ।

१२३. ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें विश्वास करनेवाले पुरुषसे कभी पाप नहीं बन सकते । उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, समता और शान्ति आदि अनेक गुण अनायास ही आ जाते हैं, जिससे उसके सारे आचरण स्वाभाविक ही उत्तम-से-उत्तम होने लगते हैं ।

१२४. भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और चरित्रोंको हर समय याद करते हुए मुग्ध रहना चाहिये ।

१२५. भगवान्के गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व और रहस्यकी बातें सुनने, पढ़ने और मनन करनेसे श्रद्धा होती है ।

१२६. एकान्तमें भगवान्के आगे करुणाभावपूर्वक रोते हुये स्तुति-प्रार्थना करनेसे भी श्रद्धा बढ़ती है ।

१२७. ऊपर बतलायी हुई बातोंपर विश्वास करके उसके अनुसार अनुष्ठान करनेसे भी श्रद्धा होती है ।

१२८. श्रद्धा होनेपर श्रद्धेय पुरुषकी छोटी-से-छोटी क्रियामें भी बहुत ही विलक्षण भाव प्रतीत होने लगता है ।

१२९. माता, पिता, पति, स्वामी, ज्ञानी, महात्मा और गुरुजनोंकी श्रद्धापूर्वक निःस्वार्थ सेवासे आत्माका शीघ्र कल्याण हो सकता है ।

१३०. निष्कामकर्म और भगवान्के नाम-जपसे, धारणा और ध्यानसे एवं सत्संग और स्वाध्यायसे मल-विक्षेप और आवरणका सर्वथा नाश होकर भगवत्प्राप्ति शीघ्र हो सकती है ।

१३१. शीघ्र कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके सिवा और किसी भी बातकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि इसके सिवा सब इच्छाएँ जन्म-मृत्युरूप संसार-सागरमें भ्रमानेवाली हैं ।

१३२. परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अर्थ और भावके सहित शास्त्रोंका अनुशीलन और एकान्तमें बैठकर जप-ध्यान तथा अध्यात्मविषयका विचार नियमपूर्वक नित्य ही करना चाहिये ।

१३३. अनिच्छा या परेच्छासे होनेवाली घटनाको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मान लेनेपर काम-क्रोध आदि शत्रु पास नहीं आ सकते, जैसे सूर्यके सम्मुख अन्धकार नहीं आ सकता ।

१३४. जीव, ब्रह्म और मायाके तत्त्वको समझनेके लिये एकान्तमें बैठकर विवेक और वैराग्ययुक्त चित्तसे नित्यप्रति परमात्माका चिन्तन करते हुए अध्यात्मविषयका विचार करना चाहिये ।

१३५. जिसने ईश्वरकी दया और प्रेमके तत्त्व-रहस्यको जान लिया है, उसके शान्ति और आनन्दकी सीमा नहीं रहती ।

१३६. जो अपने-आपको ईश्वरके अर्पण कर चुका है और ईश्वरपर ही निर्भर है, उसकी सदा-सर्वदा सब प्रकारसे ईश्वर रक्षा करता है, इससे वह सदाके लिये निर्भयपदको प्राप्त हो जाता है ।

१३७. प्रेमपूर्वक जपसहित भगवान्‌के ध्यानका अभ्यास, श्रद्धापूर्वक सत्पुरुषोंका संग, विवेकपूर्वक भावसहित सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, दुःखी, अनाथ, पूज्यजन तथा वृद्धोंकी निःस्वार्थ-भावसे सेवा—इनको यदि कर्तव्यबुद्धिसे किया जाय तो ये एक-एक साधन शीघ्र कल्याण करनेवाले हैं ।

१३८. भगवान् बहुत बड़े दयालु और प्रेमी हैं । जो साधक इसका तत्त्व समझ जायगा, वह भगवान्‌की शरण होकर शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जायगा ।

१३९. सर्वत्र भगवद्भावके समान कोई भाव नहीं है और सर्वत्र भगवद्भाव होनेसे दुर्गुण और दुराचारोंका अत्यन्त अभाव होकर सद्गुण और सदाचार अपने-आप ही आ प्राप्त होते हैं ।

१४०. वस्तुमात्रको भगवान्‌का स्वरूप और चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझनेसे भगवान्‌का तत्त्व समझमें आ जाता है ।

—***—

राजा चक्ववेणके त्यागका प्रभाव

राजा चक्ववेणकी कहानी कहीं किसी पुस्तकमें तो मैंने नहीं देखी है; परम्परासे लोकविख्यात है। यह चक्ववेणका इतिहास वास्तविक है या काल्पनिक, मुझको पता नहीं। जो भी कुछ हो, हमें तो इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। वह कहानी इस प्रकार है—

एक समय चक्ववेण नामके एक राजा हुए थे। वे बड़े ही सद्गुण-सदाचारसम्पन्न, धर्मात्मा, सत्यवादी, स्वावलम्बी, अध्यवसायशील, त्यागी, विरक्त, ज्ञानी, भक्त, तेजस्वी, तपस्वी और उच्चकोटिके अनुभवी महापुरुष थे। वे राज्यके द्रव्यको दूषित समझकर उसे स्वयं अपने और अपनी पत्नीके काममें नहीं लाते थे। प्रजासे जो कुछ 'कर' लिया जाता था, वह सारा-का-सारा प्रजाकी ही सेवामें लगा दिया जाता था। राज्यका कार्य वे निरभिमानपूर्वक निष्कामभावसे तन-मनसे किया करते थे। प्रजापर उनका बड़ा प्रभाव था। रामराज्यकी भाँति उनके राज्यमें कोई दुखी नहीं था, सभी सब प्रकारसे सुखी थे।

वे अपने शरीरनिर्वाहके लिये पृथक् खेती किया करते थे। स्वयं रानी बैलके स्थानमें हल खींचा करती और वे बीज बोया करते। वे अपने ही खेतमें उपजे हुए अन्नसे अपना भरण-पोषण करते थे। वे गन्ना, रूई, अनाज, फल और

शाककी खेती किया करते थे। अपने खेतमें उपजी हुई रूईका ही वस्त्र बनाकर पहनते, अपने खेतमें उपजे हुए गन्नोंका ही गुड़ बनाकर खाते और अपने खेतमें उपजे हुए अन्न, फल, शाकको ही भोजनके काममें लाते थे। उनकी पत्नीके पास कोई भी आभूषण नहीं थे; क्योंकि वे राज्यके द्रव्यसे तो आभूषण बनाते नहीं और अपनी की हुई खेतीकी उपजसे केवल सादगीसे खाने-पहननेका कामभर चलता था। खेतीके सिवा उन्हें राज्यके कार्योंमें भी तो समय देना पड़ता था। उनका जीवन एक सीधे-सादे सदाचारी किसानके जैसा था। छः घंटे शयनके सिवा उनका सारा समय ईश्वरभक्ति, परोपकार, राज्य-कार्य और कृषिके कार्योंमें ही बीतता था। उनका सब जीवोंके प्रति समता, दया और प्रेमका भाव समान था। वे सब प्राणियोंको परमात्माका स्वरूप मानकर सबकी निष्काम प्रेमभावसे सेवा करते थे। वे स्वावलम्बी थे; अपने शरीरका काम स्वयं ही करते थे। किसी राज्यकर्मचारी या नौकर आदिसे नहीं कराते थे। वे जो कुछ भी कार्य करते, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर बड़े ही उत्साह और धैर्यसे किया करते।

एक दिनकी बात है। जिस देशमें राजा चक्ववेण रहते थे, वहाँ एक बड़ा भारी मेला लगा। उसमें नगरके अन्यान्य प्रान्तोंके लोग बड़ी भारी संख्यामें इकट्ठे हुए। राजा-रानीके दर्शनके लिये यों तो बराबर ही लोग आते रहते, पर मेलेके कारण नर-नारियोंकी भीड़ कुछ अधिक रहती थी। राजाके पास अधिकतर पुरुष आते और रानीके पास अधिकतर स्त्रियाँ आया करती थीं। एक दिन बहुत-से गहनों और रेशमी वस्त्रोंसे सजी-धजी अनेक दासियोंसे घिरी हुई बहुत-सी धनी व्यापारियोंकी स्त्रियाँ रानीका दर्शन करनेके लिये उनके पास आयीं। उन स्त्रियोंने कहा—'रानीजी! आपके-जैसे वस्त्र तो हमारी मजदूरिनियाँ भी नहीं पहनतीं; आप हमारी दासियोंको देखिये, कैसे वस्त्राभूषण पहने हैं। आपके वस्त्राभूषण तो हमलोगोंसे भी बढ़कर होने चाहिये। जैसे ये हमारी दासियाँ हैं, उसी प्रकार हमलोग तो आपकी दासीके समान हैं। आपके स्वामी बड़े सम्राट् हैं, आप उनसे थोड़ा-सा भी संकेत कर देंगी तो वे आपके लिये हमलोगोंसे बढ़कर वस्त्राभूषणकी व्यवस्था कर देंगे। आप हमारी स्वामिनी हैं, इसलिये हमें आपको इस वेशमें देखकर दुःख होता है। ऐसे वस्त्र तो भीख माँगनेवाली भिखारिन

भी पहनना नहीं चाहती। एक सम्राट्की महारानीके जैसे वस्त्राभूषण होने चाहिये, हम उसी रूपमें आपको देखना चाहती हैं।' इस प्रकार कहकर वे अपना प्रभाव डालकर चली गयीं। रानीके चित्तपर उनकी बातोंका बड़ा असर पड़ा।

रात्रिमें जब महाराज आये, तब रानीने सब घटना उनको सुनायी और दिनमें जो कुछ धनी व्यापारियोंकी स्त्रियोंने कहा था, सब राजासे निवेदन किया एवं उनसे अनुरोध किया कि मेरे पहननेके लिये बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण मँगा दीजिये। राजाने उत्तर दिया—'कैसे मँगा दूँ ? व्यवहारमें लाना तो दूर रहा, मैं राज्यके पैसोंको छूता भी नहीं, उससे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।' रानी भी बहुत उच्चकोटिकी पवित्र स्त्री थीं, किन्तु वस्त्राभूषणोंसे सजी-धजी धनिकोंकी स्त्रियोंका उनपर काफी असर पड़ चुका था, अतः रानीने कहा—'चाहे जैसे भी हो, आप सम्राट् हैं और मैं आपकी पटरानी हूँ। मेरे लिये तो एक सम्राट्की पटरानीके योग्य बहुमूल्य वस्त्राभूषण मँगानेकी कृपा आपको करनी ही होगी।' पत्नीकी प्रीतिसे प्रेरित राजाने सोचा—'रानी कितना भी आग्रह क्यों न करें,मैं राज्यके द्रव्यको तो किसी भी हालतमें उपयोगमें ला नहीं सकता, किंतु मैं सम्राट् हूँ; दुष्ट, अत्याचारी और बलवान् राजाओंसे 'कर' ले सकता हूँ।' यह सोचकर उन्होंने पर-राष्ट्रों तथा अधीनस्थ राज्योंके कार्यका सम्पादन करनेवाले मन्त्रीको बुलाया और कहा—'मन्त्री ! आप राक्षसराज रावणके पास जाइये और कहिये कि राजा चक्रवेणकी ओरसे मैं आया हूँ, उन्होंने मुझे आपसे 'कर' के रूपमें सवा मन सोना प्राप्त करनेके लिये आपके पास भेजा है।'

सम्राट्की आज्ञासे मन्त्री कुछ आदमियोंको ले रथमें बैठकर समुद्रके किनारे पहुँचे और फिर जलयानके द्वारा समुद्रके उस पार पहुँचकर लङ्कामें प्रवेश किया तथा राजसभामें जाकर बड़ी नम्रता और सभ्यताके साथ सम्राट् चक्रवेणका संदेश सुनाया। संदेशको सुनते ही रावण हँसा और उसने सभासदोंसे कहा— 'देखो, ऐसे मूर्ख राजा भी संसारमें अभी हैं, जो ऋषि, देवता, राक्षस आदि सभीसे 'कर' लेनेवाले मुझ-जैसे बलवान् सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र महान् सम्राट्से भी करकी आशा रखते हैं !' उन्होंने राजा चक्रवेणके दूतको कैद करना चाहा, किन्तु सभासदोंके अनुरोध करनेपर उसे छोड़ दिया। वह रावणकी सभासे उठकर

समुद्रके किनारे लौट आया।

तदनन्तर रावण जब रात्रिमें मन्दोदरीके पास महलमें गया, तब रावणने हँसकर मन्दोदरीसे विनोद करते हुए कहा—' कोई एक भारतवर्षमें चक्रवेण नामका राजा है। आज उसका एक दूत सभामें आया था और उसने मुझसे सवा मन स्वर्ण 'कर' के रूपमें देनेको कहा। मुझे इसपर बड़ी हँसी आयी। देखो, संसारमें ऐसे मूर्ख भी अभीतक जीते हैं जो मुझ-जैसे सबसे कर लेनेवालेसे भी कर लेनेकी आशा रखते हैं! मैं तो उसके दूतको कैद करना चाहता था, पर सभासदोंके अनुरोधसे उसे छोड़ दिया।' मन्दोदरीने दुःख प्रकट करते हुए कहा— 'स्वामिन्! आपने बहुत बुरा किया। चक्रवेणको मैं जानती हूँ, वे सत्यवादी और धर्मात्मा राजा हैं। उनका चक्र चलता है। जो उनकी आज्ञाका पालन नहीं करता, उसका अनिष्ट हो जाता है। उस दूतको संतोष कराकर ही आपको उसे भेजना चाहिये था। उसका पता लगाकर अब भी उसको संतोष करा दें, नहीं तो पता नहीं, हमारा कितना अनिष्ट हो जायगा।' रावण बोला—'तू बड़ी डरपोक है, मामूली मनुष्य-राजाओंसे तू इतना भय करती है, मैं इसकी कुछ भी परवा नहीं करता।' रानीने कहा—'कल प्रातःकाल मैं आपको चक्रवेणका प्रभाव दिखलाऊँगी।' प्रातः होते ही राजाके साथ मन्दोदरी महलके छतपर गयी, जहाँ वह रोज कबूतरोंको अनाज डाला करती थी। अनाज चुगने वहाँ बहुत-से कबूतर आया करते। मन्दोदरीने दाने चुगते हुए पक्षियोंसे कहा—'राजा रावणकी दुहाई है, खबरदार! दाने न चुगना।' किंतु वे चुगते ही रहे। फिर रानीने राजासे कहा—'देखिये, आपके सम्मुख और आपकी दुहाई देनेपर भी ये सब दाने चुगते ही रहे।' रावणने कहा—'मूर्खे! ये पक्षी बेचारे क्या समझें!' मन्दोदरी बोली—'अब आप राजा चक्रवेणके प्रभावको देखिये।' फिर उसने पक्षियोंसे कहा—'सावधान! चक्रवेणकी दुहाई है, कोई दाने न चुगना।' इतना सुनते ही सब पक्षियोंने एक साथ दाने चुगने बंद कर दिये। उनमेंसे एक कबूतर बहिरा था, वह कुछ भी सुन नहीं पाता था; अतः उसने दाना उठा लिया। ज्यों ही उसने दाना उठाया, त्यों ही उसकी गर्दन टूटकर गिर गयी। रानीने रावणसे कहा—'देखिये, राजा चक्रवेणकी दुहाईपर सबने दाने चुगने बंद कर दिये, एक बहिरे कबूतरने न सुननेके कारण दाना उठा लिया, जिससे चक्रवेणके चक्रसे

उसका मस्तक कटकर गिर गया।' फिर रानी पक्षियोंसे बोली—'अब मैं चक्ववेणकी दुहाई हटा लेती हूँ, अब दाने चुगो।' तुरन्त सब पक्षी दाने चुगने लगे। रानीने फिर कहा—'जो तुम्हारे सम्मुख खड़े हैं, उन राजा रावणकी दुहाई है, कोई भी दाने न चुगना।' किंतु राजा रावणके सामने रहते हुए भी किसीने परवा न की और वे दाने चुगते ही रहे। मन्दोदरीने रावणसे कहा—'देखिये, आपका इन पक्षियोंपर कुछ भी असर नहीं होता, परन्तु राजा चक्ववेणके प्रभावपर विचार कीजिये, उनके सामने न रहते हुए भी उनका कितना असर है।' रावणने कहा—'मालूम होता है तुम्हारी इसमें कोई माया है। नहीं तो, ये पक्षी बेचारे क्या समझें।' ऐसा कहकर रावण टालमटोल करके राजसभामें चला गया।

इधर, राजा चक्ववेणके मन्त्रीने समुद्रके किनारे एक नकली लङ्काकी रचना की। उसने कज्जलके समान अत्यन्त महीन मिट्टीको समुद्रके जलमें घोलकर खड़ीकी तरह बना लिया तथा तटकी जगहको चौरस बनाकर उसपर उस मिट्टीसे एक छोटे आकारमें नकली लङ्का की रचना की। घुली हुई मिट्टीकी बूँदोंको टपका-टपकाकर उसीसे लङ्काके परकोटे, बुर्ज और दरवाजों आदिकी रचना की। परकोटेके चारों ओर कँगूरे भी काटे गये एवं उस परकोटेके भीतर लङ्काकी राजधानी और नगरके प्रसिद्ध बड़े-बड़े मकानोंको भी छोटे आकारमें रचना करके दिखाया गया। इन सबकी रचना करनेके बाद वह पुनः रावण की सभामें गया।उसे देखकर रावण चौंक उठा और उससे बोला—'क्यों जी ! तुम फिर यहाँ किसलिये आये हो ?' उसने कहा—'मैं आपको एक कौतूहल दिखलाना चाहता हूँ। आप मेरे साथ समुद्रतटपर चलिये।' रावण कौतूहल देखनेको उत्सुक हो गया और कुछ सभासदोंको साथ लेकर समुद्रतटपर गया, जहाँ उस मन्त्रीने छोटे आकारमें नकली लङ्काकी रचना की थी।

उसने रावणसे पूछा—'देखिये, यह ठीक-ठीक आपकी लङ्काकी नकल है न ?' रावणने उसकी अद्भुत कारीगरी देखी और कहा— 'ठीक है; क्या यही दिखानेके लिये मुझे यहाँ लाये थे ?' मन्त्री बोला—'नहीं-नहीं, इस लङ्कासे आपको मैं एक कौतूहल दिखाता हूँ; देखिये, लङ्काके पूर्वका परकोटा, दरवाजा, बुर्ज और कँगूरे साफ-साफ ज्यों-के-त्यों दीख रहे हैं न ?' रावणने कहा—

'दीख रहे हैं।' मन्त्रीने कहा—'मेरी रची हुई लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरोंको मैं राजा चक्रवेणकी दुहाई देकर गिराता हूँ, इसके साथ ही आप अपनी लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरे गिरते हुए देखेंगे।' इतना कहकर मन्त्रीने 'राजा चक्रवेणकी दुहाई है' कहकर अपनी रची लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरे गिरा दिये। उनके गिरनेके साथ-साथ ही रावणको असली लङ्काके पूर्वद्वारके कँगूरे गिरते हुए दिखायी दिये। यह देखकर रावणको बड़ा आश्चर्य हुआ। इसके बाद दूतने कहा—'अब मैं अपनी रची हुई लंकाके पूर्वके परकोटेके द्वारके आस-पासकी चारों बुर्जें मिटाता हूँ, इसके साथ-साथ ही आप अपनी असली लङ्काकी बुर्जोंको भी मिटती हुई देखेंगे।' यह कहकर उसने चक्रवेणकी दुहाई देकर अपनी बनायी मिट्टीकी लंकाकी बुर्जें मिटा दीं, उसके साथ ही रावणकी असली लंकाके पूर्वद्वारकी बुर्जें भी चकनाचूर होकर नष्ट हो गयीं। यह देखकर रावणको बहुत ही आश्चर्य हुआ और उसे मन्दोदरीकी कही हुई बात याद आ गयी।

तदनन्तर राजा चक्रवेणके मन्त्रीने कहा—'राजन्! आप यदि सवा मन सोना 'कर' के रूप में नहीं देंगे तो भी राजा चक्रवेण को आपसे युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। राजा चक्रवेणके प्रभावका चक्र चलता है। मैं अकेले ही आपकी लङ्काको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये काफी हूँ। अभी राजा चक्रवेणकी दुहाई देकर आपकी लङ्काको क्षणमात्रमें एक हाथके झटकेसे नष्ट किये देता हूँ। आप उस लङ्काकी रक्षा कर सकें तो करें। यदि आपको लङ्काकी रक्षा करनी है तो 'कर' के रूपमें सवा मन सोना दे दीजिये; इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है।' रावणने सोचा—'मेरे देखते-देखते क्षणमात्रमें पूर्वद्वारके कँगूरे और चारों बुर्जें गिर गयीं, जो धातुनिर्मित और बहुत ही मजबूत थीं। इसी प्रकार इस सारी लङ्काको नष्ट करना इसके बायें हाथका खेल है।' यह सोचकर रावणने सवा मन सोना 'कर' के रूपमें देना स्वीकार कर लिया और मन्त्रीसे कहा—'चलो, मैं आपको सवा मन सोना दे देता हूँ।' तत्पश्चात् उसे सवा मन सोना देकर विदा किया।

मन्त्री सवा मन सोना लेकर राजा चक्रवेणके पास वापस लौट आया। उसने राजा-रानीके पास जाकर उनके सामने सवा मन सोना रख दिया और कहा—'आपकी आज्ञासे रावणसे 'कर' के रूपमें सवा मन सोना ले आया हूँ।' राजाके यह

पूछनेपर कि 'तुमने यह सोना कैसे प्राप्त किया ?' उसने आद्योपान्त सारी घटना उनको कह सुनायी।

यह घटना सुनकर रानीको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने राजासे पूछा—'यह क्या बात है ?' राजाने कहा—'हमलोग स्वावलम्बी होकर परिश्रमपूर्वक खेती करके अपना निर्वाह करते हुए वैराग्य और त्यागपूर्वक अपना जीवन बिताते हैं और निष्कामभावसे प्रजाके धनको प्रजाकी सेवामें ही लगा देते हैं, अपने व्यक्तिगत कार्यके लिये राज्यके पैसेको छूतेतक भी नहीं, इसीका यह प्रभाव है।'

यह सुनकर रानीका दिल बदल गया। रानी बोली— 'स्वामिन्! मैं बहुमूल्य वस्त्राभूषण नहीं पहनूँगी। जिस प्रकार अबतक नियमसे रहती आयी हूँ, वैसे ही रहूँगी, कुछ भी परिवर्तन नहीं करूँगी। धनी व्यवसायियोंकी स्त्रियोंके कुसंगसे मेरी बुद्धि त्याग-वैराग्य और धर्मसे विचलित हो गयी थी, किंतु अब उनके संगका मुझपर कोई असर नहीं रह गया है। मैंने आपसे जो कुछ दुराग्रह किया, उसके लिये मैं क्षमा-प्रार्थना करती हूँ। मेरे अपराधको आप क्षमा करें और इस स्वर्णको वापस लौटा दें।'

राजाने उसकी बात मानकर मन्त्रीसे कहा कि 'मन्त्री ! इसपर जो कुसंगका असर पड़ा था, वह ईश्वरकी कृपासे दूर हो गया है। अब इस धनको जहाँसे तुम लाये थे, वहीं वापस कर दो।' राजाकी आज्ञा होते ही मन्त्री वह स्वर्ण लेकर लङ्कापति रावणके पास पुनः गया और सभामें जाकर बोला—'महाराज चक्ववेणने आपका यह स्वर्ण वापस लौटा दिया है। उनकी पत्नीकी जो बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहननेकी अभिलाषा हो गयी थी, वह भगवत्कृपासे अब नहीं रही। अतः अब इसकी उन्हें आवश्यकता नहीं है।'

इस बातको सुनकर रावणके हृदयपर चक्ववेणके त्यागका और भी अधिक असर पड़ा। उसने वह स्वर्ण रखकर मन्त्रीको बहुत ही आदर-सत्कारपूर्वक विदा किया। मन्त्रीने वापस आकर राजा-रानीको स्वर्ण लौटा देनेका सब हाल सुना दिया। दूतकी बात सुनकर राजा-रानीको बहुत ही प्रसन्नता हुई। राजा चक्ववेणका प्रभाव यक्ष, राक्षस, देवता, मनुष्य, ऋषि, मुनि, पशु, पक्षी आदि सभीपर था।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये— प्रत्येक स्त्री-पुरुषको निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार न्याय और सत्यतापूर्वक अपनी जीविका चलामी चाहिये। दूसरोंके आश्रित होकर अपना जीवन-निर्वाह करना भी अपने लिये घृणास्पद है। झूठ, कपट, बेईमानी करके उपार्जित द्रव्यसे हमें यदि मेवा-मिष्ठान्न भी मिल जायँ तो वे हमारे लिये विषके समान हैं, किंतु अपने न्यायोपार्जित पवित्र द्रव्यसे एक मुट्ठी चने भी खानेको मिलें तो वे हमारे लिये अमृतके समान हैं। हमें बीमारी और आपत्तिकालके अतिरिक्त —नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्र और शिष्य आदिके रहते हुए भी अपने शरीरका काम जहाँतक हो सके, स्वयं ही करनेका अभ्यास डालना चाहिये, जिससे कि हमें दूसरोंके अधीन होकर जीना न पड़े। कल्याणकामी पुरुषोंके लिये दूसरोंके आश्रित होकर जीना लज्जास्पद है।

साथ ही हमें समयको अमूल्य समझकर एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए परोपकार और शरीर-निर्वाह आदिका कार्य करते रहना चाहिये। छः घंटे सोनेके अतिरिक्त एक क्षण भी न तो समय व्यर्थ बिताना चाहिये और न उसका दुरुपयोग करना चाहिये। मनुष्यका जीवन बड़ा ही मूल्यवान् है। अतः क्षणमात्र भी निकम्मा नहीं रहना चाहिये, अपनी बुद्धिसे हम जिसको सबसे बढ़कर कार्य समझें, उसी कार्यको करते रहना चाहिये।

थोड़ी देरका कुसंग भी मनुष्यके लिये बहुत हानिकारक हो जाता है—इस बातको ध्यानमें रखकर नास्तिक, नीच, प्रमादी, भोगी, पापी, निकम्मे, आलसी, दूसरोंपर निर्भर रहकर जीवन-निर्वाह करनेवाले, बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण करनेवाले, खेल-तमाशा और मादक वस्तुओंका सेवन करनेवाले दुर्व्यसनी स्त्री या पुरुषोंका कभी भूलकर क्षणमात्र भी संग नहीं करना चाहिये और प्रमाद, आलस्य, निद्रा, भय, उद्वेग, राग, द्वेष, अहंकार और दुर्व्यसन आदिसे रहित होकर अपना जीवन विवेक, वैराग्य, त्याग और संयमपूर्वक निष्कामभावसे भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्यायमें ही बिताना चाहिये तथा सम्पूर्ण प्राणिमात्रको परमात्माका स्वरूप समझकर, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निष्कामभावपूर्वक तन-मनसे सबकी सेवा करनी चाहिये एवं सबपर समान भावसे हेतुरहित दया और प्रेम रखना चाहिये।

——::०::——

स्कन्दपुराणके कुछ महत्त्वपूर्ण विषय

स्कन्दपुराणमें नारदपुराणके मतानुसार माहेश्वर, वैष्णव, ब्राह्म, काशी, अवन्ती, नागर और प्रभास—इस प्रकार सात खण्ड हैं। इन खण्डोंमें कई अवान्तर खण्ड हैं। इस पुराणका नाम 'स्कन्द' इसलिये रखा गया कि भगवान् श्रीशिवजीके पुत्र श्रीकार्तिकेयजीका नाम स्कन्द है और इस पुराणमें उन भगवान् कार्तिकेयजीकी उत्पत्ति, उत्पत्तिके कारण, उनके प्रभाव तथा उनके द्वारा देवताओंके सेनापति बनकर तारकासुरके मारे जाने आदि चरित्रोंका वर्णन है।

इसमें भगवान् श्रीशिवजीकी महिमाका वर्णन विशेषरूपसे पाया जाता है, अतः शिवभक्तोंके लिये यह बहुत ही उपयोगी उत्तम ग्रन्थ है। इसमें सर्वप्रथम 'माहेश्वरखण्ड' है जो भगवान् श्रीशंकरकी प्रधानताका द्योतक है। काशी एवं अवन्ती-खण्डोंमें भी शिवलिङ्गकी स्थापना तथा पूजनादिका विवेचन बड़े ही विस्तारसे किया गया है। कई खण्डोंमें भगवान् श्रीविष्णुके पावन चरित्र तथा विष्णुभक्तोंकी कथाओंका भी सुन्दर वर्णन है। दूसरे खण्डका तो नाम ही 'वैष्णवखण्ड' है और उसमें विशेषतया भगवान् श्रीविष्णुकी भक्ति तथा विष्णुभक्त एवं भगवान् श्रीविष्णुके स्वरूप, गुण आदिका ही वर्णन किया गया है।

इसमें तीर्थोंका वर्णन प्रधानरूपसे किया गया है, जिनमें पुरुषोत्तमक्षेत्र

(जगन्नाथपुरी), बदरिकाश्रम, अयोध्या, रामेश्वर, काशी, नर्मदा (अमरकण्टक), हाटकेश्वरक्षेत्र, अवन्तिका, प्रभास और द्वारका आदि तीर्थोंका तो बड़े ही विस्तारके साथ उल्लेख किया गया है। इनके सिवा व्रत और उपवासकी महिमाका तो इसमें विशेषतासे निरूपण है ही। साथ ही कार्तिक, मार्गशीर्ष और वैशाख-मासोंमें स्नान-दानका भी बड़ा भारी पुण्य बतलाया गया है। इसी प्रकार ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, शौचाचार, सदाचार, वर्णाश्रमधर्म, पातिव्रतधर्म, यज्ञ, दान, तप, श्राद्ध आदि विषयोंपर भी अनेक जगह बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। स्थान-स्थानपर अनेकों इतिहास और कथाओंके द्वारा तीर्थोंकी महिमा विस्तृत-रूपमें बतलायी गयी है।

इस पुराणमें जो विशेष महत्त्वके ज्ञातव्य विषय हैं, उनमेंसे कुछपर विशेष लक्ष्य दिलानेके उद्देश्यसे बहुत ही संक्षेपमें यहाँ कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् स्कन्दका जन्म

सर्वप्रथम माहेश्वरखण्डमें भगवान् स्कन्दजी (कार्तिकेयजी) के जन्म-प्रसङ्गमें दक्षप्रजापतिके यज्ञमें भगवान् शंकरकी प्रियतमा पत्नी भगवती सतीके अग्निप्रवेश, वीरभद्रके द्वारा दक्ष-यज्ञ-विध्वंस, दक्षवध, ब्रह्माजीके द्वारा कैलासगमन और दक्षके पुनर्जीवनके लिये सदाशिवका स्तवन, महादेवजीका ब्रह्माजी तथा देवताओंके साथ कनखलमें दक्षके यज्ञमण्डपमें जाकर दक्षकी धड़पर पशुका सिर जोड़ना, दक्षका जीवित होना, लोमशजीके द्वारा शिवपूजनकी विधि और शिवमहिमापर महत्त्वपूर्ण प्रवचन, भगवान् महेश्वरकी तपस्या, हिमवान्के घरमें भगवती सतीका पार्वतीके रूपमें प्राकट्य और पार्वतीकी घोर तपस्याका बड़ा ही विशद वर्णन है। इसके बादका प्रसंग इस प्रकार है—

पार्वतीजीके महान् तपसे जब सम्पूर्ण चराचर जगत् संतप्त होने लगा, तब देवता और ऋषि ब्रह्माजीके सहित पिनाकधारी महादेवजीका दर्शन करनेके लिये गये। उस समय भगवान् शिव समाधि लगाये योगासनपर विराजमान थे।

ब्रह्माजी बोले—भगवन्! तारकासुरने देवताओंको महान् कष्ट पहुँचाया है, अतः हमारी प्रार्थना है कि आप उसके वधके लिये पार्वतीजीका पाणिग्रहण

करें। इसपर महादेवजीने देवताओं और ऋषियोंको भलीभाँति समझाया। तत्पश्चात् वे पुनः ध्यान लगाकर मौन हो गये। तब वे सब देवता आदि अपने-अपने स्थानको चले गये। इधर शिवजी मनको आत्मामें एकाग्र करके अपने स्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करने लगे—

परात्परतरं स्वस्थं निर्मलं निरवग्रहम्।
निरञ्जनं निराभासं यन्मुह्यन्ति च सूरयः॥

भानुर्न भात्यग्निरथो शशी वा न ज्योतिरेवं न च मारुतो हि।
यत् केवलं वस्तुविचारतोऽपि सूक्ष्मात् परं सूक्ष्मतरात् परं च॥
अनिर्देश्यमचिन्त्यं च निर्विकारं निरामयम्।
ज्ञप्तिमात्रस्वरूपं च न्यासिनो यान्ति यत्र वै॥
शब्दातीतं निर्गुणं निर्विकारं सत्तामात्रं ज्ञानगम्यं त्वगम्यम्।
यत्तद् वस्तु सर्वदा कथ्यते वै वेदातीतैश्चागमैर्मूकभूतैः॥
तद्वस्तुभूतो भगवान् स ईश्वरः पिनाकपाणिर्भगवान् वृषध्वजः।

(स्क०, मा०, के० २२। ३३—३७)

'जो परसे भी अत्यन्त परे, अपने-आपमें स्थित, मल आदि दोषोंसे रहित, विघ्न-बाधाओंसे शून्य, निरञ्जन (निर्लिप्त) तथा निराभास (मिथ्या ज्ञानसे रहित) है, जिसके विषयमें विवेकी विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि अथवा नक्षत्र आदि दूसरी किसी ज्योतिका प्रकाश नहीं, जहाँ वायुकी भी गति कुण्ठित हो जाती है, जो विचारदृष्टिसे भी केवल (अद्वितीय) सद्वस्तु है, सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर वस्तुओंसे भी परे है, जिसका कोई नाम या संकेत नहीं है, जो चिन्तनका विषय नहीं है, जिसमें विकारका सर्वथा अभाव है, जो रोग और शोकसे सर्वथा दूर है, विशुद्ध ज्ञान ही जिसका स्वरूप है, कर्तृत्व-अभिमानसे रहित पुरुष जिसे प्राप्त होते हैं, जो शब्द या वाणीकी पहुँचसे परे है, निर्गुण और निर्विकार है, सत्तामात्र ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञानगम्य होकर भी वास्तवमें अगम्य है, वेदान्त और आगम भी मूक होकर (नेति-नेतिकी भाषामें) जिसका सर्वदा प्रतिपादन करते हैं, वही सबके ईश्वर पिनाकधारी भगवान् वृषध्वज

परमार्थवस्तु (परब्रह्म परमात्मा) है'। *

उधर पार्वतीदेवी बड़ी कठोर तपस्यामें लगी हुई थीं। उस तपस्यासे उन्होंने भगवान् शङ्करको जीत लिया। देवीकी तपस्यासे हार मानकर भगवान् शिव समाधिसे विरत हो तुरंत उस स्थानपर गये, जहाँ पार्वतीजी विराजमान थीं। ध्यानमें लगी हुई पार्वतीदेवी अपने ध्यानगत स्वरूपका अन्वेषण कर रही थीं। उसी समय उनके हृदयस्थित देवता बाहर दिखायी देने लगे। गिरिजाने आँख खोलकर देखा तो सर्वलोकमहेश्वर शिव सामने दृष्टिगोचर हुए।

भगवान् शिव पार्वतीसे बोले—'कल्याणि! तुम वर माँगो।' उन्होंने कहा—'देवेश! आप मेरे सनातन स्वामी हैं। मैं वही सती हूँ, जिसके लिये आपने दक्षयज्ञका विनाश किया था। वही आप हैं और वही मैं हूँ। तारकासुरके वधरूप देवकार्यकी सिद्धिके लिये मैं मेनाके गर्भसे प्रकट हुई हूँ। आपसे मेरेद्वारा एक पुत्र होगा। इसलिये आपको मेरी प्रार्थना स्वीकार कर हिमवान्‌के पास जाना चाहिये और उनसे मेरे लिये याचना करनी चाहिये।'

तब महादेवजीने पार्वतीजीसे कहा—'मैं हिमालयके पास जाकर किसी प्रकार याचना नहीं करूँगा; क्योंकि किसीके सामने 'दीजिये' ऐसा वचन मुँहसे निकालनेपर पुरुष उसी क्षण लघुताको प्राप्त हो जाता है।'

ऐसा कहकर भगवान् शिव अपने स्थानको चले गये। तदनन्तर हिमवान् अपनी धर्मपत्नी मेना तथा दूसरे पर्वतोंके साथ वहाँ आये। पार्वतीजी उन्हें देखकर खड़ी हो गयीं और उन्होंने अपने माता-पिता एवं भाई-बन्धुओंको प्रणाम किया। तदनन्तर हिमालयके पूछनेपर पार्वतीने सब बातें बतला दीं, जो महादेवजीसे हुई थीं। पार्वतीकी बात सुनकर हिमवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई और वे पार्वतीको अपने घर लिवा लाये।

तदनन्तर भगवान् महेश्वरके भेजे हुए सप्तर्षिगण हिमवान्‌के पास आये और उन्होंने पार्वतीके पिता-माता हिमवान् तथा मेनासे पक्की बातचीत करके लौटकर

* निर्गुण निराकारके उपासकोंके लिये यह ध्यानकी प्रक्रिया बड़ी ही उपादेय है, उन्हें इसी प्रकार ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

भगवान् शिवसे सब वृत्तान्त कहा और बोले कि 'हिमवान्‌ने आपको कन्या देना स्वीकार कर लिया है।' तब भगवान् महेश्वर सम्पूर्ण देव-दानवोंके साथ सब प्रकारसे अलङ्कृत हो पार्वतीजीका पाणिग्रहण करनेके लिये गिरिराज हिमवान्‌के यहाँ गये। तदनन्तर गिरिराज हिमालयने गर्गाचार्यके आदेशसे अपनी पत्नी मेनाके साथ कन्यादान किया। उन्होंने बड़े विस्तारके साथ परम मङ्गलमय और अतिशय शोभायमान वैवाहिक उत्सव सम्पन्न किया। अन्तिम दिन हिमवान्‌ने उत्साहपूर्ण हृदयसे वस्त्र, आभूषण और भाँति-भाँतिके रत्न भेंट करके भगवान् शिवका पूजन किया। इस प्रकार जिनके कन्यादानरूपी महान् दानसे भगवान् शंकर संतुष्ट हुए वे पर्वतराज हिमालय तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये।

इसी प्रसङ्गमें भगवन्नामजप और भगवत्पूजाका बड़ा सुन्दर माहात्म्य बतलाया है, उसपर सबको ध्यान देना चाहिये। वह इस प्रकार है—'जिनकी जिह्वाके अग्रभागपर सदा भगवान् शंकरका दो अक्षरोंवाला नाम (शिव) विराजमान रहता है, वे धन्य हैं, वे महान् पुरुष हैं तथा वे ही कृतकृत्य हैं। महादेवजी थोड़ा-सा बिल्वपत्र पाकर भी सदा संतुष्ट रहते हैं। फल और जल अर्पण करनेसे भी प्रसन्न हो जाते हैं। भगवान् शिव सदा सबके लिये कल्याणस्वरूप हैं। ये पत्र, पुष्प और जलसे ही संतुष्ट हो जाते हैं। इसलिये सबको इनकी पूजा करनी चाहिये। शिवजी इस जगत्‌में मनुष्योंको महान् सौभाग्य प्रदान करनेवाले हैं। ये एक हैं, महान् हैं, ज्योतिःस्वरूप हैं तथा अजन्मा परमेश्वर हैं। महात्मा शिव कार्य और कारण सबसे परे हैं। ये व्यवधानशून्य निर्गुण, निर्विकार, निर्बाध, निर्विकल्प, निरीह, निरञ्जन, निष्काम, निराधार और नित्यमुक्त हैं।

ऐसी महिमावाले भगवान् शिवकी आराधनासे ही हिमवान् सबसे महान् वन्दनीय और पर्वतोंमें श्रेष्ठ हो गये। इसके बाद उन्होंने सब पर्वतोंको विदा किया। पश्चात् भगवान् शिवजी गन्धमादनपर्वतके एकान्त प्रदेशमें पार्वतीदेवीके साथ निवास करने लगे। उस समय भगवान् शंकरके दुःसह वीर्यसे समस्त चराचर जगत् नष्ट होने लगा। यह देख ब्रह्माजी तथा विष्णुने अग्निदेवका स्मरण किया। अग्निदेव तत्काल वहाँ आ पहुँचे। उनकी आज्ञा पाकर अग्निने हंसका

रूप धारण करके शिवजीके भवनमें प्रवेश किया और कहा—'माँ! हाथ ही मेरा पात्र है, इसमें मुझे भिक्षा दो।' तब माता पार्वतीने अग्निको भिक्षाके रूपमें वीर्य दे दिया, जिससे वे अत्यधिक संतप्त हो गये! उस समय नारदजीने अग्निदेवसे कहा—'माघ मासमें प्रातःस्नान करके जो अग्निसेवनके लिये आये, उनमें तुम यह तेज स्थापित कर देना।' उनकी बात मानकर अग्निदेव ब्राह्ममुहूर्तमें प्रचण्ड तेजसे प्रज्वलित हो उठे। शीतसे आर्त हुई कृत्तिकाओंने अग्निसेवनकी इच्छासे वहाँ आनेका विचार किया। उस समय अरुन्धती देवीने उनको रोका तो भी वे सब आग तापने लगीं। तब शंकरजीके वीर्यके सभी परमाणु उनके रोमकूपोंमें होकर शरीरमें घुस गये। अब अग्निदेव उस वीर्यसे मुक्त हो गये। तत्पश्चात् वे कृत्तिकाएँ गर्भवती होकर जब अपने घरको लौटीं तब उनके पति महर्षियोंने शाप दिया, जिससे वे नक्षत्रोंके रूपमें आकाशमें विचरने लगीं और उन्होंने उस वीर्यको हिमालयके शिखरपर छोड़ दिया। वह सुवर्णके समान चमक उठा। फिर वह गंगाजीमें डाल दिया गया। गंगाजीमें बहता हुआ वह तेजोमय वीर्य सरकंडोंके समूहसे घिर गया। वहाँ वह तेज छः मुखवाले बालकके रूपमें परिणत हो गया। इसका पता लगनेपर सम्पूर्ण देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। नारदजीने आकर शिव और पार्वतीसे उस बालकके जन्मका समाचार कहा। यह सुनकर शंकरजी पार्वतीके साथ वहाँ आये और अपने पुत्रको देखा। देखते ही पार्वती वात्सल्यस्नेहमें मग्न हो गयीं। भगवान् शंकर उस महातेजस्वी कुमारको अपनी गोदमें बिठाकर अत्यन्त शोभायमान हुए।'

भगवान् शंकरने इन्द्रादि देवताओंसे कहा—'देवगण! यह बालक बड़ा प्रतापी है। इससे तुम्हें कौन-सा काम लेना है, सो बतलाओ।' तब सम्पूर्ण देवताओंने भगवान् पशुपतिसे कहा—'प्रभो! इस समय सम्पूर्ण जगत्को तारकासुरसे महान् भय प्राप्त हुआ है, उसे मारनेके लिये हमलोग आज ही प्रस्थान करेंगे।' यों कहकर तथा भगवान् शंकरकी अनुमति जानकर उन्होंने कार्तिकेयजीको सेनापति बनाकर तारकासुरपर चढ़ाई कर दी। इस युद्धमें ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवता सम्मिलित थे। देवतालोग युद्धके लिये प्रयत्नशील हैं, यह सुनकर महाबली तारकासुर भी बड़ी भारी सेनाके साथ देवताओंसे लोहा लेनेके

लिये चल दिया।

दोनों सेनाओंमें घमासान युद्ध होने लगा। बाणोंकी बौछारोंसे वहाँका सारा मैदान रुण्ड-मुण्डोंसे भर गया। अन्तमें वीरवर कार्तिकेय एक बहुत बड़ी शक्ति लेकर उसके द्वारा तारकासुरको मार डालनेके लिये उद्यत हुए। तारकासुर और कुमार कार्तिकेयमें बड़ा विकट और सब प्राणियोंके लिये भंयकर तथा अत्यन्त दुःसह संग्राम हुआ। फिर कुमार कार्तिकेयने मन-ही-मन अपने पिता और माताको प्रणाम करके दैत्यराज तारकपर बड़े वेगसे प्रहार किया। शक्तिका आघात होते ही तारकासुर धराशायी हो गया। तारकासुरका वध देखकर देवताओंको बड़ा हर्ष हुआ और उन सबने मिलकर कुमार कार्तिकेयकी स्तुति की। भगवान् शङ्कर और सती पार्वती भी वहाँ आये और अपने पुत्रको गोदमें बिठाकर पूर्ण संतोष प्राप्त किया।

तीर्थोंकी महिमा तथा दानका महत्त्व

ऋषियोंके पूछनेपर उग्रश्रवाजीने तीर्थोंके प्रसङ्गमें बतलाया है कि पूर्वकालमें कुछ कारणवश महात्मा अर्जुन दक्षिण समुद्रके तटपर वहाँके तीर्थोंमें स्नान करनेके लिये आये और वहाँ नारदजीके दर्शन करके उन्होंने उनसे तीर्थोंके गुण बतलानेकी प्रार्थना की। इसपर नारदजीने तीर्थोंके गुणोंका वर्णन करते हुए कहा कि—'जिसके हाथ-पैर और मन भलीभाँति संयममें हों तथा जिसकी सभी क्रियाएँ निर्विकारभावसे सम्पन्न होती हों, वही तीर्थका पूरा फल प्राप्त करता है।'* यह बात तुम्हें अपने हृदयमें धारण करनी चाहिये। पूर्वकालकी बात है, एक बार मैं कपिलजीके साथ ब्रह्मलोकमें गया था। उसी समय वहाँ कुछ ब्राह्मण पधारे। तब पितामहने उनसे पूछा कि 'तुमलोगोंने भ्रमण करते हुए क्या-क्या देखा-सुना है? कोई अद्भुत बात हो तो सुनाओ।' इसपर विप्रवर

---

* यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
निर्विकाराः क्रियाः सर्वाः स तीर्थफलमश्नुते॥
(स्क०, मा०, कुमा० २।६)

सुश्रवाने कहा—'भगवन्! एक बार कात्यायन और सारस्वत मुनिमें परस्पर जो धर्मविषयक अद्भुत वार्तालाप हुआ, वह सुनिये।'

मुनिवर कात्यायनने मुनिश्रेष्ठ सारस्वतके पास जाकर प्रणाम किया और पूछा—'कोई सत्यकी प्रशंसा करते हैं, कोई तप और शौचाचारकी; कोई ज्ञानकी तो कोई योगकी; कोई क्षमाको श्रेष्ठ बतलाते हैं तो कोई इन्द्रिसंयमको; कोई सरलताको तो कोई स्वाध्यायको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। कोई वैराग्यको उत्तम बताते हैं तो कोई यज्ञकर्मको और अन्य कोई समभावको ही सर्वोत्तम बतलाते हैं। अतः सबसे श्रेष्ठ क्या है, वह मुझे बतानेकी कृपा करें।'

सारस्वत बोले— 'ब्रह्मन्! माता सरस्वतीने मुझको जो कुछ बतलाया है, उसके अनुसार मैं सारतत्त्व बतलाता हूँ। यह सम्पूर्ण जगत् छायाकी भाँति उत्पत्ति और विनाशरूप धर्मसे युक्त है। धन, यौवन और भोग जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाकी भाँति चञ्चल हैं। यह जानकर मनुष्यको भगवान्‌की शरणमें जाना और दान करना चाहिये, यह वेदकी आज्ञा है। जिसमें दुःखरूपी भँवर उठता है, अज्ञानमय प्रवाह बहता रहता है, धर्म और अधर्म ही जिसके जल हैं, जो क्रोधरूपी कीचड़से युक्त है, जिसमें मदरूपी ग्राह निवास करता है, जहाँ लोभरूपी बुलबुले उड़ते रहते हैं, अभिमान ही जिसकी पातालतक पहुँचनेवाली गहराई है, सत्त्वगुणरूपी जहाज जिसकी शोभा बढ़ाता है, ऐसे संसारसमुद्रमें डूबनेवाले जीवोंको केवल भगवान् ही पार लगानेवाले हैं। दान, सदाचार, व्रत, सत्य और प्रिय वचन, उत्तम कीर्ति, धर्मपालन तथा आयुपर्यन्त दूसरोंका उपकार—इन सार वस्तुओंका इस असार शरीरसे उपार्जन करना चाहिये। राग हो तो धर्ममें, चिन्ता हो तो शास्त्रकी, व्यसन हो तो दानका —ये सभी बातें उत्तम हैं। इन सबके साथ यदि विषयोंके प्रति वैराग्य हो जाय तो समझना चाहिये कि मैंने जन्मका फल पा लिया। इस भारतवर्षमें जो सदा टिकनेवाला नहीं है, ऐसा मनुष्यका शरीर पाकर जो अपना कल्याण नहीं कर लेता उसने दीर्घकालतकके लिये अपने आत्माको धोखेमें डाल दिया। देवता और असुर सबके लिये मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेका सौभाग्य अत्यन्त दुर्लभ है। उसे पाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे नरकमें

न जाना पड़े। यह मानव-शरीर सर्व साधनाका मूल है तथा सब पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाला है। यदि तुम सदा लाभ उठानेके ही प्रयासमें रहते हो तो इस मूलकी यत्नपूर्वक रक्षा करो। महान् पुण्यरूपी मूल्य देकर तुम्हारे द्वारा यह मानव-शरीररूपी नौका इसलिये खरीदी जाती है कि इसके द्वारा दुःखरूपी समुद्रके पार पहुँचा जा सके। जबतक यह नौका छिन्न-भिन्न नहीं हो जाती, तबतक ही तुम इसके द्वारा संसार-समुद्रको पार कर लो। जो नीरोग मानवशरीररूपी दुर्लभ वस्तुको पाकर भी उसके द्वारा संसारसागरके पार नहीं हो जाता; वह नीच मनुष्य आत्महत्यारा है। इसी शरीरमें रहकर यतिजन परलोकके लिये तप करते हैं, यज्ञकर्ता होम करते हैं और दाता पुरुष आदरपूर्वक दान देते हैं।'

कात्यायनने पूछा—'सारस्वतजी ! दान और तपमें कौन दुष्कर तथा महान् फलदायक है ?'

सारस्वतने कहा—'मुने ! इस पृथ्वीपर दानसे बढ़कर अत्यन्त दुष्कर कार्य कोई नहीं है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो बड़े दुःखसे और सैकड़ों आयास-प्रयाससे उपार्जन किया गया है,ऐसे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय धनका त्याग अत्यन्त दुष्कर है। पर मनुष्य अपने हाथोंसे जो धन दूसरेको दे देता है, वह धन वास्तवमें उस धनीका है। मरे हुए मनुष्यके धनसे तो दूसरे लोग ही मौज किया करते हैं। दिया जानेवाला धन घटता नहीं, अपितु सदा बढ़ता ही रहता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कुँएसे पानी उलीचनेपर वह शुद्ध और अधिक जलवाला होता है। जो धनवान् होकर दान नहीं करता और दरिद्र होकर कष्टसहनरूप तपसे दूर भागता है, वे दोनों गलेमें बड़ा भारी पत्थर बाँधकर जलमें छोड़ देने योग्य हैं। गौ, ब्राह्मण, वेद, सती स्त्री, सत्यवादी पुरुष, लोभहीन और दानशील मनुष्य—इन सातोंके द्वारा ही यह पृथ्वी धारण की जाती है। ऐसा विचार करके तुम सारभूत धर्मके अभिलाषी. होकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये सदा दान करते रहो।' यह उपदेश सुनकर कात्यायन मुनि मोह त्यागकर वैसे ही हो गये।

दानका रहस्य

तदनन्तर नारदजीने अर्जुनसे कहा कि महीसमुद्र-संगमपर मैं श्रीभृगुजीके साथ

गया था। वहाँ स्नान करनेके लिये बहुत-से ऋषि-मुनि भी आ गये थे। वे मुझे प्रणाम करके मेरे पूछनेपर बोले—मुने ! हमलोग सौराष्ट्र- देशमें रहते हैं, जहाँके राजा धर्मवर्मा हैं। राजाने दानका तत्त्व जाननेकी इच्छासे बहुत वर्षोंतक तपस्या की, तब आकाशवाणीने उनसे एक श्लोक कहा—

द्विहेतु षडधिष्ठानं षडङ्गं च द्विपाकयुक् ॥
चतुष्प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते ।

(स्क० मा० कु० ३ । १०५-१०६)

'नारदजी ! राजाके पूछनेपर भी आकाशवाणीने श्लोकका अर्थ नहीं बतलाया। तब राजाने ढिंढोरा पिटवाकर यह घोषणा करायी कि 'जो मेरी तपस्याद्वारा प्राप्त हुए इस श्लोककी ठीक-ठीक व्याख्या कर देगा, उसे मैं सात लाख गौएँ, इतनी ही स्वर्णमुद्राएँ तथा सात गाँव दूँगा।' यह सुनकर हम भी वहाँ गये; किंतु उसकी व्याख्या न कर सकनेके कारण अब तीर्थयात्राके लिये जा रहे हैं।'

नारदजी बोले—'अर्जुन ! उन महात्माओंकी बात सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि यह स्थान राजा धर्मवर्माका है; मुझे यहाँ कुछ स्थान चाहिये, सो अब इस स्थानकी प्राप्तिके लिये मुझे अच्छा उपाय मिल गया। इस श्लोककी व्याख्या करके विद्याके मूल्यपर मैं राजासे स्थान प्राप्त करूँगा। इस प्रकार विचार करके मैंने राजाके पास जाकर कहा—'राजन् ! मुझसे श्लोककी व्याख्या सुनिये और इसके बदलेमें जो कुछ देनेकी घोषणा की है, उसकी यथार्थता प्रकट कीजिये।'

राजा बोले—'ब्रह्मन् ! दानके वे दोनों हेतु कौन हैं, छः अधिष्ठान कौन-से हैं, छः अंग कौन हैं, दो फल कौन हैं, चार प्रकार और तीन भेद कौन-कौनसे हैं तथा दानके विनाशके तीन हेतु कौन-से बताये गये हैं ? यह सब स्पष्टरूपसे वर्णन कीजिये।'

नारदजी बोले—राजन् ! दानके दो हेतु सुनिये—श्रद्धा और शक्ति ही दानकी वृद्धि और क्षयमें कारण होती हैं। इनमेंसे श्रद्धाके विषयमें ये श्लोक हैं—शरीरको बहुत क्लेश देनेसे तथा धनकी राशियोंसे सूक्ष्म धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है। श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। यदि कोई बिना श्रद्धाके अपना सर्वस्व दे दे अथवा अपना जीवन ही निछावर कर दे तो भी वह उसका कोई फल नहीं पाता। इसलिये सबको श्रद्धालु होना चाहिये। देहधारियोंमें उनके स्वभावके अनुसार होनेवाली श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विकी श्रद्धावाले पुरुष देवताओंकी, राजसी श्रद्धावाले यक्षों और राक्षसोंकी और तामसी श्रद्धावाले मनुष्य प्रेत, भूत और पिशाचोंकी पूजा किया करते हैं। * इसलिये श्रद्धावान् पुरुष अपने न्यायोपार्जित धनका सत्पात्रके लिये जो दान करते हैं, वह थोड़ा भी हो तो उसीसे भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।

शक्तिके विषयमें श्लोक इस प्रकार हैं— कुटुम्बके भरण-पोषणसे जो अधिक हो, वही धन दान करने योग्य है, वही मधुके समान मीठा है, उसीसे वास्तविक धर्मका लाभ होता है। इसके विपरीत करनेपर वह आगे जाकर विषके समान हानिकारक होता है। दाताका धर्म अधर्म-रूपमें परिणत हो जाता है।

राजन् ! धर्म, अर्थ, काम, लज्जा, हर्ष और भय—ये दानके छः अधिष्ठान हैं। सदा ही किसी प्रयोजनकी इच्छा न रखकर केवल धर्मबुद्धिसे सुपात्र व्यक्तियोंको जो दान दिया जाता है, उसे 'धर्मदान' कहते हैं। मनमें कोई प्रयोजन रखकर प्रसंगवश जो कुछ दिया जाता है, उसे 'अर्थदान' कहते हैं। वह इस लोकमें ही फल देनेवाला होता है। स्त्रीसमागम, सुरापान, शिकार और जुएके प्रसंगमें अनधिकारी मनुष्यको यत्नपूर्वक जो कुछ दिया जाता हो, वह 'कामदान' कहलाता है। भरी सभामें याचकोंके माँगनेपर लज्जावश देनेकी प्रतिज्ञा करके जो कुछ उन्हें दिया जाता है वह 'लज्जादान' माना गया है। कोई प्रिय कार्य देखकर अथवा प्रिय

---

* यही भाव गीताके सत्रहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमें भी आया है।

समाचार सुनकर हर्षोल्लाससे जो कुछ दिया जाता है, उसे महात्मा पुरुष 'हर्षदान' कहते हैं। निन्दा, अनर्थ और हिंसाका निवारण करनेके लिये अनुपकारी व्यक्तियोंको विवश होकर जो कुछ दिया जाता है, उसे 'भयदान' कहते हैं।

राजन्! दाता, प्रतिग्रहीता, शुद्धि, धर्मयुक्त देय वस्तु, देश और काल—ये दानके छः अङ्ग हैं। दाता नीरोग, धर्मात्मा देनेकी इच्छा रखनेवाला, व्यसनरहित, पवित्र तथा सदा अनिन्दनीय कर्मसे आजीविका चलानेवाला होना चाहिये। इन छः गुणोंसे दाताकी प्रशंसा होती है। जिसके कुल, विद्या और आचार तीनों उज्ज्वल हों, जीवन निर्वाहकी वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक हो, जो दयालु, जितेन्द्रिय तथा योनिदोषसे मुक्त हो, वह ब्राह्मण दानका उत्तम पात्र कहा जाता है। अर्थात् उपर्युक्त लक्षणोंवाले ब्राह्मणोंको दान देना चाहिये। याचकोंको देखनेपर सदा प्रसन्नमुख होना, उनके प्रति हार्दिक प्रेम होना, उनका सत्कार करना तथा उनमें दोषदृष्टि न रखना—ये सब सद्गुण दानमें दाताके लिये शुद्धिकारक माने गये हैं। जो धन किसी दूसरेको सताकर न लाया गया हो, अति क्लेश उठाये बिना अपने प्रयत्नसे उपार्जित किया गया हो, वही देने योग्य बताया गया है। कोई धार्मिक उद्देश्य लेकर जो वस्तु दी जाती है, उसे धर्मयुक्त देय कहते हैं। जिस देश अथवा कालमें जो-जो पदार्थ दुर्लभ हों, अर्थात् जिस पदार्थका अभाव हो, उस-उस पदार्थका दान करने योग्य वही-वही देश और काल श्रेष्ठ हैं।

नृपश्रेष्ठ! महात्माओंने दानके दो परिणाम (फल) बतलाये हैं। उनमेंसे एक तो परलोकके लिये होता है और एक इस लोकके लिये तथा दानके ध्रुव, त्रिक, काम्य और नैमित्तिक—ये चार प्रकार बतलाये गये हैं। कुआँ बनवाना, बगीचे लगवाना, पोखरे खुदवाना आदि सर्वोपयोगी कार्योंमें धन लगाना 'ध्रुव' कहा गया है। प्रतिदिन दिये जानेवाले नित्य दानको 'त्रिक' कहते हैं। जो दान संतान, विजय, ऐश्वर्य, स्त्री और बल आदिके निमित्तसे तथा इच्छापूर्तिके लिये किया जाता है वह 'काम्य' है। 'नैमित्तिक' दान तीन प्रकारका होता है—ग्रहण, संक्रान्ति आदि कालकी अपेक्षासे दिया जानेवाला 'कालापेक्ष', श्राद्ध आदि क्रियाओंकी अपेक्षासे दिया जानेवाला 'क्रियापेक्ष' तथा संस्कार और विद्याध्ययन आदि गुणोंकी अपेक्षासे अर्थात् गुणवान् मनुष्यको दिया

जानेवाला 'गुणापेक्ष' नैमित्तिक दान है।

अब दानके तीन भेद सुनिये। आठ वस्तुओंके दान उत्तम, चारके दान मध्यम और शेष कनिष्ठ माने गये हैं। घर, मन्दिर, विद्या, भूमि, गौ, कूप, प्राण और सुवर्ण—इन आठ वस्तुओंका दान अन्य दानोंकी अपेक्षा 'उत्तम' है। अन्न, बगीचा, वस्त्र तथा अश्व आदि वाहनोंका दान 'मध्यम' है। जूता, छाता, बर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थर आदि वस्तुओंके दानको 'कनिष्ठ' बताया गया है।

राजन्! पश्चात्ताप, अपात्रता और अश्रद्धा—ये तीनों दानके नाशक हैं। जिसे देकर पीछे पश्चात्ताप किया जाय, जो अपात्रको दिया जाय तथा जो बिना श्रद्धाके अर्पण किया जाय, वह दान नष्ट हो जाता है। नृपश्रेष्ठ! इस प्रकार यह सात पदोंमें बँधा हुआ दानका उत्तम रहस्य है।

राजा धर्मवर्मा बोले—'मुनिवर! आज मेरा जन्म सफल हुआ। आज मुझे अपने तपस्याका फल मिल गया। यदि आप देवर्षि नारद हैं तो यह सारा राज्य आपका ही रहे। मैं तो आपकी और समस्त ब्राह्मणोंकी चाकरी करूँगा' यह सुनकर मैंने धर्मवर्मासे कहा—'राजन्! यह धन धरोहररूपसे तुम्हारे ही पास रहे। आवश्यकताके समय मैं ले लूँगा।'

कलियुगकी विशेषता

इसी खण्डमें आगे जाकर महाकालने चारों युगोंकी व्यवस्थाका बहुत विस्तृत सुन्दर वर्णन करते हुए कलियुगके भयानक दुःखदोषोंका वर्णन करके अन्तमें कहा—

यद्यपि इस प्रकार कलियुग समस्त दोषोंका भण्डार है तथापि उसमें एक महान् गुण भी है। कलिकालमें थोड़े ही समयमें साधन करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं।* सत्ययुग, त्रेता और द्वापरके लोग कहते हैं कि 'जो मनुष्य कलियुगमें

---

* कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः॥
(स्क०, मा०, कु० ३५। १५)

श्रद्धासे वेदों, स्मृतियों और पुराणोंमें बताये हुए धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे धन्य हैं। त्रेतामें एक वर्षतक और द्वापरमें एक मासतक क्लेशसहनपूर्वक धर्मानुष्ठान करनेवाले पुरुषको जो फल प्राप्त होता है, वह कलियुगमें एक दिनके अनुष्ठानसे मिल जाता है। कलियुगमें भगवान् विष्णु और शिवकी नियमपूर्वक पूजा करनेवाले जितने मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं, उतने अन्य युगोंमें तीन युगोंतक उपासना करनेसे प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार चारों युगोंकी व्यवस्था बदलती रहती है। चारों युगोंमें वही लोग धन्य हैं, जो भगवान्का भजन करते हैं।

पापोंके भेद

तदनन्तर करन्धमके पूछनेपर महाकालने पापोंके भेद बतलाये—

महाकालने कहा—अधर्म तीन प्रकारके हैं— स्थूल, सूक्ष्म और अत्यन्त सूक्ष्म। ये ही करोड़ों भेदोंके द्वारा अनेक प्रकारके हो जाते हैं। इन पापोंका अनुष्ठान मन, वाणी और कर्मोंद्वारा होता है। उनमें मानसिक पापके चार भेद हैं—परस्त्रीचिन्तन, दूसरोंके धन हड़प लेनेका संकल्प, अपने मनसे किसीका भी अनिष्टचिन्तन तथा न करने योग्य कार्योंके लिये मनमें दुराग्रह रखना। इसी प्रकार वाचिक पापकर्मके भी चार भेद हैं—असंगत वचन बोलना, झूठ बोलना, अप्रिय भाषण करना तथा दूसरोंकी निन्दा और चुगली करना। शारीरिक पापकर्म भी चार प्रकारके हैं—अभक्ष्यभक्षण, हिंसा, मिथ्या भोगोंका सेवन तथा पराये धनका अपहरण। इस प्रकार मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले ये बारह प्रकारके पापकर्म हैं।

सदाचारका निरूपण

इसके पश्चात् महाकालने राजा करन्धमके पूछनेपर शिवपूजाकी विधि बतलाते हुए सदाचारका बड़ा सुन्दर निरूपण किया है, जो इस प्रकार है—

'मनुष्यको ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धर्म और अर्थका चिन्तन करना चाहिये। फिर शय्यासे उठकर मलत्यागके बाद दातुन-कुल्ला करे एवं द्विजको चाहिये कि स्नान करके संध्योपसना करे। विद्वान् द्विजको उचित है कि वह शान्तचित्त, संयमी

तथा पवित्र होकर प्रातःसंध्याकी उपासना उस समय आरम्भ करे, जब कि आकाशके तारे कुछ दिखायी देते हों तथा सायंसंध्या सूर्यास्त होनेसे पहले ही आरम्भ करे। इस प्रकार यथाविधि संध्योपासना करता रहे। कभी भी संध्याकर्मका परित्याग न करे। राजन्! झूठ, असत्य, लोभ तथा कठोर भाषण सदाके लिये त्याग दे दुष्ट पुरुषोंकी सेवा, नास्तिकवाद तथा असत् शास्त्रोंको भी सदाके लिये छोड़ दे। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि आसनको पैरसे न खींचे। गुरु, देवता तथा अग्निके सम्मुख पाँव न फैलाये। चौराहा, चैत्यवृक्ष, देवालय, संन्यासी, विद्यामें बढ़े हुए पुरुष, गुरु तथा वृद्धजन—इन सबको अपने दाहिने करके चलना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुषको आहार-विहार और मैथुन ओटमें रहकर ही करना चाहिये। इसी प्रकार अपनी वाणी और बुद्धिकी शक्ति, तपस्या और जीविका तथा आयुको अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये। दिनमें उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये तथा रातमें दक्षिण दिशाकी ओर। ऐसा करनेसे आयु नहीं घटती। अग्नि, सूर्य, गौ, व्रतधारी पुरुष, चन्द्रमा और जलके सम्मुख तथा संध्याके समय मल-मूत्र त्याग करनेवाले मनुष्यकी बुद्धि नष्ट होती है। भोजन, शयन, स्नान, मल-मूत्रका त्याग तथा सड़कोंपर भ्रमण करनेपर दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह—इन पाँचोंको भलीभाँति धोकर आचमन करे। नदीमें, श्मशान-भूमिमें, राहमें, गोबरपर, जोते-बोये हुए खेतमें तथा हरी-भरी घासवाली भूमिपर मल-मूत्रका त्याग न करे। जलके भीतरसे, देवस्थानसे, बाँबीसे और चूहेके स्थानसे निकाली हुई तथा शौचावशिष्ट—इन पाँच प्रकारकी मिट्टियोंको त्याग दे। विद्वान् पुरुष हाथको इतना धोये कि मलकी गन्ध और लेप सर्वथा दूर हो जाय। अपने-आपको ताड़ना न दे, दुःखमें न डाले। दोनों हाथोंसे अपना सिर न खुजलावे। स्त्रीकी रक्षा करे और उसके प्रति अकारण ईर्ष्या छोड़ दे। भगवान् सूर्यको अर्घ्य दिये विना कोई कर्म न करे। प्राणियोंसे द्रोह न करके मनसे भगवान्‌का चिन्तन करते हुए धनका उपार्जन करे। अत्यन्त कृपण न हो। किसीके प्रति ईर्ष्या न रखे, कृतघ्न न हो। दूसरोंसे द्रोह पैदा करनेवाले कार्यमें मन न लगावे। हाथ, पैर और नेत्रोंसे चञ्चल न हो। सरल भावसे बोले। वाणीसे अथवा अङ्गोंकी चेष्टाओंसे चञ्चलता प्रकट न करे। अशिष्ट पुरुषका सङ्ग

न करे। व्यर्थ विवाद और अकारण वैर न करे। साम, दाम और भेद—इन तीन उपायोंसे अपना मनोरथ सिद्ध करे। दण्डनीतिका आश्रय तो तभी लेना चाहिये, जब उसके सिवा दूसरा कोई उपाय ही न रह जाय। दो अग्नि, दो ब्राह्मण, पति और पत्नी, सूर्य और चन्द्रमाकी प्रतिमा तथा भगवान् शङ्कर और नन्दिकेश्वर वृषभ—इनके बीचमें होकर न जाय; क्योंकि इनके बीचसे जानेवाला मनुष्य पापका भागी होता है। विद्वान् पुरुष एक वस्त्र धारण करके न तो भोजन करे, न अग्निमें आहुति दे, न ब्राह्मणोंकी पूजा करे और न देवताओंकी ही अर्चना करे। कूटना, पीसना, झाड़ू देना, पानी छानना, राँधना, भोजन करना, सोना, उठना, जाना, छींकना, कार्यारम्भ करना, कार्यको समाप्त करना, मुँहसे अप्रिय वचन निकल जाना, पीना, सूँघना, स्पर्श करना, सुनना, बोलनेकी इच्छा करना, मैथुन करना और शौचकर्म—इन बीस कार्योंके होते या करते समय भी जो सदा भगवान् शङ्करका नाम-स्मरण करता है, उसीको शिवभक्त जानना चाहिये।

'विद्वान् पुरुषको चाहिये कि परायी स्त्रीसे बातचीत न करे। यदि कभी आवश्यकतावश करे तो माताजी, बहिनजी, बेटी अथवा आर्ये! इस प्रकार सम्बोधन करके बोले। हाथ और मुँह जूँठे हों तो कोई बात न करे और न किसी वस्तुका स्पर्श ही करे। उच्छिष्ट दशामें सूर्य, चन्द्रमा, तारे, देवता और अपने मस्तककी ओर देखना भी मना है। बहिन, बेटी अथवा माताके साथ भी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रिय समुदाय दुर्जय होता है। इनसे विद्वान् पुरुष भी मोहमें पड़ जाते हैं।* यदि गुरुदेव घरपर आ जायँ तो उनके लिये स्वयं उठकर आसनकी व्यवस्था करे और प्रणाम करे। विद्वान् मनुष्य सिरहानेकी ओर दक्षिण दिशा अथवा पूर्व दिशाको रखकर शयन करे। रजस्वला स्त्रीका दर्शन-स्पर्श न करे। उसके साथ बात-चीत भी नहीं करनी चाहिये। जलाशयके भीतर मल-मूत्र और मैथुन न करे। मनुष्य अपने वैभवके अनुसार देवता, मनुष्य, ऋषि और पितरोंको उनका

---

* स्वस्रा दुहित्रा मात्रा वा नैकान्तासनमाचरेत्।
दुर्जयो हीन्द्रियग्रामो मुह्यते पण्डितोऽपि सन्॥
(स्क०, मा०, कुमा० ३६। १५७)

भाग समर्पित करके शेष अन्नका स्वयं भोजन करे। पवित्र हो, आचमन करके, पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके, दोनों हाथोंको घुटनोंके भीतर रखकर मौनभावसे भोजन करे। यदि अन्न किसी उच्छिष्ट आदि दोषसे दूषित हो गया है तो उस दोषके प्रकट करनेमें कोई हानि नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी दोषकी चर्चा न करे। नग्न होकर न तो स्नान करे, न सोये और न चले ही। यदि गुरुके द्वारा कोई अनुचित कार्य भी हो जाय तो उसे अन्यत्र न कहे। वे क्रोधमें हों तो उन्हें मनावे। दूसरे लोगोंके मुखसे भी गुरुकी निन्दा न सुने। सैकड़ों कार्य छोड़कर भी धर्मकी कथा-वार्ता सुने। प्रतिदिन धर्मचर्चा श्रवण करनेवाला मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लेता है। सायंकाल और प्रातःकाल अतिथिकी पूजा करके भोजन करना चाहिये। दोनों संध्याओंके समय सोना, पढ़ना और भोजन करना निषिद्ध है। नीलसे रँगा हुआ वस्त्र नहीं पहनना चाहिये।

'विद्वान् पुरुषको सदा तीनों वेदोंका स्वाध्याय तथा धर्मपूर्वक धनोपार्जन करके आत्मकल्याणार्थ यत्नपूर्वक भगवान्‌का भजन करना चाहिये। विद्वान् पुरुषको उचित है कि वह नीच श्रेणीके मनुष्यके लिये भी अनादरसूचक 'तू' का प्रयोग न करे। इस प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिके लिये धर्माचरण करनेवाले सद्‌गृहस्थको इस लोकमें धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होकर परलोकमें उसका परम कल्याण होता है।'

आगे वैष्णवखण्डान्तर्गत धर्मारण्य-माहात्म्यके पाँचवें-छठे अध्यायोंमें सदाचार, शिष्टाचार आदिका बहुत विस्तारसे निरूपण किया गया है। जो विस्तृत वर्णन देखना चाहें, उन्हें उन अध्यायोंका अध्ययन करना चाहिये।

संसारसे वैराग्यका निरूपण तथा परमार्थ-चर्चाका अद्भुत प्रभाव

आगे चलकर श्रीनारदजीने ऐतरेय मुनि और उनकी माताके बीच हुए संवादका उल्लेख किया है, जिसमें बतलाया है कि ऐतरेय मुनिने माताको वैराग्यका उपदेश दिया और उस वैराग्यमय परमार्थ चर्चाके अद्भुत प्रभावसे तुरंत भगवान् विष्णु उनके सामने प्रकट हो गये।

नारदजीने कहा—पूर्वकालकी बात है, इस श्रेष्ठ तीर्थमें ऐतरेय नामक ब्राह्मणने भगवान् वासुदेवकी कृपा प्राप्त की थी। हारीत मुनिके वंशमें माण्डुकि नामके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। उनके इतरा नामवाली पत्नीसे ऐतरेयका जन्म हुआ था। ये बाल्यावस्थासे ही निरन्तर द्वादशाक्षर-मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का जप करते थे। इन्हें इस मन्त्रकी पूर्वजन्ममें ही शिक्षा मिली थी। ये न तो किसीकी बात सुनते और न स्वयं कुछ बोलते और न अध्ययन ही करते थे। इससे सबको निश्चय हो गया कि यह बालक गूँगा है। एक दिन इनकी माता इतराने अपने पुत्रसे कहा—'अरे! तू तो मुझे क्लेश देनेके लिये ही पैदा हुआ है। मेरे जन्म और जीवनको धिक्कार है। इससे तो मेरा मर जाना ही अच्छा है।' माताकी बात सुनकर ऐतरेय हँस पड़े। वे बड़े धर्मज्ञ थे। उन्होंने दो घड़ी भगवान्‌का ध्यान करके माताके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा— 'माँ! तुम जो शोचनीय नहीं है, उसके लिये शोक करती हो और जो वास्तवमें शोचनीय है, उसके लिये तुम्हारे मनमें जरा भी शोक नहीं है। यह संसार मिथ्या है। इसमें तुम इस शरीरके लिये क्यों चिन्तित एवं मोहित हो रही हो। यह तो मूर्खोंका काम है। तुम-जैसी विदुषी स्त्रियोंके लिये यह शोभा नहीं देता। यह जो मानवशरीर है, गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त सदा अत्यन्त कष्टप्रद है। यह शरीर एक प्रकारका घर है। हड्डियोंका समूह ही इसके भारको सँभालनेवाला खंभा है। नाड़ी जालरूपी रस्सियोंसे ही इसे बाँधा गया है। रक्त और मांसरूपी मिट्टीसे इसको लीपा गया है। विष्ठा और मूत्ररूपी द्रव्योंके संग्रहका यह पात्र है। यह सदा कालकी मुखाग्निमें स्थित है। ऐसे इस देहरूपी गेहमें जीव नामवाला गृहस्थ निवास करता है। कितने कष्टकी बात है कि जीव इस देह-गेहकी मोह-मायासे मूढ़ होकर तदनुकूल बर्ताव करता है।

'जैसे पर्वतसे झरने गिरते रहते हैं, उसी प्रकार शरीरसे भी कफ और मूत्र आदि बहते रहते हैं। उसी शरीरके लिये जीव मोहित होता है। विष्ठा और मूत्रसे भरे हुए चर्मपात्रकी भाँति यह शरीर समस्त अपवित्र वस्तुओंका भण्डार है और इसका एक प्रदेश (अंश) भी पवित्र नहीं है। अपने शरीरसे निकले हुए मल-मूत्र आदिके जो प्रवाह हैं, उनका स्पर्श हो जानेपर मिट्टी और जलसे हाथ शुद्ध किया

जाता है। तथापि उन्हीं अपवित्र वस्तुओंके भंडार-रूप इस देहसे न जाने क्यों मनुष्यको वैराग्य नहीं होता! सुगन्धित तेल और जल आदिके द्वारा यत्नपूर्वक भली-भाँति सफाई करनेपर भी यह शरीर अपनी स्वाभाविक अपवित्रताको नहीं छोड़ता है, ठीक उसी तरह जैसे कुत्तेकी टेढ़ी पूँछको कितना ही सीधा किया जाय वह अपना टेढ़ापन नहीं छोड़ पाती। अपनी देहकी दुर्गन्धसे जो मनुष्य विरक्त नहीं होता, उसे वैराग्यके लिये अन्य किस साधनका उपदेश दिया जाय! दुर्गन्ध तथा मल-मूत्रके लेपको दूर करनेके लिये ही शारीरिक शुद्धिका विधान किया गया है। इन दोनोंका निवारण हो जानेके पश्चात् आन्तरिक भावकी शुद्धि हो जानेसे मनुष्य शुद्ध होता है। भावशुद्धि ही सबसे बढ़कर पवित्रता है। वही सब कर्मोंमें प्रमाणभूत है। आलिंगन पत्नीका भी किया जाता है और पुत्रीका भी; परंतु दोनोंमें भावका महान् अन्तर है। पत्नीका आलिंगन किसी और भावसे ही किया जाता है और पुत्रीका किसी और भावसे। एक स्त्रीके स्तनोंको पुत्र दूसरे भावसे स्मरण और स्पर्श करता है और पति दूसरे भावसे। अतः अपने चित्तको ही शुद्ध करना चाहिये; भावदृष्टिसे जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध है, वह स्वर्ग और मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है।

'ज्ञानरूपी निर्मल जल तथा वैराग्यरूपी मृत्तिकासे ही पुरुषके अविद्या और रागमय मल-मूत्रके लेप तथा दुर्गन्धका शोधन होता है। इस प्रकार इस शरीरको स्वभावतः अशुद्ध माना गया है। जो बुद्धिमान् अपने शरीरको इस प्रकार दोषयुक्त जानकर उदासीन हो जाता है, शरीरसे अनुराग हटा लेता है, वही इस संसारबन्धनसे छूटकर निकल सकता है; किंतु जो इस शरीरको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहता है—इसका मोह नहीं छोड़ता, वह संसारमें ही पड़ा रह जाता है। इस प्रकार यह मानव-जन्म लोगोंके अज्ञान-दोषसे तथा नाना कर्मवशात् दुःखस्वरूप और महान् कष्ट प्रद बतलाया गया है। गर्भकी झिल्लीमें रुँधा हुआ जीव महान् कष्ट पाता है। जैसे किसीको लोहेके घड़ेमें रखकर आगसे पकाया जाता है, वैसे ही गर्भरूपी घरमें डाला हुआ जीव जठरानलकी आँचसे पकता रहता है। यदि आगके समान दहकती हुई सूइयोंसे किसीको निरन्तर छेदा जाय तो उसे जितनी पीड़ा हो सकती है, उससे आठगुनी पीड़ा गर्भमें भोगनी पड़ती है। इस प्रकार

स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंको अपने-अपने कर्मके अनुरूप यह महान् गर्भरूप दुःख प्राप्त होता है।'

'गर्भमें स्थित होनेपर सभी मनुष्योंको अपने पूर्वजन्मोंका स्मरण हो आता है। उस समय जीव इस प्रकार सोचता रहता है—'मैं मरकर पुनः उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होकर पुनः मृत्युको प्राप्त हुआ। जन्म ले-लेकर मैंने सहस्रों योनियोंका दर्शन किया है। इस समय जन्म धारण करते ही मेरे पूर्वसंस्कार जाग उठे हैं। अब मैं ऐसे कल्याणकारी साधनका अनुष्ठान करूँगा, जिससे पुनः मेरा गर्भवास न हो। मैं संसारबन्धनसे दूर करनेवाले भगवदीय तत्त्वज्ञानका चिन्तन करूँगा।' इस प्रकार इस दुःखसे छूटनेके उपायपर विचार करता हुआ गर्भस्थ मनुष्य चिन्तामग्न रहता है। जब उसका जन्म होने लगता है, उस समय तो उसे गर्भवासकी अपेक्षा करोड़ों गुना अधिक दुःख होता है। गर्भवासके समय जो सद्बुद्धि जाग्रत् हुई रहती है, वह जन्म होनेपर नष्ट हो जाती है। बाहरकी हवा लगते ही मूढ़ता आ जाती है। राग और मोहके वशीभूत हुआ वह संसारमें न करने योग्य पापादि कर्ममें लग जाता है। उनमें फँसकर वह न तो अपनेको जानता है और न दूसरेको जानता है तथा न किसी देवताको ही कुछ समझता है। वह अपने परम कल्याणकी बाततक नहीं जानता। आँख रहते हुए भी अपने कल्याणके मार्गकी ओर नहीं देखता। विद्वानोंके समझानेपर भी बुद्धि रहते हुए भी वह नहीं समझ पाता। इसीलिये राग और मोहके वशीभूत होकर संसारमें क्लेश पाता रहता है।

बाल्यावस्थामें इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अव्यक्त रहती हैं। इसलिये मनुष्य उस समयके महान् दुःखको बतानेकी इच्छा होनेपर भी नहीं बता सकता और न उस दुःखके निवारणके लिये कुछ कर ही सकता है। जब दाँत उगने लगते हैं, तब उसे महान् कष्ट भोगना पड़ता है। इसके बाद जब वह कुछ बड़ा होता है, तब अक्षरोंके अध्ययन आदिसे और गुरुके शासनसे उसको महान् दुःख होता है।

'युवावस्थामें रागोन्मत्त पुरुषको यदि कहीं अनुराग हो जाता है, तो ईर्ष्याके कारण उसे बड़ा भारी दुःख होता है। जो उन्मत्त और क्रोधी है, उसका कहीं भी राग होना केवल दुःखका ही कारण है। रातमें कामाग्निजनित खेदसे पुरुषको निद्रा

नहीं आती, दिनमें द्रव्योपार्जनकी चिन्ता लगी रहनेके कारण उसे सुख नहीं मिल सकता। सम्मान-अपमानसे, प्रियजनोंके संयोग-वियोगसे तथा वृद्धावस्थासे ग्रस्त होनेकी चिन्ताके कारण जवानीमें सुख कहाँ?'

'युवावस्थाका शरीर एक दिन जरा अवस्थाके द्वारा जर्जर कर दिया जानेपर सम्पूर्ण कार्योंके लिये असमर्थ हो जाता है। बदनमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, सिरके बाल सफेद हो जाते हैं और शरीर बहुत ढीला-ढाला हो जाता है। बुढ़ापेसे दबा हुआ पुरुष असमर्थ होनेके कारण पत्नी-पुत्र आदि बन्धु-बान्धवों तथा सेवकोंद्वारा भी अपमानित होता है। वृद्धावस्थामें रोगातुर पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन करनेमें असमर्थ हो जाता है; इसलिये युवावस्थामें ही धर्मका आचरण करना चाहिये।'

'वात, पित्त और कफकी विषमता ही व्याधि कहलाती है। इस शरीरको वात आदिका समूह बताया गया है। इसलिये अपना यह शरीर व्याधिमय है, ऐसा जानना चाहिये। यदि जीवका काल आ पहुँचा है तो उसे धन्वन्तरि भी जीवित नहीं रख सकते। कालसे पीड़ित मनुष्योंको औषध, तपस्या, दान, मित्र तथा बन्धु-बान्धव कोई भी नहीं बचा सकते। रसायन, तपस्या, जप, योग, सिद्ध, महात्मा तथा पण्डित सब मिलकर भी मृत्युको नहीं टाल सकते। समस्त प्राणियोंके लिये मृत्युके समान कोई दुःख नहीं है, मृत्युके समान कोई भय नहीं है तथा मृत्युके समान कोई त्रास नहीं है । सती भार्या, उत्तमपुत्र, श्रेष्ठ मित्र, राज्य, ऐश्वर्य और सुख—ये सभी स्नेहपाशमें बँधे हुए हैं, मृत्यु इन सबका उच्छेद कर डालती है।

'इस जीवनकी समाप्ति होनेपर मनुष्य अत्यन्त भयंकर मृत्युको प्राप्त होता है। मृत्युके बाद वह पुनः करोड़ों योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है। कर्मोंकी गणनाके अनुसार देहभेदसे जो जीवका एक शरीरसे वियोग होता है, उसे 'मृत्यु' नाम दिया गया है; वास्तवमें उससे जीवका विनाश नहीं होता। मृत्युके समय महान् मोहको प्राप्त हुए जीवके मर्मस्थान जब विदीर्ण होने लगते हैं, उस समय उसे जो बड़ा भारी कष्ट भोगना पड़ता है, उसकी इस संसारमें कहीं उपमा नहीं है।'

विवेकी पुरुषके लिये किसीसे कुछ माँगना मृत्युसे भी अधिक दुःखदायी

होता है। तृष्णा ही लघुताका कारण है। इससे आदि, मध्य और अन्तमें भी दारुण दुःख ही प्राप्त होता है। दुःखोंकी यह परम्परा, समस्त प्राणियोंको स्वभावतः प्राप्त होती है। क्षुधाको सब रोगोंसे महान् रोग माना गया है। जैसे अन्य रोगोंसे लोग मरते हैं, उसी प्रकार क्षुधासे पीड़ित होनेपर भी मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। (यदि कहें, धन-धान्यसम्पन्न राजा सुखी होंगे तो यह भी ठीक नहीं।) राजाको केवल यह अभिमान ही होता है कि मेरे घरमें इतना वैभव शोभा पा रहा है। वास्तवमें तो उनका सारा आभरण भाररूप है, समस्त आलेपन-द्रव्य मलमात्र है, सम्पूर्ण संगीत-राग प्रलापमात्र है तथा नृत्य आदि भी पागलोंकी-सी चेष्टा है। विचार-दृष्टिसे देखनेपर इन राज्यभोगोंके द्वारा राजाओंको सुख कहाँ मिलता है? क्योंकि वे लोग तो एक-दूसरेको जीतनेके लिये सदा ही चिन्तित रहते हैं। राज्य-लक्ष्मी अथवा धन-ऐश्वर्यसे कौन सुख पाता है? मनुष्य स्वर्गलोकमें जो पुण्य-फल भोगते हैं, वह अपने मूल धनको गवाँकर ही भोगते हैं; क्योंकि वहाँ वे दूसरा नवीन कर्म नहीं कर सकते। यही स्वर्गमें अत्यन्त भयंकर दोष है। जैसे वृक्षकी जड़ काट देनेपर वह विवश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार पुण्यरूपी मूलका क्षय हो जानेपर स्वर्गवासी जीव पुनः पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं। इस तरह विचारपूर्वक देखा जाय तो स्वर्गमें भी देवताओंको कोई सुख नहीं है। नरकमें गये हुए पापी जीवोंका दुःख तो प्रसिद्ध ही है—उनका क्या वर्णन किया जाय? स्थावर—जङ्गम योनिमें पड़े हुए जीवोंको भी बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं।

दुर्भिक्ष, दुर्भाग्यका प्रकोप, मूर्खता, दरिद्रता, नीच-ऊँचका भाव, मृत्यु, राष्ट्रविप्लव, पारस्परिक अपमानका दुःख, एक-दूसरेसे धन, वैभवमें या मान-बड़ाईमें बढ़नेपर ईर्ष्याका कष्ट, अपनी प्रभुताका सदा स्थिर न रहना, ऊँचे चढ़े हुए लोगोंका नीचे गिराया जाना इत्यादि महान् दुःखोंसे यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है। अतः इस जगत्को दुःखोंसे भरा हुआ जानकर इसकी ओरसे अत्यन्त उद्विग्न हो जाना चाहिये। उद्वेगसे वैराग्य होता है, वैराग्यसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे परमात्मा विष्णुको जानकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

'माँ! जैसे कौवोंके अपवित्र स्थानमें विशुद्ध राजहंस नहीं रह सकता, उसी प्रकार ऐसे दुःखमय संसारमें मैं तो कभी रम नहीं सकता। जहाँ रहकर मैं बिना

किसी बाधाके आनन्दपूर्वक रह सकता हूँ, वह स्थान बताता हूँ—तेज, अभयदान, अद्रोह, कौशल, अचपलता, अक्रोध और प्रिय वचन—उस विद्या-वनमें ये सात पर्वत स्थित हैं। दृढ़ निश्चय, सबके साथ समता, मन और इन्द्रियोंका संयम, गुणसंचय, ममताका अभाव, तपस्या तथा संतोष—ये सात सरोवर हैं। भगवान्‌के गुणोंका विशेष ज्ञान होनेसे जो भगवान्‌में भक्ति होती है, वह विद्या-वनकी पहली नदी है, वैराग्य दूसरी, ममताका त्याग तीसरी, भगवत्-आराधन चौथी, भगवदर्पण पाँचवीं, ब्रह्मैकत्वबोध छठी तथा सिद्धि सातवीं—ये ही सात नदियाँ वहाँ स्थित हैं। वैकुण्ठधामके निकट इन सातों नदियोंका सङ्गम होता है। जो आत्मतृप्त, शान्त तथा जितेन्द्रिय होते हैं, वे महात्मा ही इस मार्गसे परात्पर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

'माँ! मैं यहाँ ब्रह्मचर्यका आचरण करता हूँ। ब्रह्म ही समिधा, ब्रह्म ही अग्नि तथा ब्रह्म ही कुशास्तरण है। जल भी ब्रह्म है और गुरु भी ब्रह्म ही है, यही मेरा ब्रह्मचर्य है। विद्वान् पुरुष इसीको सूक्ष्म ब्रह्मचर्य मानते हैं। अब मेरे गुरुका परिचय सुनो—एक ही शिक्षक है दूसरा कोई नहीं। हृदयमें विराजमान अन्तर्यामी पुरुष ही शिक्षक होकर शिक्षा देता है। उनके सिवा दूसरा कोई गुरु नहीं है। उनको मैं प्रणाम करता हूँ। जो हृदयमें विराजमान हैं, वह एक परमात्मा ही बन्धु हैं। इसलिये मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। अब मेरा गार्हस्थ्य भी सुन लो—प्रकृति ही मेरी पत्नी है, किंतु मैं कभी उसका चिन्तन नहीं करता, वही मेरे सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली है। नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान, मन तथा बुद्धि—ये सात प्रकारकी अग्नि सदा मेरी अग्निशालामें प्रज्वलित रहती हैं। गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श, मन्तव्य और बोधव्य—ये सात मेरी समिधाएँ हैं। होता भी नारायण हैं और वही ध्यानसे साक्षात् उपस्थित होकर उस हविष्यका उपयोग करते हैं। ऐसे यज्ञद्वारा मैं अपनी इस गृहस्थीमें उन परमेश्वर विष्णुका यजन करता हूँ और किसी भी वस्तुकी कामना नहीं रखता। मेरा स्वभाव राग-द्वेष आदिसे लिप्त नहीं होता। माता! ऐसे मुझ पुत्रसे तुम दुःखी न होओ। मैं तुम्हें उस पदपर पहुँचाऊँगा, जहाँ सैकड़ों यज्ञ करके भी पहुँचना असम्भव है।'

अपने पुत्रकी यह बात सुनकर इतराको बड़ा विस्मय हुआ। ऐतरेयके अपना

कथन समाप्त करते ही वहाँ उस अर्चाविग्रहसे शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु साक्षात् प्रकट हो गये, वे उस ब्राह्मण-बालककी बातोंसे अत्यन्त प्रसन्न थे। भगवान्‌की कान्ति करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान और दिव्य थी। वे अपनी प्रभासे सम्पूर्ण जगत्‌को उद्भासित कर रहे थे। भगवान्‌को देखते ही ऐतरेय दण्डकी भाँति धरतीपर पड़ गये, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहने लगे और वाणी गद्‌गद हो गयी। बुद्धिमान् ऐतरेयने भगवान्‌की स्तुति की। स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उससे वर माँगनेके लिये कहा।

इसपर ऐतरेयने कहा—मेरा अभीष्ट वर तो यही है कि घोर संसारमें डूबते हुए मुझ असहायके लिये आप कर्णधार हो जायँ।

भगवान् वासुदेव बोले—वत्स ! तुम तो संसार-सागरसे मुक्त ही हो । जो सदा इस स्तोत्रसे गुप्त हुए क्षेत्रमें स्थित मुझ वासुदेवका स्तवन करेगा, उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जायगा। यों कहकर भगवान् विष्णु पुनः वासुदेव-विग्रहमें ही प्रवेश कर गये। उस समय ऐतरेयकी माता और ऐतरेय दोनों एकटक दृष्टिसे भगवान्‌की ओर देखते हुए आनन्दमग्न हो रहे थे।

राजा शङ्ख और अगस्त्य मुनिको भगवद्दर्शन

अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'भगवान् श्रीहरि वेङ्कटाचलपर मनुष्योंको प्रत्यक्ष कैसे हुए ?' श्रीभरद्वाज मुनिने एक बड़ी सुन्दर कथा कही, जिसमें सामूहिक कीर्तन करनेवाले सभी लोगोंके सामने भगवान् विष्णु प्रत्यक्ष प्रकट हो गये—इस प्रकार भगवन्नामकीर्तनकी अद्भुत महिमा प्रकट की गयी।

भरद्वाजजीने कहा—अर्जुन !हैहयवंशमें 'श्रुत' नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। उनके पुत्र शङ्ख हुए, जो समस्त गुणोंके निधि और सब शास्त्रोंमें कुशल थे। कमलनयन भगवान् विष्णुमें राजा शङ्खकी निश्चल एवं अनन्य भक्ति थी। उन्होंने भगवान्‌का ध्यान करते हुए नाना प्रकारके व्रत, दान और पुण्य किये। भक्तवत्सल केशवमें मन लगाकर वे प्रतिदिन गोविन्दका स्मरण, अविनाशी अच्युतका जप, कमलनयन विष्णुका पूजन तथा शार्ङ्गधनुषधारी श्रीहरिका कीर्तन किया करते थे। पवित्र भगवत्कथाओंको, जो संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाली हैं,

सदैव सुना करते थे। इस प्रकार सर्वथा अविराम गतिसे श्रीहरिकी आराधनामें संलग्न होनेपर भी राजा शङ्खने भगवान् पुरुषोत्तमका कभी प्रत्यक्ष दर्शन नहीं पाया। भगवान्का दर्शन न पानेसे उनका हृदय शोकसे व्याकुल हो गया। वे बड़ी चिन्ताको प्राप्त हुए। शङ्ख बोले—'अनेक जन्मोंमें उपार्जित तपस्याओंका यह एक ही अखण्डफल है कि मधुसूदन भगवान् विष्णुका दर्शन प्राप्त हो। अहो! भगवान् मेरे नेत्रोंके समक्ष कैसे प्रकट होंगे, कानोंसे उनके वचन सुननेका सौभाग्य मुझे कैसे प्राप्त होगा?'

इस प्रकार चिन्तासे व्याकुल राजाके मनमें जब जीवित रहनेकी अभिलाषा नहीं रह गयी, तब अव्यक्तमूर्ति भगवान् विष्णुने सबके सुनते हुए कहा—'राजन्! तुम शोक मत करो। तुम तो एकमात्र मेरी शरणमें आये हुए साधु-भक्त हो। मैं तुम्हारा त्याग कैसे कर सकता हूँ। यह वेङ्कटनामक पर्वत तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। राजन्! यहाँका निवास मुझे वैकुण्ठसे भी अधिक प्रिय है। उस श्रेष्ठ पर्वतपर जाकर भक्तिपूर्वक तपस्या करते रहनेपर मैं तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा। तुम्हारी ही तरह महर्षि अगस्त्य भी वहाँ तपस्या करने आयेंगे। उसी पवित्र पर्वतपर निवास करते हुए तुम भी मेरी आराधना करो। इससे मेरा दर्शन प्राप्त कर लोगे।'

भगवान्के इस प्रकार आज्ञा देनेपर राजा शङ्खको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने भगवान् विष्णुके दर्शनकी आकांक्षासे नारायणगिरि (वेङ्कटाचल) को प्रस्थान किया। वहाँ स्वामिपुष्करिणीके किनारे कुटी बनाकर जगदीश जनार्दनको अपने समस्त कर्म समर्पित करके राजा शङ्ख प्रतिदिन जप और ध्यानमें संलग्न रहने लगे। इसी समय सैकड़ों मुनियोंसे घिरे हुए अगस्त्यजीने आदि पर्वतपर आकर बहुत समयतक भगवान्की आराधना की, परन्तु भगवान्को कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं देखा, इससे वे चिन्तामग्न हो गये। उस समय बृहस्पति, शुक्र तथा राजा उपरिचर और वसु—ये सब महानुभाव अगस्त्यजीके पास आये और इस प्रकार बोले—'मुनिश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने हमें जो आज्ञा दी है, उसे आपको बता रहे हैं। दक्षिण दिशामें वेङ्कटाचल नामक पर्वत है। जगद्गुरु गोविन्द उस पर्वतपर महर्षि अगस्त्य तथा राजा शङ्खको अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन करायेंगे। उस

समय सब देवताओं, ऋषियों और अन्य सब लोगोंको भी देवाधिदेव श्रीहरिका दर्शन होगा। यह बात शीघ्र ही होनेवाली है।'

यह सुनकर अगस्त्य मुनि शोकका त्याग करके शीघ्र ही उन सबके साथ चल दिये। फिर उन्होंने निर्मल स्वामिपुष्करिणीको और उसके किनारे आश्रम बनाकर रहनेवाले राजा शङ्खको भी देखा, जो मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्म भगवान्‌को समर्पित करके विराजमान थे। उन्हें आया देख राजाने उनका यथावत् सत्कार किया। फिर सब लोग एक-दूसरेका आदर करते हुए वहाँ बैठे और उत्कण्ठित होकर गोविन्दके नामोंका कीर्तन करने लगे। भगवान्‌में मन लगाकर उन्हींकी पूजा और स्तुतिमें संलग्न उन सब लोगोंको तीन दिन व्यतीत हो गये। तीसरे दिन रातमें उन सबको नींद आ गयी, फिर चौथे पहरमें उत्तम स्वप्न देखा—भगवान् विष्णु हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये प्रसन्नमुखसे वर देनेके लिये खड़े हैं, इनके नेत्र खिले हुए हैं। भगवान्‌की यह झाँकी देखकर सभी प्रसन्नचित्त हुए और जागनेपर कुटीसे निकलकर सबने स्वामिपुष्करिणीमें स्नान किया। तत्पश्चात् राजाके आश्रमपर लौटे।

तदनन्तर भगवान्‌का पूजन करके उन्होंने स्तोत्रोंद्वारा स्तवन किया। स्तुतिके अन्तमें महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख भगवान्‌के अष्टाक्षर—'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्रका जप करने लगे। इस प्रकार श्रीहरिमें चित्त लगाये हुए उन महात्माओंके आगे एक महान् अद्भुत तेज प्रकट हुआ, जो कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नियोंके तेजःपुञ्ज-सा प्रतीत होता था। उस तेजका दर्शन करके सबको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसके भीतर परमानन्द-विग्रह दिव्यरूपधारी भगवान् श्रीनारायणका चिन्तन किया। भगवान्‌को अपने सामने देखकर अगस्त्य और शङ्ख आदि सब मनुष्योंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। सबने बार-बार भगवान्‌के चरणोंमें मस्तक झुकाया। उस समय भगवान्‌के दिव्य शरीरपर सुनहरे रंगका पीताम्बर छवि पा रहा था। भगवान् रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित थे। उनके चारों हाथ शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे शोभायमान थे। भगवान् लक्ष्मीपतिके इस मनोहर रूपको देखकर सबने बार-बार प्रणाम किया। भगवान्‌ने अभीष्ट वरदानसे ब्रह्मा आदि देवताओंको संतुष्ट करके मुनिश्रेष्ठ

अगस्त्यसे कहा—'मुनीन्द्र ! तुमने मेरे लिये कठोर व्रतोंका अनुष्ठान करके बहुत क्लेश उठाया है। अतः मैं तुम्हें अभीष्ट वरदान दूँगा। बोलो, क्या चाहते हो?' भगवान्‌का यह वचन सुनकर अगस्त्यजीके सम्पूर्ण अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया। वे भगवान्‌को बार-बार प्रणाम करके बोले—'प्रभो ! आपकी कृपासे मैं सब कुछ पहले ही पा गया हूँ। माधव ! इस समय सोचने-विचारनेपर भी मुझे ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखायी देती, जो प्राप्त करनेयोग्य हो। अतः आपके चरणारविन्दोंमें निरन्तर ऐसी ही भक्ति बनी रहे, यही कृपा कीजिये। स्वर्णमुखरी नदीके जलमें स्नान करके जो लोग वेङ्कटाचलपर विराजमान आपका दर्शन करें, वे भोग और मोक्षके भी भागी हों।' इसपर भगवान्‌ने कहा— 'ब्रह्मन् ! तुमने जो प्रार्थना की है, वह सब पूर्ण होगी।'

अगस्त्य मुनिसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णुने राजा शङ्खकी ओर देखा और ब्रह्मा आदिके सुनते हुए कहा—'राजन् ! मैं तुम्हारी भक्तिसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुम कोई मनोवाञ्छित वर माँगो।' शङ्ख बोले—'भगवन् ! आपके चरण-कमलोंकी सेवाके अतिरिक्त दूसरा मैं कुछ नहीं माँगता।' भगवान्‌ने कहा—'शङ्ख ! तुमने जो कुछ माँगा है, वह सब उसी रूपमें तुम्हें प्राप्त होगा।'

तदनन्तर ब्रह्मा आदि सब देवताओंको विदा करके भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। अर्जुन ! यह वेङ्कटाचलका प्रभाव तुम्हें बतलाया गया है। इस पावन कथाको श्रवण करके सब मनुष्य पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।

फिर नीलाचल पर्वतपर स्थित जगन्नाथ (पुरुषोत्तम) क्षेत्रकी अत्यन्त अद्भुत महिमा बड़े विस्तारमें बतलायी गयी है। इस प्रसङ्गको वैष्णवखण्डके उत्कलखण्डमें देखना चाहिये। इसी प्रसङ्गमें राजा इन्द्रद्युम्न और नारदजीके संवादमें भक्ति और भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन भी आया है, हमलोगोंको उसपर ध्यान देकर उसका अनुष्ठान करना चाहिये।

भगवद्भक्ति और भक्तोंके लक्षण एवं जगन्नाथक्षेत्रकी महिमा

सत्ययुगकी बात है, उत्कल देशमें इन्द्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ राजा थे। उन्होंने एक बार एक तीर्थयात्रीसे पुरुषोत्तम क्षेत्रकी महिमा सुनी, तब वे वहाँ

जानेका विचार कर रहे थे कि श्रीनारदजी उनके पास आ गये। उनका आतिथ्य-सत्कार करके राजा इन्द्रद्युम्नने नारदजीसे पूछा—'भगवन्! भक्तिका क्या स्वरूप है? उसके लक्षणका वर्णन कीजिये!'

नारदजीने कहा—राजन्! सावधान होकर सुनो! मैं भगवान् विष्णुकी सनातन भक्तिका सामान्य और विशेषरूपसे वर्णन करता हूँ। गुणोंके भेदसे भक्तिके तीन भेद हैं—तामसी, राजसी और सात्त्विकी। इनके अतिरिक्त एक चौथी भक्ति भी है जो निर्गुणा मानी गयी है। राजन्! जो लोग काम और क्रोधके वशीभूत हैं और प्रत्यक्ष (इस जगत्) के सिवा और किसी (परलोक आदि) की ओर दृष्टि नहीं रखते, वे अपनेको लाभ तथा दूसरोंको हानि पहुँचानके लिये जो भजन करते हैं, उनकी वह भक्ति 'तामसी' कही गयी है। अधिक यशकी प्राप्तिके लिये अथवा दूसरेकी स्पर्धा (ईर्ष्या) से स्वर्गके लिये भी जो भक्ति होती है, वह 'राजसी' कही गयी है। पारलौकिक लाभको स्थायी और (स्वर्गपर्यन्त) इहलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंको नश्वर समझकर अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंका परित्याग न करते हुए आत्मज्ञानके लिये जो भक्ति की जाती है, वह 'सात्त्विकी' भक्ति मानी गयी है। यह जगत् जगन्नाथका स्वरूप है। उससे भिन्न उसका कोई दूसरा कारण नहीं है। मैं भी भगवान्‌से भिन्न नहीं हूँ और वे भी मुझसे पृथक् नहीं हैं। ऐसा समझकर अभिन्नरूपसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवत्स्वरूपका चिन्तन करते रहना— यह 'अद्वैत निर्गुणा' नामवाली भक्ति है।

अब मैं भगवान् विष्णुके भक्तोंके लक्षण बतलाता हूँ—जिनका चित्त अत्यन्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखते हैं, जिन्होंने स्वेच्छानुसार अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है तथा जो मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह रखनेकी इच्छा नहीं रखते, जिनका चित्त दयासे द्रवीभूत होता है, जो चोरी और हिंसासे सदा ही मुख मोड़े रहते हैं, सद्गुणोंके संग्रह तथा दूसरोंके कार्य-साधनमें जो प्रसन्नतापूर्वक संलग्न रहते हैं, सदाचारसे जिनका जीवन सदा उज्ज्वल (निष्कलङ्क) बना रहता है, सब प्राणियोंके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर जो कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, अविवेकी मनुष्योंका विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे सौ कोटि गुनी अधिक प्रीतिका विस्तार भगवान्

श्रीहरिके प्रति करते हैं, भगवान् विष्णुसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुको नहीं देखते, समष्टि और व्यष्टि सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, भगवान् जगत्‌से भिन्न होकर भी भिन्न नहीं हैं, सेव्य अथवा सेवक कोई भी आपसे भिन्न नहीं है, इस भावनासे सदा सावधान रहकर जो ब्रह्माजीके द्वारा वन्दनीय युगल चरणारविन्दोंवाले श्रीहरिको सदा प्रणाम करते हैं, उनके नामोंका कीर्तन करते हैं, उन्हींके भजनमें तत्पर रहते और संसारके लोगोंके समीप अपनेको तृणके समान तुच्छ मानकर विनयपूर्ण बर्ताव करते हैं, दूसरोंके कुशल-क्षेमको अपना ही मानते हैं, दूसरोंका तिरस्कार देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा सबके प्रति मनमें कल्याणकी भावना करते हैं, वे ही विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो पत्थर, पर-धन एवं मिट्टीके ढेलेमें मित्र, शत्रु, भाई तथा बन्धुवर्गमें समान बुद्धि रखनेवाले हैं, वे ही निश्चितरूपसे विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो दूसरोंकी गुणराशिसे प्रसन्न होते और दूसरोंकी गुप्त बात प्रकाशित नहीं करते, परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्‌में सदा मन लगाये रहते तथा प्रिय वचन बोलते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें निरन्तर लगा रहता है, जो प्रेमाधिक्यके कारण जडबुद्धि-सदृश बने रहते हैं, सुख और दुःख दोनों ही जिनके लिये समान हैं, जो भगवान्‌की पूजामें चतुर हैं तथा अपने मन और विनययुक्त वाणीको भगवान्‌की सेवामें समर्पित कर चुके हैं, वे ही वैष्णव नामसे प्रसिद्ध हैं। भगवान्‌में सदैव उत्तम भक्ति रखनेवाले भक्तोंके शुभ चरित्र और लक्षणका वर्णन मैंने तुमसे किया है। भगवान्‌के भजनके लिये धनकी आवश्यकता तथा शरीरको कष्ट देकर किये जानेवाले किसी विशेष प्रकारके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है। मृदुल एवं मन्द स्वरसे वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामोंका कीर्तन होता रहे तो मैं इसीको भजन मानता हूँ। तुम्हारे मनमें भगवान्‌के दास्य-भावका ही चिन्तन होना चाहिये। जिनके मनमें पराई स्त्री और पराये धनके लिये सदा लोभ बना रहता है, जो कृपण-बुद्धिवाले हैं, सदा अपना ही पेट भरनेमें लगे रहते हैं, वे नरपशु विष्णुभक्तिसे सर्वथा रहित हैं। जो निरन्तर दुष्ट पुरुषोंके साथ अनुराग करते हैं, दूसरोंका तिरस्कार और हिंसा करते हैं, जिनका स्वभाव अत्यन्त भयंकर है तथा जो भगवान् नरसिंहके चिंतनसे विरक्त रहते हैं, ऐसे उन

मलिन पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।

इसके बाद राजाके प्रार्थना करनेपर श्रीनारदजी राजाको साथ लेकर पुरुषोत्तमक्षेत्रमें गये और महानदीके तटपर विश्राम किया। वहाँ राजा इन्द्रद्युम्नने नारदजीके साथ भगवान् श्रीनरसिंहजी, कल्पवट तथा नीलमाधवके स्थानका दर्शन किया।

नारदजीने जब वहाँ भगवान् नृसिंहकी प्रतिमाकी स्थापना की, उस समय राजाने भगवान्का स्तवन करते हुए कहा कि 'भगवन्! आप मुझे अपने चरणारविन्दोंकी श्रेष्ठ भक्ति दीजिये। आप मुझ अनाथपर कृपा कीजिये कि मैं अपने इस चर्मचक्षुसे आपके दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सकूँ।'

तत्पश्चात् उन्होंने एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ किया। जब वह अश्वमेध यज्ञ नौ सौ निन्यानबेकी संख्यातक पहुँच गया, तब सोमरस निकालनेके सात दिनके बाद जो रात्रि आयी, उसके चौथे प्रहरमें राजा इन्द्रद्युम्नने अविनाशी भगवान् विष्णुका ध्यान किया। उस ध्यानमें उन्हें एक रत्नसिंहासनपर शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुका दर्शन हुआ। उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति नील मेघके समान श्याम थी। वे वनमालासे विभूषित थे, उनके दाहिने भागमें शेषजी विराजमान थे, जो फणरूपी मुकुटका विस्तार करके सुन्दर छत्रके आकारमें परिणत हो गये थे। भगवान्के वामभागमें भगवती लक्ष्मी विराजमान थीं। भगवान्के आगे ब्रह्माजी हाथ जोड़े खड़े थे। सनकादि मुनीश्वर उनकी स्तुति कर रहे थे। ध्यानमें भगवान्का इस प्रकार दर्शन पाकर इन्द्रद्युम्नको बड़ा हर्ष हुआ। इन्द्रद्युम्नने भगवान्की स्तुति करके उन्हें प्रणाम किया। फिर ध्यानके अन्तमें राजाको अपने-आपका भान हुआ तो उन्होंने नारदजीसे सब बातें कहीं। तब नारदजीने आश्वासन देते हुए कहा— 'राजन्! इस यज्ञके अन्तमें तुम्हें भगवान् यहाँ (मूर्तिके रूपमें) प्रत्यक्ष दर्शन देंगे। ये सब बातें दूसरे किसीके आगे प्रकाशित न करना।'

राजा इन्द्रद्युम्नके अश्वमेध यज्ञके समाप्त होनेपर आकाशवाणी हुई, तदनुसार वहाँ भगवान् स्वयं काष्ठकी चार मूर्तियोंमें प्रकट हुए। बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शन चक्रके साथ भगवान् जगन्नाथजी दिव्य आसनपर विराजमान हुए।

भगवान्‌के चार दिव्य रूप सम्पन्न हो जानेपर पुनः आकाशवाणी हुई कि 'इन चारों प्रतिमाओंकी नीलाचलपर कल्पवृक्षके वायव्य कोणमें सौ हाथकी दूरीपर और भगवान् नृसिंहके उत्तरभागमें जो मैदान है, उसमें मन्दिर बनवाकर स्थापना करो।' राजाने उसका प्रसन्नतापूर्वक पालन किया। राजा इन्द्रद्युम्नने भगवान् जगन्नाथकी स्थापना करके उनकी स्तुति की और फिर उन चारों काष्ठमयी प्रतिमाओंका विधिवत् पूजन किया। यह वही पुरुषोत्तमक्षेत्र है, जो चारों धामोंमेंसे एक है और जगन्नाथपुरीके नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीबदरी और केदारक्षेत्रका माहात्म्य

बदरिकाश्रमका माहात्म्य वर्णन करते हुए श्रीमहादेवजीसे स्वामिकार्तिकेयजीने कहा है कि भगवान् विष्णुका बदरी नामक क्षेत्र तीनों लोकोंमें दुर्लभ है। उसके स्मरणमात्रसे महापातकी मनुष्य भी तत्काल पापरहित होकर मृत्युके पश्चात् मोक्षके भागी होते हैं। तप, योग और समाधिसे तथा सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो फल प्राप्त होता है; वह बदरीक्षेत्रके भलीभाँति दर्शनमात्रसे मिल जाता है। इस क्षेत्रके अधिपति साक्षात् भगवान् नारायण हैं। जहाँ भगवान् नारायणके चरणोंका सांनिध्य है, जहाँ साक्षात् अग्निदेवका निवास है और केदाररूपसे मेरा लिङ्ग प्रतिष्ठित है, वह सब बदरीक्षेत्रके अन्तर्गत है। केदारके दर्शन, स्पर्श तथा भक्ति-भावसे पूजन करनेपर कोटि-कोटि जन्मोंके पाप तत्काल भस्म हो जाते हैं। उस क्षेत्रमें विशेषतः मैं अपनी सम्पूर्ण कलासे स्थित रहता हूँ। काशीमें मरे हुए पुरुषोंको तारक ब्रह्म मुक्ति देनेवाला होता है, परंतु केदार-क्षेत्रमें मेरे लिङ्गके पूजनसे मनुष्योंकी मुक्ति हो जाती है।

बदरीक्षेत्रमें, जो अत्यन्त निर्मल भगवान् नर-नारायणका आश्रम है, स्नान और भगवान्‌का पूजन करनेसे मनुष्य तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। धर्मकी पत्नी मूर्तिसे भगवान्‌का नर और नारायणके रूपमें अवतार हुआ। वे दोनों माता-पिताकी आज्ञा लेकर तपस्याके लिये गये और नर-नारायण नामवाले दोनों पर्वतोंके बीच तपस्याकी साक्षात् मूर्तिके समान स्थित हो गये। उस तीर्थमें स्नान करके भगवान् विष्णुका पूजन करनेसे मनुष्य नरसे नारायण हो जाता है। वहाँ

विराजमान साक्षात् भगवान् विष्णु क्रमशः वहाँकी यात्रा करनेवाले पुरुषोंको अपना पद प्रदान करते हैं।

कार्तिकमासका माहात्म्य

कार्तिकमास-माहात्म्यके प्रकरणमें ब्रह्माजीने नारदसे कार्तिक-मासकी श्रेष्ठता, उसमें करने योग्य स्नान, दान, पूजन आदि धर्मोंका माहात्म्य बतलाकर स्नानकी विधि एवं कार्तिक-व्रत करनेवालोंके लिये पालनीय नियमोंका वर्णन किया है। कार्तिक-व्रत करनेवालोंको विधि और नियमोंपर विशेष ध्यान देकर उनको अनुष्ठानमें लाना चाहिये।

कार्तिकमासके सम्बन्धमें ब्रह्माजीने बतलाया है कि कार्तिकमासके समान कोई मास नहीं, सत्ययुगके समान कोई युग नहीं, वेदोंके समान कोई शास्त्र नहीं और गङ्गाजीके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं तथा इसी प्रकार अन्नदानके सदृश कोई दूसरा दान नहीं है। दान करनेवाले पुरुषोंके लिये न्यायोपार्जित द्रव्यके दानका सुअवसर दुर्लभ है, उसका भी तीर्थमें दान किया जाना तो और भी दुर्लभ है। पापसे डरनेवाले मनुष्यको कार्तिकमासमें शालग्रामशिलाका पूजन और भगवान् वासुदेवका स्मरण अवश्य करना चाहिये। नारद ! सब दानोंसे बढ़कर कन्यादान है, उससे अधिक विद्यादान है, विद्यादानसे भी गोदानका महत्त्व अधिक है और गोदानसे भी बढ़कर अन्नदान है, क्योंकि यह समस्त संसार अन्नके आधारपर ही जीवित रहता है। इसलिये कार्तिकमें अन्नदान अवश्य करना चाहिये। कार्तिकमें नियमका पालन करनेपर अवश्य ही भगवान् विष्णुका सारूप्य एवं मोक्षदायक पद प्राप्त होता है। पूर्वकालमें सत्यकेतु नामक ब्राह्मणने केवल अन्नदानसे सब पुण्योंका फल पाकर परम दुर्लभ मोक्षको भी प्राप्त कर लिया था।

कार्तिकमासमें अनेक प्रकारके दान देकर भी यदि मनुष्य भगवान्‌का चिन्तन नहीं करता, तो वे दान उसे कभी पवित्र नहीं करते। भगवन्नामस्मरणकी महिमाका वर्णन मैं भी नहीं कर सकता। मनुष्यको 'गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे, गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण ! गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे, गोविन्द दामोदर माधवेति'—इस प्रकार प्रतिदिन कीर्तन करना चाहिये। नित्यप्रति भागवतके आधे

श्लोक या चौथाई श्लोकका भी कार्तिकमें श्रद्धा और भक्तिके साथ अवश्य पाठ करें । देवर्षे ! जो मनुष्य कार्तिकमासमें प्रतिदिन गीताका पाठ करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। गीताके समान कोई शास्त्र न तो हुआ है और न होगा। एकमात्र गीता ही सदा सब पापोंको हरनेवाली तथा मोक्ष देनेवाली है * । गीताके एक अध्यायका पाठ करनेसे मनुष्य घोर नरकसे मुक्त हो जाते हैं।

भक्त विष्णुदास और राजा चोलकी कथा

इसी कार्तिकमासके माहात्म्य-वर्णनके प्रकरणमें नारदजीने श्रीविष्णुभक्तिकी प्रशंसामें एक बड़ी ही सुन्दर कथाका उल्लेख किया है। उसमें दिखाया गया है कि भगवान् बड़े-बड़े यज्ञोंसे भी शीघ्र प्रसन्न नहीं होते और भाव होनेपर साधारण पूजासे ही प्रसन्न हो जाते हैं। यह कथा पद्मपुराणमें भी है। पहले काञ्चीपुरीमें चोल नामके एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं। राजा चोलके राज्यमें कोई भी मनुष्य दरिद्र, दुखी तथा पापमें मन लगानेवाला अथवा रोगी नहीं था। एक समयकी बात है—राजा चोल अनन्तशयन नामक तीर्थमें गये, जहाँ जगदीश्वर भगवान् विष्णुने योगनिद्राका आश्रय लेकर शयन किया था। वहाँ भगवान् विष्णुके दिव्य विग्रहकी राजाने विधिपूर्वक पूजा की। दिव्य मणि, मुक्ताफल तथा स्वर्णके बने हुए सुन्दर पुष्पोंसे पूजन करके राजाने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रणाम करके वे ज्यों ही बैठे, उसी समय उनकी दृष्टि भगवान्‌के पास आते हुए एक ब्राह्मणपर पड़ी, जो उन्हींकी काञ्ची नगरीके निवासी थे। उनका नाम विष्णुदास था। उन्होंने भगवान्‌की पूजाके लिये अपने हाथमें तुलसीदल एवं जल ले रखा था। निकट

---

* कार्तिके मासि विप्रेन्द्र यस्तु गीतां पठेन्नरः।
तस्य पुण्यफलं वक्तुं मम शक्तिर्न विद्यते॥
गीतायास्तु समं शास्त्रं न भूतं न भविष्यति।
सर्वपापहरा नित्यं गीतैका मोक्षदायिनी॥
(स्क० वै०, कार्तिक० २।४९-५०)

आनेपर उन ब्रह्मर्षिने विष्णुसूक्तका पाठ करते हुए देवाधिदेव भगवान्‌को स्नान कराया और तुलसीकी मञ्जरी तथा पत्तोंसे उनकी विधिवत् पूजा की। राजा चोलने जो पहले रत्नोंसे भगवान्‌की पूजा की थी, वह सब तुलसीपूजासे ढक गयी। यह देखकर राजा कुपित होकर बोले, 'विष्णुदास! मैंने मणियों तथा स्वर्णसे भगवान्‌की पूजा की थी, वह कितनी शोभा पा रही थी। तुमने तुलसीदल चढ़ाकर उसे ढक दिया। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम दरिद्र और गँवार हो। भगवान् विष्णुकी भक्ति बिलकुल नहीं जानते।' राजाकी यह बात सुनकर द्विजश्रेष्ठ विष्णुदासने कहा—'राजन्! आपको भक्तिका कुछ भी पता नहीं है, केवल राजलक्ष्मीके कारण आप घमंड कर रहे हैं।' तब नृपश्रेष्ठ चोलने हँसकर कहा, 'तुम तो दरिद्र एवं निर्धन हो। तुम्हारी भगवान् विष्णुमें भक्ति ही कितनी है। तुमने भगवान् विष्णुको सन्तुष्ट करनेवाला कोई भी यज्ञ, दान आदि नहीं किया और न पहले कभी कोई देवमन्दिर ही बनवाया है। इतनेपर भी तुम्हें अपनी भक्तिका इतना गर्व है। अच्छा, तो ये सभी ब्राह्मण मेरी बात सुन लें। भगवान् विष्णुके दर्शन पहले मैं करता हूँ या यह ब्राह्मण। इस बातको आप सब देखें, फिर हम दोनोंमें किसकी भक्ति कैसी है, यह सब लोग स्वतः जान लेंगे।'

ऐसा कहकर राजा अपने राजभवनको चले गये। वहाँ उन्होंने महर्षि मुद्गलको आचार्य बनाकर वैष्णवयज्ञ प्रारम्भ किया। उधर सदैव भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेवाले शास्त्रोक्त नियमोंमें तत्पर विष्णुदास भी व्रतका पालन करते हुए वहीं भगवान् विष्णुके मन्दिरमें टिक गये। उन्होंने माघ और कार्तिकके उत्तम व्रतका अनुष्ठान, तुलसीवनकी रक्षा, एकादशीव्रत, द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) मन्त्रका जप, नृत्य, गीत आदि मङ्गलमय आयोजनोंके साथ प्रतिदिन षोडशोपचारसे भगवान् विष्णुकी पूजा आदि नियमोंका आचरण किया। वे प्रतिदिन चलते-फिरते और सोते—सब समय भगवान् विष्णुका स्मरण किया करते थे। वे सब प्राणियोंके भीतर एकमात्र भगवान् विष्णुको ही स्थित देखते थे। इस प्रकार राजा चोल एवं विष्णुदास दोनों ही भगवान् लक्ष्मीपतिकी आराधनामें संलग्न थे। दोनों ही अपने-अपने व्रतमें स्थित रहते थे और दोनोंकी ही सम्पूर्ण इन्द्रिय तथा समस्त कर्म भगवान् विष्णुको समर्पित हो चुके थे। इस अवस्थामें

उन दोनोंने दीर्घकाल व्यतीत किया। एक दिनकी बात है कि विष्णुदासने पूजा-पाठ आदि नित्यकर्म करनेके पश्चात् भोजन तैयार किया, किंतु कोई अलक्षित रहकर उसको चुरा ले गया। विष्णुदासने देखा—भोजन नहीं है, परंतु उन्होंने दुबारा भोजन नहीं बनाया; क्योंकि ऐसा करनेपर सायंकालकी पूजाके लिये उन्हें अवकाश नहीं मिलता। अतः प्रतिदिनके नियमका भंग हो जानेका भय था। दूसरे दिन पुनः उसी समयपर भोजन बनाकर वे ज्यों ही भगवान् विष्णुको भोग अर्पण करनेके लिये गये, त्यों ही किसीने आकर फिर सारा भोजन हड़प लिया। इस प्रकार सात दिनोंतक कोई आ-आकर उनके भोजनका अपहरण करता रहा। इससे विष्णुदासको बड़ा विस्मय हुआ। वे इस प्रकार मन-ही-मन विचारने लगे—'अहो! कौन प्रतिदिन आकर मेरी रसोई चुरा ले जाता है। यदि दुबारा रसोई बनाकर भोजन करता हूँ तो सायंकालकी पूजा छूट जाती है। यदि रसोई बनाकर तुरंत ही भोजन कर लेना उचित हो तो भी मुझसे यह न होगा; क्योंकि भगवान् विष्णुको सब कुछ अर्पण किये बिना कोई भी वैष्णव भोजन नहीं करता। आज उपवास करते मुझे सात दिन हो गये। इस प्रकार मैं व्रतमें कबतक स्थिर रह सकता हूँ?' ऐसा निश्चय करके भोजन बनानेके पश्चात् वे कहीं छिपकर खड़े हो गये। इतनेमें ही उन्हें एक चाण्डाल दिखायी दिया, जो रसोईका अन्न हरकर ले जानेके लिये तैयार खड़ा था, भूखके मारे उसका सारा शरीर दुर्बल हो गया था। मुखपर दीनता छा रही थी। शरीरमें हाड़ और चामके सिवा और कुछ शेष नहीं बचा था। उसे देखकर श्रेष्ठ ब्राह्मण विष्णुदासका हृदय करुणासे भर आया। उन्होंने भोजन चुरानेवाले चाण्डालकी ओर देखकर कहा, 'भैया! जरा ठहरो, ठहरो, क्यों रूखा-सूखा खाते हो, यह घी तो ले लो।' यों कहते हुए विप्रवर विष्णुदासको आते देख वह चाण्डाल भयके मारे बड़े वेगसे भागा और कुछ ही दूरपर मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। चाण्डालको भयभीत एवं मूर्च्छित देखकर विष्णुदास बड़े वेगसे उसके पास आये तथा दयावश अपने वस्त्रके छोरसे उसको हवा करने लगे। तदनन्तर जब वह उठकर खड़ा हुआ, तब विष्णुदासने देखा कि वहाँ चाण्डाल नहीं है। साक्षात् भगवान् नारायण ही शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये सामने उपस्थित हैं। अपने प्रभुको उपस्थित देखकर विष्णुदास सात्त्विक

भावोंके वशीभूत हो गये। वे स्तुति और नमस्कार करनेमें भी समर्थ न हो सके। तब भगवान् विष्णुने सात्त्विक व्रतका पालन करनेवाले अपने भक्त विष्णुदासको छातीसे लगा लिया और उन्हें अपने ही-जैसा रूप देकर वैकुण्ठधामको ले चले। उस समय यज्ञमें दीक्षित हुए राजा चोलने देखा—विष्णुदास एक श्रेष्ठ विमानपर बैठकर भगवान् विष्णुके समीप जा रहे हैं।

विष्णुदासको वैकुण्ठधाममें जाते देख राजाने शीघ्र ही अपने गुरु महर्षि मुद्गलको बुलाया और इस प्रकार कहना प्रारम्भ कर दिया—'जिसके साथ स्पर्धा करके मैंने इस यज्ञ, दान आदि कर्मका अनुष्ठान किया है, वह ब्राह्मण आज भगवान् विष्णुका रूप धारण करके मुझसे पहले वैकुण्ठधामको जा रहा है। मैंने इस वैष्णवयागमें भलीभाँति दीक्षित होकर अग्निमें हवन किया और दान आदिके द्वारा ब्राह्मणोंका मनोरथ पूर्ण किया तथापि अभीतक भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न नहीं हुए और विष्णुदासको केवल भक्तिके ही कारण श्रीहरिने प्रत्यक्ष दर्शन दिया है। अतः जान पड़ता है कि भगवान् विष्णु केवल दान एवं यज्ञोंसे ही प्रसन्न नहीं होते। उन प्रभुका दर्शन करानेमें भक्ति ही प्रधान कारण है।' यों कहकर राजा अपने भानजेको राज्य दे यज्ञशालामें गये और यज्ञकुण्डके सामने खड़े होकर भगवान् विष्णुको सम्बोधित करते हुए तीन बार उच्च स्वरसे निम्नाङ्कित वचन बोले—'भगवान् विष्णु ! आप मुझे मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा होनेवाली अविचल भक्ति प्रदान कीजिये, इस प्रकार कहकर वे सबके देखते-देखते अग्निकुण्डमें कूद पड़े। बस, उसी समय भक्तवत्सल भगवान् विष्णु उस अग्निकुण्डसे प्रकट हो गये। उन्होंने राजाको छातीसे लगाकर एक श्रेष्ठ विमानपर चढ़ाकर उन्हें साथ ले वैकुण्ठधामको प्रस्थान किया।

नारदजी कहते हैं—इन दोनोंकी भक्तिपर ही भगवान् परम प्रसन्न हुए थे। भगवत्कृपासे ब्राह्मण विष्णुदास तो पुण्यशील नामसे प्रसिद्ध भगवान्के पार्षद हुए और राजा चोल सुशील नामक पार्षद हुए। इन दोनोंको अपने ही समान रूप देकर भगवान् लक्ष्मीपतिने अपना द्वारपाल बना लिया।

ब्रह्माजीके पूछनेपर स्वयं श्रीभगवान्ने मार्गशीर्ष मासमें स्नान और भगवत्पूजनकी महिमा एवं विधि विस्तारपूर्वक कही है। इसी प्रसङ्गमें भगवान्ने

एकादशीव्रत, श्रीकृष्णनामकीर्तन, व्रजभूमि और श्रीमद्भागवतकी महिमाका निरूपण किया है। पाठकोंको इन प्रकरणोंका ग्रन्थके वैष्णवखण्डमें अध्ययन करके लाभ उठाना चाहिये। इनमेंसे यहाँ केवल श्रीकृष्णनामकीर्तनकी महिमाका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

श्रीकृष्णनाम-माहात्म्य

श्रीभगवान् विष्णु ब्रह्माजीसे कहते हैं—अगहनके महीनेमें 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर मेरा नाम विशेषरूपसे लेना चाहिये। यह मुझे अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला है। मेरी एक प्रतिज्ञा है, जिसे देवता और असुर भी नहीं जानते। वह प्रतिज्ञा इस प्रकार है—'जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा मेरी शरणमें आ जाता है, वह यहाँ सम्पूर्ण लौकिक कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और अन्तमें सर्वोत्कृष्ट वैकुण्ठधाममें जाता है। जो 'हे कृष्ण ! हे कृष्ण !! हे कृष्ण !!!' ऐसा कहकर मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है, उसे जिस प्रकार कमल जलको भेदकर ऊपर निकल आता है उसी प्रकार मैं नरकसे निकाल लाता हूँ* । पूर्व अवस्थामें किसीने सम्पूर्ण पाप किये हों, तथापि वह अन्तकालमें श्रीकृष्णका स्मरण कर लेता है तो निश्चय ही मुझे प्राप्त होता है। मृत्युकाल उपस्थित होनेपर यदि कोई 'परमात्मा विष्णुको नमस्कार है' इस प्रकार विवश होकर भी कहे तो वह अविनाशी पदको प्राप्त होता है। ब्रह्मन् ! यदि कृष्ण-कृष्णका उच्चारण करता हुआ कोई श्मशानमें अथवा सड़कपर भी मर जाता है तो भी वह मुझको ही प्राप्त होता है। पुत्र ! जो मेरे भक्तोंका दर्शन करके कहीं मृत्युको प्राप्त होता है, वह मनुष्य मेरा स्मरण किये विना ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है †। वत्स ! (सञ्चित) पापरूपी प्रज्वलित

---

* कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥
(स्क० पु०, वै० मा०, मा०१५।३६)

† श्मशाने यदि रथ्यायां कृष्ण कृष्णेति जल्पति।
म्रियते यदि चेत् पुत्र मामेवैति न संशयः॥

अग्निसे भय न करो। श्रीकृष्णरूपी मेघोंके जलबिन्दुओंसे उसे सींचकर बुझा दिया जा सकता है। तीखी दाढ़ोंवाले कलिकालरूपी सर्पका क्या डर है? श्रीकृष्णके नामरूपी ईन्धनसे उत्पन्न आगके द्वारा वह जलकर नष्ट हो सकता है। जिस प्रकार प्रयागमें गङ्गा, शुक्लतीर्थमें नर्मदा और कुरुक्षेत्रमें सरस्वती हैं, उसी प्रकार सर्वत्र श्रीकृष्णका कीर्तन सब पापोंको नष्ट करनेवाला है। संसार-समुद्रमें डूबकर जो महान् पापोंकी लहरोंमें गिर गये हैं, ऐसे मनुष्योंके लिये श्रीकृष्ण-स्मरणके सिवा दूसरी कोई गति नहीं है। जो पापी हैं, जिनमें श्रीकृष्णस्मरणकी भावना नहीं है, ऐसे मनुष्योंके लिये परलोककी यात्राके समय श्रीकृष्ण चिन्तनके सिवा दूसरा कोई पाथेय (राहखर्च) नहीं है। उसीका जन्म एवं जीवन सफल है तथा उसीका मुख सार्थक है, जिसकी जिह्वा सदा 'कृष्ण-कृष्ण' का कीर्तन करती रहती है। जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने मोक्षके लिये जानेको कमर कस ली है *। 'कृष्ण-कृष्ण'के कीर्तनसे मनुष्यका शरीर और मन कभी श्रान्त नहीं होता। उसे पाप नहीं लगता और विकलता भी नहीं होती। जो श्रीकृष्णनामोच्चारणरूपी पथ्यका कलियुगमें त्याग नहीं करता, उसके चित्तमें पापरूपी रोग नहीं पैदा होते अर्थात् उससे नये पाप नहीं बनते। श्रीकृष्ण-नामका कीर्तन करते हुए मनुष्यकी आवाज सुनकर दक्षिण दिशाके अधिपति यमराज उसके सौ जन्मोंके पापोंका परिमार्जन कर देते हैं। सैकड़ों चान्द्रायण और सहस्रों पराक व्रतसे जो पाप नष्ट नहीं होता, वह 'कृष्ण-कृष्ण' का कीर्तन करनेमात्रसे नष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण-नामका उच्चारण करनेसे नाम जपनेवालेपर मेरी अधिकाधिक प्रीति बढ़ती है।

दर्शनान्मम भक्तानां मृत्युमाप्नोति यः क्वचित्।
विना मत्स्मरणात् पुत्र मुक्तिमेति स मानवः॥
(स्क० पु०, वै० मा०, मा० १५। ४२-४३)

* जीवितं जन्मसाफल्यं मुखं तस्यैव सार्थकम्।
सततं रसना यस्य कृष्ण कृष्णेति जल्पति॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥
(स्क० पु०, वै० मा०, मा० १५। ५१-५२)

'कोटि-कोटि' चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणमें स्नान करनेसे जो फल बतलाया गया है, उसे मनुष्य 'कृष्ण-कृष्ण'के कीर्तनमात्रसे पा लेते हैं। जैसे सूर्य-किरणोंके प्रतापसे बर्फ पिघल जाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-कीर्तनसे महापातक नष्ट हो जाते हैं। महापापोंसे युक्त मनुष्य भी अन्तकालमें एक बार श्रीकृष्णनामका कीर्तन कर ले तो वह उससे पापमुक्त हो जाता है। जो जिह्वा कलिकालमें श्रीकृष्णके नामोंका कीर्तन नहीं करती, वह दुष्टा मुँहमें न रहे, रसातलमें पहुँच जाय। जो दिन-रात श्रीकृष्णके गुणोंका कीर्तन नहीं करती, वह जिह्वा नहीं, मुखमें कोई पापमयी लता है, जिसे जिह्वाके नामसे पुकारा जाता है। जो 'श्रीकृष्ण कृष्ण-कृष्ण श्रीकृष्ण' इस प्रकार श्रीकृष्णनामका कीर्तन नहीं करती, उस रोगरूपिणी जिह्वाके सौ टुकड़े होकर गिर जायँ *। जो श्रीकृष्णके नामकी महिमाका प्रातःकाल उठकर पाठ करता है, उसके लिये निश्चय ही मैं कल्याणदाता होता हूँ। जो तीनों संध्याओंके समय श्रीकृष्णनामके माहात्म्यका पाठ करता है, वह जीते-जी सम्पूर्ण कामनाओंको और मरनेपर परम गतिको पाता है।

वैशाखमासमें भगवद्भक्तिकी महिमा

देवर्षि नारदजीने राजा अम्बरीषके पूछनेपर उन्हें वैशाखमासका माहात्म्य विस्तारपूर्वक बतलाया है। वे कहते हैं—वैशाखमासको ब्रह्माजीने सब मासोंमें उत्तम सिद्ध किया है। वैशाखमासके समान कोई मास नहीं, सत्ययुगके समान कोई युग नहीं, वेदके समान कोई शास्त्र नहीं और गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं है। जलके समान दान नहीं, खेतीके समान धन नहीं और जीवनसे बढ़कर कोई लाभ नहीं है। उपवासके समान कोई तप नहीं, दानसे बढ़कर कोई सुख नहीं, दयाके समान धर्म नहीं, धर्मके समान मित्र नहीं, सत्यके समान यश नहीं,आरोग्यके समान उन्नति नहीं, भगवान् विष्णुसे बढ़कर कोई रक्षक नहीं और वैशाखमासके समान संसारमें कोई पवित्र मास नहीं है, ऐसा विद्वानोंका मत है। वैशाख-मास श्रेष्ठ है और शेषशायी

---

* पततां शतखण्डा तु सा जिह्वा रोगरूपिणी।
श्रीकृष्ण कृष्ण कृष्णेति श्रीकृष्णेति न जल्पति॥
(स्क० पु० वै०, मा०, मा० १५। ६६)

भगवान् विष्णुको सदा प्रिय है, सब दानोंसे जो पुण्य होता है और सब तीर्थोंमें जो फल होता है, उसको मनुष्य वैशाखमासमें केवल जलदान करके प्राप्त कर लेता है। राजन्! वैशाखमासमें जलकी इच्छावालेको जल, छाया चाहनेवालेको छाता और पंखेकी इच्छा रखनेवालेको पंखा देना चाहिये।

इसी प्रसंगमें काशीपुरीके चक्रवर्ती राजा ईश्वरभक्त कीर्तिमान्का आख्यान कहा गया है, जिन्होंने अपने समस्त राज्यमें सभी मनुष्योंसे वैशाखमासके भक्तिसंयुक्त धर्मोंका पालन कराकर उन्हें विष्णुलोक प्राप्त करा दिया था। उनके इस धार्मिक राज्यकालमें धर्मराजकी पुरी सूनी हो गयी। कैसी अद्भुत बात है कि एक राजाके धार्मिक हो जानेसे उनके प्रभावसे सम्पूर्ण प्रजाजनोंको वैकुण्ठधामकी प्राप्ति हो गयी। 'यथा राजा तथा प्रजा' इस उक्तिकी चरितार्थता सिद्ध हो गयी।

राजा कीर्तिमान् महाराज नृगके पुत्र थे। संसारमें उनका बड़ा यंश था। वे अपनी इन्द्रियोंपर और क्रोधपर विजय पा चुके थे। ब्राह्मणोंके प्रति उनके मनमें बड़ी भक्ति थी। राजा कीर्तिमान्के राज्यमें सर्वत्र सब देशोंमें अर्थात् सारे भूमण्डलमें धर्मका पौधा उत्पन्न होकर बढ़े हुए वृक्षके रूपमें परिणत हो गया। उनके राज्यमें जो लोग मर जाते, वे भगवान् विष्णुके धाममें जाते थे। वहाँके मनुष्योंको विष्णुलोककी प्राप्ति निश्चित थी। एक बार यमपुरीके पहलेके जीवोंके यन्त्रणा भोगकर चले जानेसे तथा अपने भक्तिसंयुक्त धर्मानुकूल कर्ममें स्थित हुए लोगोंके विष्णुलोकमें चले जानेसे यमपुरीके सब नरक खाली हो गये। वहाँ एक भी पापी प्राणी नहीं रह गया, सब लोग भगवान्के धाममें जाने लगे। इससे देवताओंके लोक भी सूने हो गये।

इस प्रकार स्वर्ग और नरक दोनोंके सूने हो जानेपर यमराज ब्रह्माजीके लोकमें गये और प्रणाम करके बोले—'काममें नियुक्त जो पुरुष स्वामीकी आज्ञाका ठीक-ठीक पालन नहीं करता और उसका धन लेकर भोगता है, वह काठका कीड़ा होता है। राजा कीर्तिमान्के राज्यमें सब लोग वैशाखमासोक्त पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करके पितरों और पितामहोंके साथ वैकुण्ठधाममें चले जाते हैं। उनके मरे हुए पितर और पितामह आदि भी विष्णुलोकमें चले जाते हैं। सम्पूर्ण तीर्थोंसे, दान आदिसे, तपस्याओंसे, व्रतोंसे अथवा सम्पूर्ण धर्मोंसे युक्त मनुष्य भी उस गतिको नहीं पाता, जो वैशाखधर्ममें तत्पर हुए मनुष्यको प्राप्त हो रही है। इस संसारमें पवित्र और अपवित्र

सभी लोग राजाकी आज्ञासे वैशाखमासके धर्मका पालन करके विष्णुलोकको जा रहे हैं। उस राजाने केवल भगवान्‌के चरणोंकी शरण ले रखी है, इससे जान पड़ता है वह समस्त संसारको विष्णुलोकमें पहुँचा देगा। जिस प्रकार कीर्तिमान् मेरे शासनको मिटानेमें उद्यत हुआ है ऐसा उद्योग पुराणोंमें और किसीका नहीं सुना गया है। भगवान्‌की भक्तिमें लगे हुए राजा कीर्तिमान्‌के सिवा दूसरे ऐसे किसीको मैं नहीं जानता जो भक्तिका डंका बजाकर घोषणा करते हुए लोगोंको ऐसी प्रेरणा देता हो और मेरे मार्गको विलुप्त करनेकी चेष्टा करता रहा हो।'

ब्रह्माजीने कहा—'यमराज! इसमें तुमने क्या आश्चर्य देखा? भगवान् गोविन्दको एक बार भी प्रणाम कर लिया जाय तो वह सौ अश्वमेध यज्ञोंके अवभृथस्नानके समान होता है। यज्ञ करनेवाला तो पुनः इस संसारमें जन्म लेता है, परंतु भगवान्‌को किया हुआ प्रणाम पुनर्जन्मका हेतु नहीं बनता—मुक्तिकी प्राप्ति करा देता है *। जिसकी जिह्वाके अग्रभागपर 'हरि'—ये दो अक्षर विद्यमान हैं, उसको कुरुक्षेत्र-तीर्थके सेवन अथवा सरस्वती नदीके जलमें स्नान करनेसे क्या लेना है? जो मृत्युकालमें भगवान् विष्णुका स्मरण करता है, वह पाप-राशिका परित्याग करके भगवान् विष्णुके सायुज्यको पाता है; क्योंकि भगवान् विष्णुको अपना स्मरण बहुत ही प्रिय है। यमराज! इसी प्रकार वैशाखमास भी भगवान् विष्णुको प्रिय है। जिसके धर्मको सुननेमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है, उसके अनुष्ठानमें तत्पर रहनेवाला मनुष्य यदि मुक्तिको प्राप्त हो तो उसके लिये क्या कहना है? वैशाखमासमें भगवान् पुरुषोत्तमके नाम और यशका गान किया जाता है, जिससे भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। यह राजा कीर्तिमान् वैशाखमासमें उन्हीं भगवान्‌के प्रिय धर्मोंका अनुष्ठान करता है, जिससे प्रसन्न चित्त होकर भगवान् सदा उसकी सहायतामें स्थित रहते हैं। भगवान्‌के भक्तोंका कभी अमङ्गल नहीं होता।

---

* एकोऽपि गोविन्दकृतः प्रणामः
शताश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
यज्ञस्य कर्ता पुनरेति जन्म
हरेः प्रणामो न पुनर्भवाय॥
(स्क० पु०, वैशाख १३। ३)

यमराज! कार्यमें नियुक्त पुरुष यदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर स्वामीके कार्यसाधनकी चेष्टा करता है तो उतनेसे ही वह कृतार्थ हो जाता है। कभी शक्तिके बाहरका कार्य उपस्थित हो जाय तो स्वामीको उसकी सूचना दे दे। उतना कर देनेसे वह उऋण हो जाता है और सुखका भागी होता है। अच्छा चलो, हमलोग भगवान् विष्णुके पास चलें। उनसे सब बात बताकर उनके कथनानुसार कार्य किया जायगा।

तदनन्तर ब्रह्माजीने उनके साथ क्षीरसागरके तटपर जाकर भगवान्का स्तवन किया। भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हो गये, तब उन्होंने भगवान्को प्रणाम किया। भगवान्ने उनसे पूछा—'तुमलोग यहाँ क्यों आये हो?' ब्रह्माजीने कहा—'प्रभो! आपके श्रेष्ठ भक्त राजा कीर्तिमान्के शासनकालमें भूमण्डलके सम्पूर्ण मनुष्य वैशाखधर्मके पालनमें संलग्न हो आपके अविनाशी पदको प्राप्त हो रहे हैं। इससे यमपुरी सूनी हो गयी है।'

उनकी बात सुनकर भगवान् विष्णु हँसते हुए उनसे बोले—'मैं लक्ष्मीको त्याग दूँगा। अपने प्राण, शरीर, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला, श्वेतद्वीप, वैकुण्ठधाम, क्षीरसागर, शेषनाग तथा गरुड़को भी छोड़ दूँगा; परंतु अपने भक्तका त्याग नहीं कर सकूँगा। जिन्होंने मेरे लिये सब भोगोंका त्याग करके अपना जीवनतक मुझे सौंप दिया है, जो मुझमें मन लगाकर मेरे स्वरूप हो गये हैं, उन महाभाग भक्तोंको मैं कैसे त्याग सकता हूँ *। राजा कीर्तिमान्को इस पृथ्वीपर मैंने दस हजार वर्षोंकी आयु दी है। उसमें आठ हजार वर्ष तो बीत गये। शेष दो हजार वर्षकी आयु और बीत जानेपर उसे मेरा सायुज्य प्राप्त होगा।'

---

* लक्ष्मीं वापि परित्यक्ष्ये प्राणान् देहमथापि वा।
श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां वैजयन्तीमथापि वा॥
श्वेतद्वीपं च वैकुण्ठं क्षीरसागरमेव च।
शेषं च गरुडं चैव न भक्तं त्यक्तुमुत्सहे॥
विसृज्य सकलान् भोगान् मदर्थे त्यक्तजीवितान्।
मदात्मकान् महाभागान् कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
(स्क० पु०, वै० वैशाख० १३। ३४-३६)

इस प्रकार कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। ब्रह्माजी भी अपने सेवकोंके साथ सत्यलोकको चले गये। उनके बाद यमराज भी अपनी पुरीको लौट आये।

इस वैशाखमासके माहात्म्यखण्डमें मुनिवर शंख और व्याधके संवादमें भगवान् विष्णुके स्वरूपके विवेचन, जीवके स्वभाव और कर्मके कारण तथा भागवत-धर्मोंको भलीभाँति बताया गया है एवं कलियुगकी महिमा और उसकी अवस्थाओंका भी वर्णन है तथा अयोध्या-माहात्म्य और वहाँके तीर्थोंका भी वर्णन किया गया है। पाठकोंको चाहिये कि इन प्रकरणोंको मूलग्रन्थमें पढ़कर उनसे लाभ उठावें।

सेतुबन्ध श्रीरामेश्वरका माहात्म्य

अब ब्राह्मखण्डकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातोंका विचार किया जाता है। सूतजीने शौनकादि ऋषियोंसे सेतु-माहात्म्यका वर्णन करते हुए कहा है—'ब्राह्मणो! श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा बँधाये हुए सेतुसे जो परम पवित्र हो गया है,वह रामेश्वर नामक क्षेत्र सब तीर्थोंमें उत्तम है। उसके दर्शनमात्रसे संसारसागरसे मुक्ति हो जाती है एवं भगवान् विष्णुमें और शिवमें भक्ति तथा पुण्यकी वृद्धि होती है। जिसने सेतुका दर्शन कर लिया, उसने सब तीर्थोंमें स्नान और सब प्रकारकी तपस्याका अनुष्ठान कर लिया। सेतु, रामेश्वरलिङ्ग और गन्धमादन पर्वतका चिन्तन करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

'जो मनुष्य भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा स्थापित रामेश्वर-शिवलिङ्गका एक बार दर्शन कर लेता है, वह भगवान् शङ्करके सायुज्यस्वरूप मोक्षको प्राप्त करता है। सत्ययुगमें दस वर्षोंमें जो पुण्य किया जाता है, उसीको त्रेताके मनुष्य एक वर्षमें सिद्ध करते हैं, वही द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें एक दिनमें सार्थक होता है *।

---

* दशवर्षैस्तु यत् पुण्यं क्रियते तु कृते युगे।
त्रेतायामेकवर्षेण तत् पुण्यं साध्यते नृभिः॥

परंतु जो लोग भगवान् रामेश्वरका दर्शन करते हैं, उनको वही पुण्य कोटिगुना होकर एक-एक पलमें प्राप्त होता है। रामेश्वर नामक महालिङ्गमें सब तीर्थ, सम्पूर्ण देवता, ऋषि-मुनि तथा पितर विद्यमान हैं। जो एक समय, दो समय, तीनों समय अथवा सर्वदा ही मोक्षदायक रामेश्वर नामक महादेवजीका स्मरण या कीर्तन करते हैं, वे पापसमूहसे मुक्त हो जाते हैं और सच्चिदानन्दमय अद्वैतरूप शिवको प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य रामेश्वर नामक महालिंगको नमस्कार और उसका पूजन करते हैं, उनका जन्म सफल है, वे कृतार्थ हो जाते हैं।'

इस प्रकार सेतुबन्ध-रामेश्वरकी महिमाका और तत्पश्चात् भगवान् श्रीरामके द्वारा सेतुक्षेत्रमें रामेश्वरलिंगकी स्थापना करनेका विस्तृत वर्णन किया गया है; उसे ब्राह्मखण्डके सेतुमाहात्म्य-प्रकरणमें देखना चाहिये।

भगवान् श्रीरामका हनुमान्को ज्ञानोपदेश

इसी प्रसङ्गमें श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्जीको जो ज्ञानोपदेश दिया है, उसका संक्षेपमें नीचे दिग्दर्शन कराया जाता है।

श्रीरामचन्द्रजी बोले—कपि! इस संसारमें जो जन्म ले चुके हैं, जो जन्म लेनेवाले हैं और जो मर चुके हैं उन सबको तथा अपने और पराये सब कार्योंको मैं भलीभाँति जानता हूँ। जीव अपने कर्मके अनुसार अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। अतः तुम तत्त्वज्ञानमें ही सदा स्थिर रहो। यह आत्मा स्वयंप्रकाश है। तुम सदा आत्माके स्वरूपका चिन्तन करो। देह आदिमें ममता त्याग दो, सदा धर्मका आश्रय लो, साधुपुरुषोंका सेवन करो, सम्पूर्ण इन्द्रियोंका दमन करो, दूसरोंके दोषकी चर्चासे दूर रहो एवं शिव और विष्णु आदि देवताओंकी सदा पूजा करो। सर्वदा सत्य बोलो तथा आत्मा और परमात्माकी एकताका अनुभव करो। राग और द्वेषसे बँधकर जीव धर्म और अधर्मके वशीभूत होते हैं तथा उन्हींके अनुसार देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियोंमें तथा नरकोंमें पड़ते हैं। वायुनन्दन! मुझसे परमार्थकी बात सुनो। यह संसार एक गड्ढेके समान है। इसमें कुछ भी

---

* द्वापरे तच्च मासेन तद् दिनेन कलौ युगे।

(स्क०, ब्रा०, सेतु० ४३। ३-४)

सुख नहीं। यहाँ पहले तो जीवका जन्म होता है, तत्पश्चात् उसकी बाल्यावस्था रहती है, फिर वह जवान होता है और उसके बाद वह बुढ़ापा भोगता है। तदनन्तर मृत्युको प्राप्त होता है और मृत्युके बाद पुनः जन्मका कष्ट भोगता है। इस प्रकार अज्ञानके प्रभावसे ही मनुष्य दुःख पाता है और अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उसे उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानसे ही होती है। ज्ञान परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। वेदान्त-वाक्यके श्रवण और मननसे जो ज्ञान होता है, वह विरक्त पुरुषको ही होता है। श्रेष्ठ अधिकारीको गुरुदेवकी कृपासे भी ज्ञान होता है, यह सत्य है।

संग्रहका अन्त विनाश है, अधिक ऊँचे चढ़नेका अन्त नीचे गिरना है; संयोगका अन्त वियोग और जीवनका अन्त मरण है * । जैसे सुदृढ़ खंभोंवाला गृह सुदीर्घकालके बाद जीर्ण होनेपर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा-जीर्ण होकर मृत्युके अधीन हो नष्ट हो जाता है। जैसे समुद्रमें बहते हुए दो काठ एक-दूसरेसे मिलकर फिर विलग हो जाते हैं, उसी प्रकार कालयोगसे मनुष्योंका एक-दूसरेके साथ संयोग और वियोग होता है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, भाई, क्षेत्र और धन—ये सब कभी कुछ कालके लिये एकत्र होते और फिर अन्यत्र चले जाते हैं, जीवोंके शरीर जिस प्रकार उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्माका जन्म और मरण नहीं होता। अतः तुम शोकरहित अद्वैत ज्ञानमय सत्स्वरूप निर्मल परब्रह्म परमात्माका दिन-रात चिन्तन करो।

पतिव्रता और विधवाओंके कर्तव्य

श्रीव्यासजीने धर्मारण्य-माहात्म्यका वर्णन करते हुए शौच, स्नान, संध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, स्वाध्याय, अतिथि-सेवा, पंचयज्ञ तथा व्यावहारिक शिष्टाचारोंका विस्तारसे विवेचन किया है। पाठकोंको यह प्रसङ्ग मूलग्रन्थमें पढ़ना

---

*सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
(स्क० पु०, ब्रा० सेतु० ४५।४१)

चाहिये। इसी प्रकरणमें पतिव्रता और विधवा स्त्रियोंके कर्तव्योंका निर्देश किया है, जिसे संक्षेपमें नीचे दिया जाता है।

व्यासजी कहते हैं—जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री होती है, उसका जीवन सफल हो जाता है। पतिव्रता स्त्रियाँ अरुन्धती, सावित्री, अनसूया, शाण्डिली, सती, लक्ष्मी, शतरूपा, सुनीति, संज्ञा और स्वाहाके समान होती हैं। पतिव्रता स्त्री पतिके भोजन कर लेनेपर भोजन करती है। उनके खड़े रहनेपर स्वयं भी खड़ी रहती है। पतिके सो जानेपर सोती है और पहले ही जाग उठती है। स्वामी यदि दूसरे देशमें हो तो वह अपने शरीरका श्रृङ्गार नहीं करती। पतिकी आयु बढ़े, इस उद्देश्यसे वह कभी पतिके नामका उच्चारण नहीं करती। वह दूसरे पुरुषका नाम भी कभी नहीं लेती। जब स्वामी कहते हों कि 'यह कार्य करो' तब वह शीघ्र उत्तर देती है 'जो आज्ञा।' पतिके बुलानेपर वह घरका सारा काम-काज छोड़कर तुरन्त उनके पास दौड़ी जाती है और पूछती है, 'प्राणनाथ! किस कार्यके लिये दासीको बुलाया है, मुझे सेवाका आदेश देकर अपने कृपाप्रसादकी भागिनी बनाइये।' वह घरके दरवाजेपर देरतक नहीं खड़ी रहती। दरवाजेपर सोती-बैठती भी नहीं। जो वस्तु नहीं देनेयोग्य होती है, उसे वह स्वयं किसीको कभी नहीं देती।

पतिव्रता स्त्रीको चाहिये कि स्वामीके लिये पूजनकी सामग्री बिना कहे ही जुटा दे। नित्य-नियमके लिये जल, कुशा, पत्र, पुष्प, अक्षत आदि प्रस्तुत करे और पतिकी प्रतीक्षामें खड़ी होकर जिस समय जो वस्तु आवश्यक हो, वह सब शीघ्र बिना किसी उद्वेगके अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत करे। स्वामीके भोजनसे बचे हुए प्रसादस्वरूप अन्न और फल आदिको अत्यन्त प्रिय मानकर ग्रहण करे। सामाजिक उत्सवोंका दर्शन तो वह दूरसे ही त्याग दे, पतिकी आज्ञाके बिना वह तीर्थयात्रा और विवाहोत्सवोंको देखने आदिके लिये भी न जाय। रजस्वला होनेपर भलीभाँति स्नान कर लेनेके बाद सबसे पहले पतिके ही मुखका दर्शन करे, दूसरे किसीका नहीं, अथवा पतिदेव उपस्थित न हों तो मन-ही-मन उनका ध्यान करके सूर्यदेवका दर्शन करे। कभी अकेली न रहे और नंगी होकर न नहाये। पतिके सम्मुख धृष्टता न करे। स्त्रियोंके लिये यही सबसे उत्तम व्रत, यही महान् धर्म और यही पूजा है कि वह पतिकी आज्ञाका उल्लंघन न करे। वह लोहेके

बर्तनमें भोजन न करे। यदि उसे तीर्थस्नानकी इच्छा हो तो वह प्रतिदिन पतिका चरणोदक पिये। उसके लिये शंकर और भगवान् विष्णुसे भी बढ़कर उसका पति ही है। जो स्त्री पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके व्रत और उपवास आदिका नियम करती है, वह पतिकी आयु हर लेती है और मरनेपर नरकमें जाती है। जो नारी पतिके कोई बात कहनेपर क्रोधपूर्वक उसका उत्तर देती है, वह गाँवमें कुतिया और निर्जन वनमें सियारिन होती है। स्त्रियोंके लिये एकमात्र यही सर्वोत्तम नियम बनाया गया है कि वह प्रतिदिन अपने पतिके चरणोंकी पूजा करके भोजन करे और दृढ़ निश्चयपूर्वक इस नियमका पालन करे। पतिसे ऊँचे आसनपर न बैठे, दूसरेके घर न जाय और कड़वी बातें मुँहसे न निकाले। गुरुजनोंके समीप जोरसे न बोले और न किसीको पुकारे ही। जो खोटी बुद्धिवाली स्त्री पतिका साथ छोड़कर एकान्तमें विचरती है, वह वृक्षके एक खोखलेमें सोनेवाली क्रूर उलूकी होती है। जो दूसरे पुरुषकी ओर कटाक्षसे देखती है, वह ऐंची आँखवाली हो जाती है। जो पतिको छोड़कर अकेली मिठाइयाँ उड़ाती है, वह गाँवकी विष्टाभोजी सूकरी अथवा चमगादड़ होती है। जो हुङ्कार और त्वंकार करके (पतिके प्रति अनादर-सूचक वचन कहकर) अप्रिय भाषण करती है वह गूँगी होती है। जो पतिकी आँख बचाकर किसी दूसरे पुरुषको निहारती है, वह कानी, विकृत मुखवाली अथवा कुरूपा होती है। पतिको बाहरसे आते देख जो तुरन्त उठकर पानी और आसन देती है, पानका बीड़ा खिलाती है, पंखा करती, पाँव दबाती, प्रिय वचन बोलती और पसीना आदि दूर करके प्रियतमको संतुष्ट करती है, उसके द्वारा तीनों लोक तृप्त हो जाते हैं। पिता, भाई और पुत्र—ये सब परिमित यानी नपी-तुली-वस्तुएँ प्रदान करते हैं, परन्तु पति अपनी पत्नीको अपरिमित दान करता है। इसके दानकी कोई सीमा नहीं होती। ऐसे पतिका कौन ऐसी स्त्री है, जो पूजन न करे। पति ही देवता है, पति ही गुरु है और पति ही धर्म, तीर्थ एवं व्रत है; अतः स्त्री सब छोड़कर एकमात्र पतिकी पूजा करे* ।

---

*मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥

जो पतिव्रता श्मशानमें जाते हुए स्वामीके शवके पीछे-पीछे घरसे प्रसन्नतापूर्वक जाती है, उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है। पतिव्रता स्त्रीको देखकर यमदूत भाग जाते हैं। संसारमें वह माता धन्य है, वह पिता धन्य है और वह पति धन्य है, जिनके घरमें पतिव्रता स्त्री शोभा पाती है। केवल पतिव्रता नारीके पुण्यसे उसके पिता, माता और पति—इन तीनों कुलोंकी तीन-तीन पीढ़ियाँ स्वर्गीय सुख भोगती हैं। दुराचारिणी स्त्रियाँ अपना शील भंग करनेके कारण पिता, माता और पति—तीनों कुलोंको नरकमें गिराती हैं और स्वयं भी इहलोक तथा परलोकमें दुःख भोगती हैं। पतिव्रताका चरण जहाँ-जहाँ धरतीका स्पर्श करता है, वह-वह स्थान तीर्थ-भूमिकी भाँति मान्य है। वास्तवमें गृहस्थ उसीको समझना चाहिये, जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री है। जैसे गंगामें स्नान करनेसे शरीर पवित्र होता है, उसी प्रकार पतिव्रताका दर्शन करके सम्पूर्ण गृह पवित्र हो जाता है।

यदि विधवा स्त्री पलंगपर सोती है तो वह पतिको नरकमें गिरा देती है, अतः पतिके सुखकी इच्छासे विधवा स्त्रीको धरतीपर ही शयन करना चाहिये। विधवा स्त्रीको कभी अपने अङ्गोंमें उबटन नहीं लगाना चाहिये तथा उसे कभी सुगंधित वस्तुओंका उपयोग भी नहीं करना चाहिये। उसे पतिबुद्धिसे भगवान् विष्णुका पूजन करना चाहिये। वह विष्णुरूपधारी पति परमेश्वरका ही ध्यान करे। स्नान, दान, तीर्थयात्रा और पुराण-श्रवण बार-बार करती रहे।

इस प्रकार स्त्रियोंके कर्तव्य बतलाये गये हैं। इनपर माता-बहिनोंको विशेष ध्यान देकर इनका आचरण करना चाहिये। इसी ब्राह्मखण्डमें धर्मारण्य-माहात्म्यके वर्णन-प्रसङ्गमें सदाचार, शिष्टाचार और धर्म, नियम आदिका विस्तृत निरूपण किया है एवं संक्षेपसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सम्पूर्ण चरित्र चित्रण किया गया है। पाठकोंको ये प्रसङ्ग ग्रन्थमें पढ़ने चाहिये।

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥
(स्क० पु०, ब्रा० ध० मा० ७। ४७-४८)

द्वादशाक्षर मंत्र, राम-नाम महिमा और ध्यानयोग

ब्राह्मखण्डके चातुर्मास्य-माहात्म्यका वर्णन करते हुए भगवान् शङ्करजीने पार्वतीजीसे राम-नामकी महिमा और ध्यानयोगका निरूपण किया है, जो सभीके लिये बड़ा ही उपयोगी है। उसे संक्षेपमें नीचे दिया जाता है—

भगवान् शिवजी बोले—प्रिये! भगवान् विष्णुके सहस्रनामोंमें जो सारभूत नाम है, मैं उसीका नित्य-निरन्तर जप-चिन्तन करता हूँ। मैं रामनाम जपता हूँ और उसीके अङ्ककी रुद्राक्षकी मालाद्वारा गणना करता हूँ। ओंकारसहित जो द्वादशाक्षर बीज (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) है, उसका जप करनेवाले मनुष्यके लिये वह कोटि-कोटि पापोंका दाह करनेवाला दावानल बन जाता है। इस अक्षरसे प्रकट हुए मन्त्रका जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा आश्रय लेता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। द्वादशाक्षर मन्त्रके माहात्म्यका सहस्रों जिह्वाओंद्वारा भी वर्णन नहीं किया जा सकता। संसारमें इसका जप, ध्यान और स्तवन करनेपर यह महामन्त्र सभी मासोंमें पाप-नाश करनेवाला होता है; किंतु चातुर्मास्यमें तो इसका यह माहात्म्य विशेषरूपसे बढ़ जाता है। इस महामन्त्रके चिन्तनमात्रसे ही मनुष्योंको मनचाही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके संयमपूर्वक जप और ध्यानसे सनातन मोक्ष प्राप्त होता है। शूद्रों और स्त्रियोंके लिये प्रणवरहित जपका विधान है *। शूद्रोंके लिये राम-नाममन्त्र विशेष ध्येय है। यही उन्हें कोटि मन्त्रोंसे अधिक फल देनेवाला होता है। 'राम' इस दो अक्षरके नामका जप पापोंका नाश कर देनेवाला है। मनुष्य चलते, खड़े होते और सोते समय भी श्रीरामनामका कीर्तन करनेसे इहलोकमें सुख पाता है और अन्तमें भगवान् विष्णुका पार्षद होता है। 'राम' यह दो अक्षरोंका मन्त्र कोटि-शत मन्त्रसे भी बढ़कर है। यह सभी वर्णसंकर जातियोंके भी पापका नाशक बताया गया है। चातुर्मास्य प्राप्त होनेपर तो यह राम-मन्त्र अनन्त फल देनेवाला

---

* जपैर्ध्यानैः शमपरैर्मोक्षं यास्यति निश्चितम्।
शूद्राणां चापि नारीणां प्रणवेन विवर्जितः॥
(स्क॰ पु॰, ब्रा॰ चातु॰ २४। ३७)

होता है। इस भूतलपर रामनामसे बढ़कर कोई पाठ नहीं है। जो राम-नामकी शरण ले चुके हैं, उन्हें कभी यमलोककी यातना नहीं भोगनी पड़ती। जो-जो विघ्नकारक दोष हैं, सब राम-नामका उच्चारण करनेमात्रसे नष्ट हो जाते हैं। जो परमात्मा समस्त स्थावर-जंगम प्राणियोंमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे रम रहा है, उसे 'राम' कहते हैं। 'राम' यह मन्त्रराज भय तथा उपाधियोंका नाश करनेवाला है। क्षत्रियोंके लिये यह युद्धमें विजय देनेवाला तथा समस्त कार्यों एवं मनोरथोंको सिद्ध करनेवाला है। राम-नामको ही सम्पूर्ण तीर्थोंका फल कहा गया है। वह ब्राह्मणोंके लिये भी मनोवाञ्छित फल देनेवाला है। 'राम-नाम' इस प्रकार उच्चारण किया जानेवाला यह दो अक्षरोंका मन्त्रराज भूतलपर सब कार्य सिद्ध करनेवाला है। देवता भी राम-नामके गुण गाते हैं। इसलिये पार्वती ! तुम भी सदा राम-नामका जप करो। जो राम-नामका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। राम-नामसे सहस्र नामोंका पुण्य होता है। विशेषतः चातुर्मास्यमें उसका पुण्य दसगुना बढ़ जाता है। राम-नामके उच्चारणसे हीन जातिमें उत्पन्न लोगोंका भी महान् पाप भस्म हो जाता है। भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण जगत्‌को अपने तेजसे व्याप्त करके स्थित हैं और सब मनुष्योंमें अन्तरात्मारूपसे रहकर उनके पूर्वजन्मोपार्जित स्थूल एवं सूक्ष्म पापोंको क्षणभरमें भस्म करके उन्हें पवित्र कर देते हैं।

ध्यानयोगसे समस्त पापोंका नाश होता है। जप और ध्यान ही योगका स्वरूप है। शब्द-ब्रह्म (ॐकार एवं वेद) से प्रकट हुआ द्वादशाक्षर मन्त्र वेदके समान है। ध्यानसे मनुष्य सब कुछ पाता है। ध्यानसे वह शुद्धताको प्राप्त होता है। ध्यानसे परब्रह्मका बोध होता है तथा सगुण-स्वरूपमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रतारूप योग भी ध्यानसे ही सम्भव होता है *। ध्यानयोग दो प्रकारका होता है— एक सालम्ब (सगुण) का और दूसरा निरालम्ब (निर्गुण) -का। सगुण-साकार विग्रह नारायणका दर्शन सालम्ब ध्यान है। दूसरा जो निरालम्ब ध्यान है, वह ज्ञानयोगके द्वारा बताया

---

* ध्यानेन सर्वमाप्नोति ध्यानेनाप्नोति शुद्धताम्॥
ध्यानेन परमं ब्रह्म मूर्तौ योगस्तु ध्यानजः।

(स्क० ब्रा०, चातु० ३०। २८-२९)

गया है। रूपरहित, अप्रमेय तथा सर्वस्वरूप जो सनातन तेज है, जो सदा उदयशील एवं पूर्णतम है, जो निष्कल एवं निरञ्जनमय है, आकाशके समान सर्वव्यापक है, सुखस्वरूप एवं तुरीयातीत है, जिसकी कहीं उपमा नहीं है, वही परमेश्वरका निराकार स्वरूप ध्यानयोगके द्वारा चिन्तन करने योग्य है। वह द्वन्द्वोंसे राहत एवं साक्षीमात्र है। शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है। अपने तेजसे उपमारहित और अगाध है। उसीको तुम अङ्गीकार करो।

मानसतीर्थ, काशी-माहात्म्य एवं गङ्गाकी महिमा

अव काशीखण्डकी कुछ सार बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है। इसमें काशीकी महिमाका विस्तृत वर्णन है। काशीके अनेक तीर्थोंका माहात्म्य तथा काशीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए मानसतीर्थोंका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। मुनिवर अगस्त्यजीने अपनी धर्मपत्नी लोपामुद्रासे कहा—वरारोहे ! सुनो, तत्त्वका विचार करनेवाले ज्ञानी मुनियोंने बार-बार यह निर्णय किया है कि मुक्तिके अनेक स्थान हैं। पहला तीर्थराज प्रयाग है, जो सर्वत्र विख्यात है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला है। इसके सिवा नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, गङ्गाद्वार (हरिद्वार), अवन्ती, अयोध्या, मथुरा , द्वारका, अमरावती, सरस्वती और समुद्रका संगम, गङ्गासागर-संगम, काञ्चीपुरी, त्र्यम्बक-तीर्थ, सप्तगोदावरी, कालंजरतीर्थ, प्रभासक्षेत्र, बदरिकाश्रम, महालय, ॐकारक्षेत्र (अमरकण्टक), पुरुषोत्तमक्षेत्र (जगन्नाथपुरी), गोकर्णतीर्थ, भृगुकच्छ, भृगुतुङ्ग, पुष्कर, धारातीर्थ आदि बहुत-से तीर्थ मुक्तिदायक हैं।

मानस-तीर्थ

सत्य, दया आदि जो मानसिक तीर्थ हैं, वे भी मोक्ष देनेवाले हैं। सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियोंको वशमें रखना भी तीर्थ है, सब प्राणियोंपर दया करना तीर्थ है और सरलता भी तीर्थ है। दान, दम (मनका संयम) तथा संतोष—ये भी तीर्थ कहे गये हैं। ब्रह्मचर्यका पालन उत्तम तीर्थ है। ज्ञान और धैर्य तीर्थ हैं। तपस्याको भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थोंमें सबसे बड़ा तीर्थ है— अन्तःकरणकी

आत्यन्तिक शुद्धि। पानीमें शरीरको डुबो लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिसने भी दम तीर्थमें स्नान किया है, मन एवं इन्द्रियोंको संयममें रखा है, उसीने वास्तविक स्नान किया है। जिसने मनकी मैल धो डाली है, वही शुद्ध है। विषयोंके प्रति अत्यन्त राग होना मानसिक मल कहलाता है और उन्हीं विषयोंमें विराग होना निर्मलता कही गयी है। यदि अपने भीतरका मन दूषित है तो मनुष्य तीर्थ-स्नानसे शुद्ध नहीं होता है। जिसने अपने इन्द्रियसमुदायको वशमें कर लिया है, वह मनुष्य जहाँ निवास करता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्कर आदि तीर्थ हैं। ध्यानसे पवित्र तथा ज्ञानरूपी जलसे भरे हुए राग-द्वेषमय मलको दूर करनेवाले मानस-तीर्थोंमें जो पुरुष स्नान करता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है।*

अब पृथ्वीपर जो तीर्थ हैं, उनकी पवित्रताका क्या हेतु है, यह सुनो। पृथ्वीके कुछ भाग भी अत्यन्त पुण्यमय हैं। पृथ्वीके अद्भुत प्रभाव, जलके विलक्षण तेज तथा मुनियोंके निवासस्थान होनेसे तीर्थ पुण्यस्वरूप माने जाते हैं। अतः जो प्रतिदिन भूमण्डलके तीर्थों एवं मानस-तीर्थोंमें भी स्नान करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है। जिसके हाथ, पैर, मन, विद्या, तप और कीर्ति सभी संयममें हैं, वह तीर्थके पूर्ण फलका भागी होता है। जो प्रतिग्रह नहीं लेता और जिस किसी भी वस्तुसे संतुष्ट रहता है तथा जिसमें अहङ्कारका सर्वथा अभाव है, वह तीर्थफलका भागी होता है। अश्रद्धालु, पाप करनेके स्वभाववाला, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्कका सहारा लेनेवाला—ये पाँच प्रकारके मनुष्य-तीर्थसेवनका फल नहीं पाते। काशी, काञ्ची, माया (लक्ष्मणझूलेसे कनखलतक), अयोध्या, द्वारका, मथुरा और अवन्ती—ये सात पुरियाँ मोक्ष देनेवाली हैं † केदारतीर्थका महत्त्व उससे भी

---

* ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥
(स्क०, का०, पू० ६। ४१)

† काशी काञ्ची च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि।
मथुरावन्तिका चैताः सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदाः॥
(स्क०, का० पू० ६। ६८)

अधिक है। श्रीशैल और केदारसे भी उत्तम मोक्षदायक तीर्थ प्रयाग है तथा तीर्थश्रेष्ठ प्रयागसे भी बढ़कर अविमुक्तक्षेत्र (काशी) में जैसा मोक्ष मिलता है, वैसा कहीं नहीं।

काशी-माहात्म्य

श्रेष्ठ तीर्थ काशी सम्पूर्ण भुवनोंमें सबसे उत्तम है। काशीमें देहावसान होनेसे अनायास मुक्ति होती है। अविमुक्तक्षेत्र ब्रह्माण्डके भीतर रहकर भी ब्रह्माण्डमें नहीं है। इसकी लम्बाई पाँच कोस है। काशीमें देहत्याग करनेवालोंका नियंत्रण स्वयं भगवान् काशीनाथ करते हैं। जिन्होंने वहाँ रहकर भी पाप किये हैं, उनको दण्ड देनेवाले कालभैरव हैं। वहाँ कभी किसीको पाप नहीं करना चाहिये, क्योंकि वहाँ पाप करनेवालोंको दारुण रुद्रयातना भोगनी पड़ती है, जो नरकसे भी अधिक दुःसह है। जो मनुष्य दूसरेकी निन्दा और परस्त्रीकी अभिलाषा करते हैं, उन्हें काशीका सेवन नहीं करना चाहिये। जो वहाँ सदा प्रतिग्रह लेकर धनसंग्रह करनेकी अभिलाषा रखते हैं, अथवा कपटपूर्वक दूसरोंका धन हड़प लेना चाहते हैं, ऐसे लोगोंको भी काशीका सेवन नहीं करना चाहिये। काशीमें रहनेवाले पुरुषको दूसरोंको पीड़ा देनेवाला कर्म सदाके लिये त्याग देना चाहिये। यदि यही करना हो तो दुष्ट चित्तवाले पुरुषोंका काशीमें निवास करना किस कामका ?

यहाँ काशीकी महिमाके प्रसङ्गसे सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि, वायु, कुबेर, ध्रुव आदि विभिन्न लोकोंका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है तथा श्रीगङ्गाजीकी महिमा, स्तुति एवं गङ्गासहस्रनामस्तोत्रका वर्णन है। यहाँ तो संक्षेपमें केवल गङ्गाजीकी महिमाका उल्लेखमात्र किया जाता है।

गङ्गाजीकी महिमा

श्रीमहादेवजीने कहा—गङ्गा शुद्ध विद्यास्वरूपा, इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूप तीन शक्तियोंवाली, दयामयी, आनन्दामृतरूपा तथा शुद्ध धर्मस्वरूपा हैं। जगद्धात्री परब्रह्मस्वरूपिणी गङ्गाको मैं अखिल विश्वकी रक्षा करनेके लिये लीलापूर्वक अपने मस्तकपर धारण करता हूँ। जो गङ्गाजीका सेवन करता है, उसने सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया, सब यज्ञोंकी दीक्षा ले ली और सम्पूर्ण व्रतोंका अनुष्ठान पूरा कर दिया। अज्ञान, राग और लोभादिसे मोहित चित्तवाले पुरुषोंकी धर्म और गङ्गामें विशेष

श्रद्धा नहीं होती। जो चलते, खड़े होते, जप और ध्यान करते, खाते-पीते, जागते, सोते तथा बात करते समय भी सदा गङ्गाजीका स्मरण करता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। जैसे विना इच्छाके भी स्पर्श करनेपर आग जला ही देती है, उसी प्रकार अनिच्छासे भी अपने जलमें स्नान करनेपर गङ्गा मनुष्यके पापोंको भस्म कर देती हैं * । जो गङ्गास्नानके लिये उद्यत होकर चलता है और मार्गमें ही मर जाता है, वह भी निःसंदेह गङ्गा-स्नानका फल पाता है। जो लोग खोटी बुद्धिवाले दुराचारी, कोरा तर्क करनेवाले और अधिक संदेह रखनेवाले मोहित मनुष्य हैं, वे गङ्गाको अन्य साधारण नदियोंके समान ही देखते हैं। क्रोधसे तपका, कामसे बुद्धिका, अन्यायसे लक्ष्मीका, अभिमानसे विद्याका तथा पाखण्ड, कुटिलता और छल-कपटसे धर्मका नाश होता है। उसी प्रकार गङ्गाजीके दर्शनमात्रसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे मन्त्रोंमें ॐकार, धर्मोंमें अहिंसा और कमनीय वस्तुओंमें लक्ष्मी श्रेष्ठ हैं तथा जिस प्रकार विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और स्त्रियोंमें पार्वती देवी उत्तम हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थोंमें गङ्गातीर्थ विशेष माना गया है। अनेक रूपवाले पितर सदा यह गाथा गाते हैं कि 'क्या हमारे कुलमें भी कोई गङ्गा नहानेवाला होगा, जो विधि और श्रद्धाके साथ गङ्गास्नान कर देवताओं तथा ऋषियोंका भलीभाँति तर्पण करके दीनों, अनाथों और दुखियोंको तृप्त करते हुए हमारे निमित्त जलाञ्जलि देगा ?' गङ्गास्नान करनेके लिये तिथि, नक्षत्र और पूर्व आदि दिशाका विचार नहीं करना चाहिये; क्योंकि किसी प्रकार भी गङ्गास्नान करनेमात्रसे समस्त सञ्चित पापका नाश हो जाता है।

महाकालक्षेत्रकी महिमा

अब आवन्त्य-खण्डकी कुछ सार बातोंका उल्लेख किया जाता है। उसमें पहले अवन्ती (महाकाल) क्षेत्रकी महिमा बतलाते हुए श्रीसनत्कुमारजीने

---

* अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहनो हि यथा दहेत्।
अनिच्छयापि संस्नाता गङ्गा पापं तथा दहेत्॥
(स्क॰ पु॰, का॰ पू॰ २७। ४९)

श्रीव्यासजीके प्रति कहा है—'यहाँ सब पातक क्षीण हो जाता है, इसलियें इसे 'क्षेत्र' कहा जाता है। यह मातृकाओंका निवासस्थान होनेके कारण 'पीठ' कहलाता है। इस भूमिमें मरे हुए जीव फिर जन्म नहीं लेते, इसलिये इसे ऊसर नाम दिया गया है। अतः यह परमात्मा शंकरका गुह्य, प्रिय एवं नित्य क्षेत्र है और इसीलिये सम्पूर्ण प्राणियोंको बहुत प्रिय है। भगवान् शिवके इस अतिशय प्रिय क्षेत्रको महाकालवन और विमुक्तिक्षेत्र भी कहते हैं।'

'जो ब्राह्मण ममता, अहङ्कार, आसक्ति तथा परिग्रहसे रहित हैं, बन्धुजनोंके प्रति अनासक्त रहकर मिट्टी, पत्थर और सुवर्णको समान समझते हुए महाकालवनमें निवास करते हैं, मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले त्रिविध कर्मोंद्वारा सदा सब प्राणियोंको अभयदान देते हैं, सांख्य और योगकी विधिको जानते हैं, धर्मके स्वरूपको समझते हैं और संशयरहित हो नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान् शंकरका यजन करते हैं, यहाँ मृत्यु होनेके पश्चात् वे सभी अत्यन्त दुर्लभ एवं अक्षय ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त होते हैं।'

इसके वाद सनत्कुमारजीने वहाँके अनेक तीर्थोंका माहात्म्य वर्णन किया है। इसी प्रकरणमें ब्रह्माजीने देवताओंको विष्णु-सहस्रनामस्तोत्रका उपदेश दिया है, जो कि संक्षिप्त स्कन्दपुराणके ७३४वेंसे ७४१वें तकके पृष्ठोंमें अर्थसहित प्रकाशित किया गया है। श्रीविष्णुभक्तोंके लिये यह बहुत ही उपादेय है। इसी खण्डके पृष्ठ ७८५से ७९२ तक यमलोकके मार्गके कष्टोंका तथा अट्ठाईस नरक तथा उनमें भी पाँच-पाँच प्रधान विभागोंका एवं नरक-यातना तथा नरकसे उद्धार होनेके उपायोंका विस्तृतरूपसे वर्णन किया गया है। यह प्रसङ्ग भी देखने योग्य है।

अतिथि-सत्कारका माहात्म्य

ऋषि वोले— महाभाग सूतजी! आप हमें अतिथि-सत्कारका उत्तम माहात्म्य विस्तारपूर्वक वताइये।

सूतजीने कहा—मुनीश्वरो! गृहस्थोंके लिये अतिथि-सत्कारसे बढ़कर दूसरा कोई महान् धर्म नहीं है। अतिथिसे महान् कोई देवता नहीं है। अतिथिके उल्लङ्घनसे बड़ा भारी पाप होता है। जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता

है, उसे वह अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है। जो अतिथिका आदर नहीं करता, उसके सौ वर्षोंके सत्य, तप, स्वाध्याय, दान और यज्ञ आदि सभी सत्कर्म नष्ट हो जाते हैं। अतिथिको संतुष्ट करनेसे गृहस्थके ऊपर सब देवता संतुष्ट रहते हैं और अतिथिके विमुख होनेपर सम्पूर्ण देवता भी विमुख हो जाते हैं। अतः गृहस्थको चाहिये कि वह सदा अतिथिको संतुष्ट करे। यदि वह अपने लिये पुण्य चाहता है तो आत्मदान करके भी अतिथिको संतुष्ट रखे। द्विजवरो ! तीन प्रकारके अतिथि बताये गये हैं। जो श्राद्ध-कालमें स्वतः आ जाता है, वह 'श्राद्धीय अतिथि' कहा जाता है। जो दूरका रास्ता तै करके थका-माँदा बलिवैश्वदेव-कर्मके समय आता है, उसको 'वैश्वदेवीय अतिथि' जानना चाहिये। उसके गोत्र, चरण (शाखा), स्थान और वेद आदिके विषयमें न पूछे। केवल यज्ञोपवीत देखकर भक्तिपूर्वक भोजन करा दे। तीसरा अतिथि 'सूर्योद' है, जो दिनमें या रातमें भोजनके बाद घरपर आता है। उसके लिये भी गृहस्थको यथाशक्ति दान करना चाहिये। तृण, भूमि, जल और चौथा मीठा वचन—ये सब वस्तुएँ सत्पुरुषोंके घरमें कभी समाप्त नहीं होतीं। उसे आसन देनेसे ब्रह्माजी प्रसन्न होते हैं, अर्घ्यदान करने(हाथ आदि धुलाने) से शिवजी संतुष्ट होते हैं, पाद्य देने (पैर धुलाने) से इन्द्रादि देवता प्रसन्न रहते हैं तथा उसे भोजन देनेसे भगवान् विष्णु संतुष्ट होते हैं। अतिथि सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप होता है। अतः सदा उसका पूजन करना और विशेषतः उसे भोजन देना चाहिये।

गृहस्थियोंके लिये यह बहुत ही उपयोगी है। अतः इसको आदर्श मानकर कल्याणकारी गृहस्थियोंको इसके अनुसार अनुष्ठान करना चाहिये।

इस खण्डमें हाटकेश्वरक्षेत्रके अनेक तीर्थोंका वर्णन आया है। फिर आगे जाकर आनर्तनरेश और भर्तृयज्ञ ऋषिके संवादका उल्लेख है, जिसमें श्राद्धका बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है। पाठकोंको चाहिये कि वे इस प्रसङ्गको संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्कके पृ० ९२७से ९३५ तक देखकर उससे लाभ उठावें।

प्रभासक्षेत्रकी महिमा

अब प्रभास-खण्डका सार दिखलाया जाता है। इसमें प्रभासक्षेत्रकी महिमाका

वर्णन करते हुए भगवान् शिवजी पार्वतीसे कहते हैं—'देवि! सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं। उन सबमें श्रेष्ठ तीर्थ प्रभास है। जो क्रोध, लोभ और इन्द्रियोंको जीत चुके हैं, ऐसे दम्भ और मात्सर्यरहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी क्यों न हों, यदि सद्भावसे भावित हो उत्तम व्रतका पालन करते हुए तीर्थका सेवन करना चाहते हैं तो उनके हितके लिये मैं त्रिभुवन-विख्यात सर्वोत्तम प्रभासक्षेत्रका ही नाम लेता हूँ। महादेवि! उस तीर्थमें मैं निरन्तर स्थित रहता हूँ। प्रभास-क्षेत्रमें जो मेरा स्वरूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहा गया है। मैं वहाँ सोमनाथ नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

'देवि! समस्त क्षेत्रोंमें प्रभास मुझे अधिक प्रिय है। प्रभासमें उत्तम सिद्धि और परम गति प्राप्त होती है। उसके पूर्वभागमें अन्धकारका नाश करनेवाले स्वामी सूर्यनारायणजी हैं। पश्चिममें माधवजीका स्थान है। दक्षिणमें समुद्र तथा उत्तरमें भवानी हैं। इस प्रकारकी सीमासे युक्त वह क्षेत्र बारह योजनका है। इसीका नाम प्रभासक्षेत्र है, जो सब पातकोंका नाश करनेवाला है।'

'देवि! जो निर्भय, निर्मल, नित्य, निरपेक्ष, निराश्रय, निरञ्जन, निष्प्रपञ्च, निःसङ्ग तथा निरुपद्रव-तत्त्व है, जो मोक्षदायक, अज्ञेय, अनुपम, अनामय, नित्य, कारणरूप, दिव्य, निर्लेप, विश्वतोमुख, शिव, सर्वात्मक, सूक्ष्म, अनादि, दैवतरूप, आत्मस्वरूपसे जानने योग्य, चित्तके चिन्तनसे परे, गमनागमनसे मुक्त, बाहर-भीतर व्याप्त, केवल (अद्वितीय), निष्कल, निर्मल एवं ज्ञानका प्रकाशक है, वही प्रभासतीर्थमें प्रणवमय सोमेश्वर लिङ्गके रूपमें स्थित है—यह जानो।'

इस प्रकार सोमनाथके दिव्य स्वरूपका दिग्दर्शन कराकर सोमनाथकी महिमा, सोमनाथ-मन्दिरका निर्माण, सोमनाथकी यात्रा-विधि और दर्शन-पूजनकी महिमा एवं वहाँके तीर्थोंका विस्तृत वर्णन किया गया है।

नृसिंहावतार एवं प्रह्लादकी कथा

यहाँ कहे हुए प्रह्लादके पवित्र चरित्रसे हमें शिक्षा लेनी चाहिये। भक्त प्रह्लादकी धीरता, वीरता, गम्भीरता, साहस, आस्तिकता, श्रद्धा, भक्ति और दृढ़ भगवद्बुद्धि आदि महान् गुण सभीके लिये अनुकरणीय हैं।

नारदजीने वामनजीसे कहा—'प्रभो! अब आपके अत्यन्त भयंकर नृसिंहावतारकी कथा कहता हूँ। पूर्वकालमें दितिके पुत्र हिरण्यकशिपुके यहाँ भक्त प्रह्लादका जन्म हुआ था। वे सदा भगवान्‌की भक्ति करते थे। प्रह्लादको जब दूसरी बातें पढ़ायी जाती थीं तब भी वे हरिनामका ही कीर्तन करते थे।' प्रह्लादने कहा—'जो चार भुजाओंसे सुशोभित, शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले पीताम्बरधारी, कौस्तुभमणिसे उद्भासित तथा सम्पूर्ण जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं—जो स्मरण करनेमात्रसे ही मोक्ष देते हैं—उन भगवान् विष्णुका मैं सदा स्मरण करता हूँ।' यह सुनकर हिरण्यकशिपुने कुपित हो दूसरे दैत्योंसे कहा—'मेरे इस दुष्ट पुत्रको तुमलोग हाथी, सर्प, जल और अग्निद्वारा मार डालो।' प्रह्लाद बोले, 'दैत्यराज! हाथीमें भी विष्णु हैं, सर्पमें भी विष्णु हैं, जल तथा स्थलमें भी विष्णु हैं, तुममें और मुझमें भी वे ही स्थित हैं। विष्णुके बिना वह दैत्योंका समुदाय भी नहीं है।' यह सब सुनकर हिरण्यकशिपु सदा प्रह्लादजीको मारनेकी चेष्टा करता था तो भी उनकी मृत्यु नहीं होती थी। यह देख हिरण्यकशिपुकी छाती क्रोधाग्निसे जलती रहती थी। एक दिन गुरुजीने छड़ीसे मारकर प्रह्लादको पुनः पढ़ाना आरम्भ किया। प्रह्लाद गुरुजीसे बोले—'जिन सर्वव्यापी हरिने चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको उत्पन्न किया, बढ़ाया और सबका फिर शमन किया है, उन्हींकी मैं स्तुति करता हूँ, वे ही श्रीविष्णु मुझपर प्रसन्न हों। ब्रह्माजी भी विष्णु हैं, शिवजी भी विष्णु ही हैं, इन्द्र, वायु, यम और अग्नि भी विष्णु हैं। प्रकृति और चौबीस तत्त्व एवं उनके साक्षी पचीसवें पुरुषमें भी विष्णु ही हैं। वे ही पिताजीके, गुरुजीके तथा मेरे शरीरमें भी स्थित हैं। यह जाननेपर भी कोई मरणधर्मा प्राणी श्रीहरिके सिवा दूसरे नीच मनुष्योंकी स्तुति कैसे कर सकता है?' यह सुनकर गुरुजी बोले—'शिष्य! यह तो बता, मनुष्योंमें नीच कौन है?' प्रह्लादजीने कहा—'पुत्र-जन्म आदिके समय, मृत्युके समय तथा शुभ अवसरोंमें जिसके मुखसे 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण नहीं होता, वही मनुष्योंमें अधम है। भय, राजकुलसे समागम, युद्ध, व्याधि, स्त्रीसङ्ग, विपत्ति, यात्रा तथा मृत्युके समय जो इस पृथ्वीपर रहते हुए श्रीहरिको भूलकर जगत्‌का स्मरण करता है, वह मूर्ख मानव मनुष्योंमें अधम है। श्रीहरिके बिना मेरे न तो माता है, न पिता है, न स्वजन है, न सेवक है—मेरा कोई नहीं है।

आपको जो उचित जान पड़े सो करें। प्रकृति मेरी माता है, बुद्धि मेरी बहिन है, जिसको 'मैं' कहा जाता है, वह अहंकार है। पञ्चतन्मात्राओंके समुदाय मेरे सहोदर भाई हैं, जो मेरे साथ ही जाते हैं। इनको उत्पन्न करनेवाला जो पचीसवाँ पुरुष है, वही मेरा पिता है। वे ही परमात्मा श्रीहरि अन्तर्यामी इस शरीरमें स्थित हैं। यदि उनका सम्मान किया जाय तो वे हृदयमें दर्शन देते हैं। आपलोगोंके लिये राज्य ही अभीष्ट वस्तु है, परंतु जहाँ भगवान् विष्णुका पूजन (आदर) नहीं होता, वह राज्य मुझे तिनकेके समान प्रतीत होता है। ब्रह्मा, रुद्र, अनल आदिके रूपमें जिनका प्रत्यक्ष दर्शन होता है, जो बिना किसी आधारके ही सर्वत्र विचरते हैं, वे ही भगवान् विष्णु हैं। ऐसा विचार करके मुझे अन्य लोगोंसे मृत्युका भय नहीं है।' प्रह्लादकी यह बात पूरी होते ही उनके पिताने उन्हें लात मारकर कहा—'कहाँ है तेरा हरि! पहले मैं उसीको मारता हूँ। उसके बाद हरिनामकी रट लगानेवाले तुझ दुष्टका भी वध कर डालूँगा।'

प्रह्लादने कहा—'पृथ्वी आदि पाँचों भूत भगवान् विष्णुके ही स्वरूप हैं। वे ही स्थल और जलमें हैं। अधिक क्या कहा जाय, यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है। तृण, काष्ठ, गृह, क्षेत्र, द्रव्य और देह सबमें श्रीहरि स्थित हैं। वे ज्ञानयोगसे जाने जाते हैं। इन चर्मचक्षुओंसे नहीं देखे जाते। भगवान् विष्णु सब सुनते हैं, सब जानते हैं और सब कुछ करते हैं।' प्रह्लादके यों कहनेपर हिरण्यकशिपु सहसा सिंहासन छोड़कर खड़ा हो गया। उसने दृढ़तापूर्वक कमर कस ली और म्यानसे चमचमाती तलवार खींचकर प्रह्लादको थप्पड़ मारते हुए कहा—'अब तू अपने विष्णुका स्मरण कर ले। मैं अभी उज्ज्वल कुण्डलोंसे सुशोभित तेरा मस्तक पृथ्वीपर गिरा दूँगा।' प्रह्लादजी भय छोड़कर पद्मासन लगा और कंधा नीचे करके साँसको ऊपर रोककर हृदयमें श्रीहरिका ध्यान करते हुए मरनेके लिये तैयार हो गये। प्रभो! उस समय एक आश्चर्यकी बात हुई। आकाशसे फूलोंकी एक माला नीचे आयी और स्वयं ही प्रह्लादजीके गलेमें पड़ गयी। उसी समय खम्भेसे बड़ा भयानक सिंहनाद हुआ। उस शब्दसे मूर्च्छित होकर सब दैत्य पृथ्वीपर गिर पड़े। हिरण्यकशिपुके हाथसे तलवार और ढाल भी गिर गयी। वह सोचने लगा—यह क्या है! जब सिर ऊँचा करके वह देखने लगा, तब भगवान् विष्णुपर उसकी दृष्टि पड़ी। नीचेसे

मनुष्यकी आकृति और ऊपरसे भयंकर सिंहका स्वरूप। दाढ़ोंके कारण विकराल मुख था, मानो वे आकाशको निगल जायँगे। शरीर तेजसे प्रज्वलित हो रहा था। मुखसे भयानक कट-कटकी ध्वनि हो रही थी, मानो गरजता हुआ बादल मूर्तिमान् हो गया हो। गर्दनके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए थे। देवता और दैत्य सबके लिये उनकी ओर देखना कठिन था। उन्हें देखकर वह दैत्य पृथ्वीपर गिर पड़ा। नृसिंहजीने उसके बाल पकड़कर आकाशमें सौ बार उसे घुमाया और पृथ्वीपर पटक दिया, परंतु ब्रह्माजीके वरके प्रभावसे उस दैत्यकी मृत्यु नहीं हुई। तब भगवान्‌ने हिरण्यकशिपुको घुटनोंपर सुलाकर उसकी छाती चीर डाली। उस समय देवता जय-जयकार करने लगे। चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें शान्ति छा गयी।

द्वारका-माहात्म्य

अब प्रभासखण्डके अन्तर्गत द्वारका-माहात्म्यकी कुछ सार बातें लिखी जाती हैं।

एक बार कुछ तपस्वी महर्षिगण दैत्यराज बलि और प्रह्लादजीके पास गये। उन्होंने उनका यथावत् पूजन किया। तत्पश्चात् कहा—'महात्माओ! मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ?'

महर्षि बोले—भगवान्‌के प्रिय भक्त प्रह्लादजी! इस युगमें अधर्मने सनातनधर्मपर विजय पायी है। झूठने सत्यको तथा शूद्रोंने ब्राह्मणोंको परास्त किया है। राजाका रूप धारण करके आये हुए म्लेच्छ ब्राह्मणोंको सता रहे हैं। वर्णाश्रमधर्मका ह्रास हो गया है। वेदोंका मार्ग लुप्त होता जा रहा है। ऐसे समयमें भगवान् विष्णु कहाँ हैं? जहाँ ज्ञान, ध्यान और इन्द्रियनिग्रहके बिना भी भगवान्‌की प्राप्ति हो, उस गूढ़ स्थानका पता हमें बतलाइये।

श्रीप्रह्लादजी बोले—महर्षियो! आप सम्पूर्ण देवताओं, दैत्यों, दानवों तथा राक्षसोंके भी पूजनीय हैं। आप पूजनीय महापुरुषोंकी आज्ञा तथा भगवान् विष्णुके प्रसादसे मैं भगवान्‌के स्थानका परिचय देता हूँ। पश्चिम समुद्रके तटपर जो कुशस्थली पुरी है, जिसका निर्माण पहले राजा कुशके द्वारा हुआ है, जहाँ गोमती नदी बहती है और समुद्रसे मिली है, वही द्वारावतीपुरी कहलाती है। उसे आनर्त

भी कहते हैं। उसीमें सोलह कलाओं तथा बारह मूर्तियोंसे युक्त विश्वात्मा भगवान् विष्णु निवास करते हैं, जो भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। वही परम धाम है, वही परम पद है। वह द्वारकापुरी धन्य है, जहाँ शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले चतुर्भुज श्रीकृष्ण विद्यमान हैं। वहाँ जानेसे कलिकालके मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। जहाँ गोमती नदी बहती है, जहाँ भगवान् विष्णुकी त्रिविक्रम मूर्ति है, उस द्वारकापुरीमें जाकर चक्रतीर्थमें स्नान करनेवाले मनुष्य मोक्ष प्राप्त करेंगे। जब भगवान् श्रीकृष्ण प्रभासक्षेत्रमें परमधामको पधारे, तब कलासहित उस त्रिविक्रम मूर्तिमें स्थित हुए। यदि आपको श्रीकृष्णसे मिलनेकी इच्छा हो तो शीघ्र वहीं जाइये। जब मनुष्य द्वारका जानेका विचार मनमें लाता है, उसी समय उसके पितर नरकसे मुक्त हो हर्षके गीत गाने लगते हैं। मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णके मार्गमें जितने पग आगे चलता है; उसे पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। जो मानव श्रीकृष्णपुरीकी यात्राके लिये दूसरोंको प्रेरणा देता है, वह निःसंदेह विष्णुधाममें जाता है।

अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णद्वारा भोजराज कंसके मारे जानेपर जब उग्रसेन मथुरापुरीके राजा हुए, उस समय गोकुलप्रिय श्रीकृष्णने अपने सुहृद् गोपों तथा गोपीजनोंका प्रिय करनेके लिये उद्धवको गोकुलमें भेजा। उद्धवजी गोकुलको नमस्कार करके उन्हींके समान वेष-भूषा तथा वस्त्रालङ्कार धारण करके नन्दगाँवकी ओर चले। संध्याकालके समय श्रीकृष्णके प्रिय सखा उद्धवजीको अपने घर आया देख पुत्रवत्सला माता यशोदाने अच्छे-अच्छे वस्त्र और आभूषण देकर उनका सत्कार किया। जब उद्धवजी भोजन करके विश्राम कर चुके, तब पुत्रस्नेहमयी यशोदा तथा नन्दबाबाने अपने आँखोंमें आँसू भरकर श्रीकृष्णका कुशल-समाचार पूछा—'उद्धवजी! बताओ तो सही हमारे दोनों पुत्र श्रीकृष्ण-बलराम कुशलसे तो हैं न? क्या श्रीकृष्ण अपने साथी ग्वाल-बालोंको कभी याद करते हैं? क्या मथुरानाथ गोविन्द कभी गोकुलमें भी पधारेंगे? क्या हमारा लाला कन्हैया इस गोकुलका शोक-समुद्रसे उद्धार करेगा?' ऐसा कहकर पुत्र-स्नेहके वशीभूत यशोदा मैया और नन्दबाबा दोनों दीन भावसे फूट-फूटकर रोने लगे। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही थी। उन्हें अति व्याकुल देखकर उद्धवजीने श्रीकृष्णके स्नेहयुक्त

मधुर संदेश सुनाकर उन दोनोंको जीवनदान दिया। उद्धवजी बोले—'श्यामसुन्दर श्रीकृष्णने अपने बड़े भैया बलरामजीके साथ आप दोनोंको नमस्कार कहलाया है, कुशल-मङ्गल पूछा है और वे दोनों भाई भी कुशलसे हैं। जगदीश्वर श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ शीघ्र ही यहाँ आयेंगे और आपलोगोंका हित-साधन करेंगे।'

श्रीकृष्णकी-सी वेष-भूषा धारण किये कौन आये हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा करती हुई समस्त व्रजसुन्दरियाँ परस्पर मिलकर एकान्त स्थानमें गयीं और शोकसे दुर्बल हो उद्धवजीको वहीं बुलाकर श्रीकृष्णका संदेश पूछने लगीं—'तुम कहाँसे और किसलिये यहाँ आये हो ?' इतना कहते-कहते वे शोकसे विह्वल एवं मूर्च्छित हो गयीं और उद्धवजीकी ओर देखती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ीं। श्रीकृष्ण-प्रेम-परवश गोपीजनोंकी यह अवस्था देखकर उद्धवजीने उन्हें श्रवणसुखद वचनोंद्वारा आश्वासन देते हुए कहा—'गोपियो ! भगवान् श्रीकृष्णकी भी यही दशा है। वे दिन-रात तुम्हारी ही याद करके निरन्तर दुखी रहते हैं।'

उद्धवजीकी यह बात सुनकर विभिन्न गोपाङ्गनाओंने प्रणयकोपसे विरहभरी बहुत-सी बातें कहीं और फिर वे व्रजयुवतियाँ विलाप करने लगीं। वे श्रीकृष्णकी एक-एक लीलाको याद करके फूट-फूटकर रोने लगीं। उनका वह रोना सुनकर भक्ति और स्नेहमें डूबे हुए उद्धवजीको बड़ा विस्मय हुआ और वे उन गोपियोंकी सराहना करने लगे—'अहो ! ब्रह्मा, महादेवजी, देवता तथा महर्षि भी जिस भावतक नहीं पहुँच सकते, वहाँ इन गोपियोंकी पहुँच हो चुकी है। व्रजकी ये समस्त सुन्दरियाँ धन्य हैं। इन सबका जन्म, जीवन तथा धन सफल हो गया; क्योंकि भगवान् श्यामसुन्दरमें इनकी भक्ति अविचल है।' गोपियाँ बोलीं—'उद्धवजी ! आप हमें गोविन्दका दर्शन करा दें। प्यारे श्यामसुन्दरसे मिला दें। जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं, वहीं हमको भी ले चलें। गोपाङ्गनाओंकी यह बात और विलाप सुनकर उद्धवजी स्नेहसे विह्वल हो गये और 'बहुत अच्छा' कहकर उन्होंने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। तदनन्तर श्रीकृष्ण-दर्शनके लिये लालायित रहनेवाली समस्त व्रजाङ्गनाएँ बड़ी प्रसन्नताके साथ उद्धवजीके पीछे-पीछे

चलीं। वे मार्गमें उनकी बाललीलाके प्रिय गीत गाती जा रही थीं। द्वारकामें जाने और लक्ष्मीपतिका चिन्तन करनेसे गोपियाँ समस्त पापोंसे मुक्त हो गयीं। उनके सारे बन्धन टूट गये। धीरे-धीरे वे मयसरोवरके तटपर आयीं। वहाँ उद्धवजीने उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'देवियो ! तुमलोग यहीं ठहरो, महाबाहु श्रीकृष्ण यहीं आयेंगे और तुमलोगोंका हित करेंगे।' गोपियाँ बोलीं—'अच्छा उद्धवजी! आप शीघ्र जाइये और प्यारे श्यामसुन्दरको बुला लाइये। वे ही हमारे नयनोंमें आनन्दकी सृष्टि करते हैं। उन्हींसे हमारे तीनों तापोंका नाश होता है। अतः शीघ्र उनका दर्शन कराइये।' यह सुनकर उद्धवजी गये और भगवान् श्रीकृष्णको शीघ्र बुला लाये। गोपियोंने देखा—देवकीनन्दन आ रहे हैं। उनका श्रीअङ्ग वनमालासे विभूषित है। मस्तकपर किरीट-मुकुट जगमगा रहा है। कानोंमें मकराकार कुण्डल चम-चम कर रहे हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न शोभा पा रहा है। उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं। उन्होंने रेशमी पीताम्बर पहन रखा है। तीनों लोकोंमें सबसे अधिक सुन्दर और सबका मन मोह लेनेवाले श्यामसुन्दरको दीर्घकालके बाद देखकर श्रीकृष्ण-प्रिया गोपियाँ प्रेमावेशमें मूर्च्छित हो गयीं। कुछ देरके बाद जब वे सचेत हुईं तब इस प्रकार विलाप करने लगीं—'हा नाथ! हा प्राणवल्लभ! हा स्वामिन्! हा व्रजेश्वर! हा मनमोहन! बचपनमें जिन्होंने तुम्हारा लालन-पालन किया, उनको भी तुमने त्याग दिया। बताओ तो सही, हमपर इतने रुष्ट कैसे हो गये!' गोपियोंका यह विलाप सुनकर सबके आन्तरिक भावोंको जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्णने यह जान लिया कि सब गोपियाँ अनन्यभावसे मेरी शरणमें आयी हैं। अतः व्रजेश्वरने उन सबको सान्त्वना देते हुए कहा, 'देवियो! तुमसे मेरा कभी वियोग नहीं है। मैं समस्त प्राणियोंके हृदयमें सदा सामान्यरूपसे निवास करता हूँ। ऐसा जानकर तुम मनमें शोक न करो। सब प्राणियोंके भीतर मुझे सदा ही स्थित जानकर अन्तर्यामीरूपसे मेरा चिन्तन करो। इससे सब प्रकारके पाप-तापसे मुक्त हो जाओगी।' श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर गोपियोंके सब बन्धन कट गये। उनके संशय और क्लेश नष्ट हो गये। वे भगवद्दर्शनजनित आनन्दमें डूब गयीं। श्रीकृष्णके दर्शनसे उनका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो गया। वे इस प्रकार बोलीं—'गोविन्द ! आज हमारा जन्म सफल हो गया।

आज हमारे नेत्र सार्थक हो गये, क्योंकि आज दीर्घकालके बाद हमारी आँखें गोविन्दका दर्शन कर रही हैं। पुण्यहीन स्त्रियोंको पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका दर्शन नहीं होता।

प्रह्लादजी कहते हैं—द्वारकापुरी अपनी प्रभासे बाहरके गाढ़ अन्धकारका नाश कर देती है और भक्तोंको भयनाशक परमानन्दमय पद प्रदान करती है। तदनन्तर पूर्वोक्त तीर्थयात्री महर्षियोंने द्वारकापुरीमें जाकर दूरसे ही चक्रविभूषित श्रीकृष्णमन्दिरका दर्शन करके छाता और खड़ाऊँ त्यागकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वे दण्डकी भाँति पृथ्वीपर लोट गये। उनकी भक्ति बहुत बढ़ गयी और वे बार-बार धरतीपर लोटने लगे। कोई जय-जयकार और कोई नमस्कारके साथ ही हरिनाम उच्चारण करते हुए गर्जना करने लगे। दूसरे लोग परमानन्दमें मग्न होकर स्तुति सुनाने लगे। सभी महर्षि तथा वहाँ प्रकट हुए सभी तीर्थ आनन्दके आँसू बहाते हुए प्रेमगद्‌गद वाणीमें भगवान्‌की स्तुति करने लगे* ।

उन सबको देखकर नारदजीने कहा—'तुमने सहस्रों जन्मोंमें सहस्रों पुण्यपुञ्जोंकी राशि संचित कर रखी थी, जिससे आज तुम्हें श्रीकृष्णमन्दिरमें भगवान्‌का दर्शन हुआ है। भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन, द्वारका जानेकी बुद्धि और महादेवजीमें दृढ़भक्ति—ये सब थोड़ी तपस्याके फल नहीं हैं। वे पूर्वज धन्य हैं, जिनके वंशज श्रीकृष्णदर्शनके लिये उत्सवपूर्वक द्वारकाकी यात्रा करते हैं और वहाँ पहुँचकर अपने इष्ट श्रीहरिका दर्शन पाते हैं। सब मुनि लोग देखें यह द्वारकापुरी तीनों लोकोंमें शोभा पाती है। श्रीकृष्णप्रिया द्वारका इस पृथ्वीकी कीर्ति है। जहाँ गोमती, रुक्मिणी देवी तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण विराज रहे हैं, वह पवित्र द्वारकापुरी अपने दिव्य तेजसे सुशोभित है।'

---

* जयशब्दैर्नमःशब्दैर्गर्जन्तो हरिनामभिः।
ततोऽन्ये च स्तुवन्ति स्म परमानन्दसम्प्लुताः॥
आनन्दाश्रु प्रमुञ्चन्तः प्रेम्णा गद्‌गदया गिरा।
स्तुवन्ति ऋषयः सर्वे तीर्थादीनि च सर्वतः॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० ३३। ११-१२)

'ब्रह्मा और शिव आदि भी जिनके चरणारविन्दोंकी वन्दना करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ निवास करते हैं, वह द्वारकापुरी सब कुछ देनेवाली है। द्वारकाके प्रभावसे कीट, पतंग, पशु, पक्षी तथा सर्प आदि योनियोंमें पड़े हुए समस्त पापी भी मुक्त हो जाते हैं* । फिर जो प्रतिदिन द्वारकामें रहते और जितेन्द्रिय होकर भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें उत्साहपूर्वक लगे रहते हैं, उन मनुष्योंकी मुक्तिके विषयमें क्या कहना है। जो द्वारकावासी श्रेष्ठ पुरुषोंकी निन्दा करते हैं, वे श्रीकृष्णकी कृपासे वञ्चित हो दुःखके घोर समुद्रमें गिरते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज तथा स्त्री—जो भी द्वारकामें भक्तिपूर्वक निवास करते हैं, वे विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होते हैं। द्वारकाका माहात्म्य सबसे श्रेष्ठ है। वहाँकी पवित्र धूलि भी पापियोंको मोक्ष देनेवाली है।'

इस प्रकार यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसंगोंपर विचार किया गया। स्कन्दपुराणमें ऐसे महत्त्वके स्थल बहुत हैं। पाठकोंको उन्हें वहीं पढ़-सुनकर तथा जीवनमें धारणकर लाभ उठाना चाहिये।

*****

---

* अपि कीटपतङ्गाद्याः पशवोऽथ सरीसृपाः।
विमुक्ताः पापिनः सर्वे द्वारकायाः प्रभावतः॥
(स्क० पु०, द्वा० मा० ३७।७)

सत्सङ्ग और कुसङ्ग

महापुरुषोंकी महिमा और उनके सङ्गका फल

जिस प्रकार भगवान्‌के महान् आदर्श चरित्र और गुणोंकी महिमा अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार भगवत्प्राप्त संत महापुरुषोंके पवित्रतम चरित्र और गुणोंकी महिमाका भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। ऐसे महापुरुषोंमें समता, शान्ति, ज्ञान, स्वार्थत्याग और सौहार्द आदि पवित्र गुण अतिशयरूपमें होते हैं, इसीसे ऐसे पुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

ठीक यही भाव श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी अर्थात् नित्य भगवान्‌के साथ रहनेवाले अनन्य प्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी संगके साथ हम स्वर्ग और मोक्षकी भी समानता नहीं कर सकते, फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?'

भगवत्प्रेमी महापुरुषोंके एक निमेषके सत्संगके साथ स्वर्ग-मोक्ष किसीकी भी तुलना नहीं होती—यह बात उन्हीं लोगोंकी समझमें आ सकती है, जो श्रद्धा तथा प्रेमके साथ नित्य सत्सङ्ग करते हैं।

प्रथम तो संसारमें ऐसे महापुरुष हैं ही बहुत कम। फिर उनका मिलना बहुत दुर्लभ है और मिल जायँ तो पहचानना अत्यन्त दुर्लभ है। तथापि यदि ऐसे महापुरुषोंका किसी प्रकार मिलना हो जाय तो उससे अपने-अपने भावके अनुसार लाभ अवश्य होता है; क्योंकि उनका मिलना अमोघ है। श्रीनारदजीने भक्तिसूत्रमें कहा है—

'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।'

(नारद० सू० ३९)

'महात्माओंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

अपने-अपने भावके अनुसार लाभ कैसे होता है? इसपर एक कल्पित दृष्टान्त है—

दो ब्राह्मण किसी जंगलके मार्गसे जा रहे थे। दोनों अग्निहोत्री थे। एक सकामभावसे अग्निकी उपासना करनेवाला था, दूसरा निष्कामभावसे। रास्तेमें बड़े जोरकी आँधी और वर्षा आ गयी। थोड़ी ही दूरपर एक धर्मशाला थी। वे दोनों किसी तरह धर्मशालामें पहुँचे। अँधेरी रात्रि थी और जाड़ेके दिन थे। धर्मशालामें दूसरे लोग भी ठहरे हुए थे और वे सभी प्रायः सर्दीसे ठिठुर रहे थे। धर्मशालामें और सब चीजें थीं, पर अग्निका कहीं पता नहीं लगता था। न किसीके पास दियासलाई ही थी। उन दोनों ब्राह्मणोंने जाकर अग्निकी खोज आरम्भ की। उन्हें एक जगह कमरेके आस-पास बैठे हुए लोगोंने बतलाया कि हमें तो जाड़ा नहीं लग रहा है, पता नहीं कहाँसे किस चीजकी गरमी आ रही है। उन लोगोंने उस कमरेको खोलकर देखा तो पता लगा उसमें राखसे ढकी आग है। इसी आगकी गरमीसे वह कमरा गरम था, शेष सारी धर्मशालामें सर्दी छायी थी। जब आगका पता लग गया, तब सब लोग प्रसन्न हो गये। पहलेसे ठहरे हुए जिन लोगोंको अग्निमें श्रद्धा नहीं थी और जो केवल अग्निसे रोशनी और रसोईकी ही अपेक्षा रखते थे, उन्होंने उससे रोशनी की और रसोई बनायी। दोनों अग्निहोत्री ब्राह्मणोंने, जिनकी अग्निके ज्ञानके साथ ही उनमें

श्रद्धा-थी, रोशनी तथा रसोईका लाभ तो उठाया ही, पर साथ ही अग्निहोत्र भी किया। इनमें जो सकामभाववाला था, उसने सकामभावसे अग्निहोत्र करके लौकिक कामना-सिद्धिरूप सिद्धि प्राप्त की और जो निष्कामभाववाला था, उसने अपने निष्कामभावसे अग्निहोत्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा परमात्मप्राप्ति-विषयक परम लाभ उठाया। इस प्रकार जिनको अग्निका ज्ञान भी नहीं था, उन्होंने भी अग्निके स्वभाववश उसके निकट रहनेके कारण गरमी प्राप्त की, जिन्हें ज्ञान था, पर श्रद्धा नहीं थी, उन लोगोंने केवल रोशनी-रसोईका लाभ उठाया। ज्ञान-श्रद्धाके साथ सकामभावसे अग्निहोत्र करनेवालेने सकाम सिद्धि पायी और निष्कामी पुरुषने परमात्मविषयक लाभ उठाया। इसी प्रकार किन्हीं महापुरुषका यदि संग हो जाय और उन्हें पहचाना भी न जाय तो भी उनके स्वाभाविक तेजसे पापरूपी ठंडकका तो नाश होता ही है। जो लोग महात्माओंको किसी अंशमें ही जानते हैं और उनसे साधारण क्षणिक लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें साधारण क्षणिक लाभ मिल जाता है। जिनमें श्रद्धा है पर साथ ही सकामभाव है, वे उनका संग करके इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप वैषयिक लाभ प्राप्त करते हैं और जो उन्हें भलीभाँति पहचानकर श्रद्धाके साथ निष्काम भावसे उनका सङ्ग करते हैं, वे परमात्माप्राप्तिविषयक लाभ उठाते हैं। इस प्रकार महात्माके अमोघ संगसे लाभ सभीको होता है, पर होता है अपनी-अपनी भावनाके अनुसार।

महात्मा पुरुषोंके भी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि मायिक होते हैं, परंतु परमात्माकी प्राप्तिके प्रभावसे वे साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा पवित्र, विलक्षण और दिव्य हो जाते हैं, अतएव उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालापसे तो लाभ होता ही है, मनके द्वारा उनका स्मरण हो जानेसे भी बड़ा लाभ होता है। जब एक कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे कामी पुरुषके हृदयमें कामका प्रादुर्भाव हो जाता है तब भगवत्प्राप्त महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे साधकके हृदयमें तो भगवद्भाव और ज्ञानका प्रादुर्भाव अवश्य होना ही चाहिये।

ऐसे महापुरुषोंके हृदयमें दिव्य गुणोंका अपार शक्तिसम्पन्न समूह भरा रहता है, जिसके दिव्य बलशाली परमाणु नेत्रमार्गसे निरन्तर बाहर निकलते रहते हैं और दूर-दूरतक जाकर जड़-चेतन सभीपर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। मनुष्योंपर तो

उनके अपने-अपने भावानुसार न्यूनाधिकरूपमें प्रभाव पड़ता ही है, विविध पशु-पक्षियों तथा जड़ आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वृक्ष, पाषाण, काष्ठ, घास आदि पदार्थोंतकपर भी असर पड़ता है। उनमें भी भगवद्भावके पवित्र परमाणु प्रवेश कर जाते हैं। ऐसे महात्मा जिस पशु-पक्षीको देख लेते हैं, जिस वायुमण्डलमें रहते हैं, जो वायु उनके शरीरको स्पर्श करके जाता है, जिस अग्निसे वे अग्निहोत्र करते, रसोई बनाते या तापते हैं, जिस सरोवर या नदीमें स्नान-पान करते हैं, जिस भूमिपर निवास करते हैं, जिस वृक्षका किसी प्रकार उपयोग करते हैं, जिस पाषाणखण्डका स्पर्श कर लेते हैं, जिस चौकीपर बैठ जाते हैं और जिन तृणाङ्कुरोंपर अपने पैर रख देते हैं, उन सभीमें भगवद्भावके परमाणु न्यूनाधिकरूपमें स्थित हो जाते हैं और उन वस्तुओंको जो काममें लाते हैं या जिन-जिनको उनका संसर्ग प्राप्त होता है—उन लोगोंको भी विना जाने-पहचाने भी सद्भावकी प्राप्तिमें लाभ होता है। जिनमें श्रद्धा, ज्ञान तथा प्रेम होता है, उनको यथापात्र विशेष लाभ होता है।

ऐसे महात्माओंकी वाणीसे भी उनके हृद्गत भावोंका विकास होता है; इससे उसे सुननेवालोंपर यथाधिकार—जो जैसा पात्र होता है तदनुसार प्रभाव पड़ता ही है, साथ ही वह वाणी (शब्द) नित्य होनेके कारण सारे आकाशमें व्याप्त होकर स्थित हो जाती है और जगत्के प्राणियोंका सदा सहज ही मंगल किया करती है। जहाँ उनकी वाणीका प्रथम प्रादुर्भाव होता है, वह स्थान और वहाँका वायुमण्डल विशेष प्रभावोत्पादक बन जाता है। इसी प्रकार उनके शरीरका स्पर्श होनेसे भी लाभ होता है। भावोंके परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इससे उनको प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती; पर वे वैसे ही सद्भावका प्रसार करते हैं जैसे प्लेगके कीटाणु रोगका विस्तार करते हैं।

ऐसे महापुरुषोंकी प्रत्येक क्रिया सर्वोत्तम दिव्य चरित्र, गुण और भावोंसे ओत-प्रोत रहती है; अतएव उनके चिन्तनमात्रसे—स्मृतिमात्रसे उनके चरित्र, गुण और भावोंका प्रभाव दूसरोंके हृदयपर पड़ता है। नामकी स्मृति आते ही नामीके स्वरूपका स्मरण होता है। स्वरूपके स्मरणसे भी क्रमशः चरित्र, गुण और भावोंकी स्मृति हो जाती है, जो हृदयको उन्हीं भावोंसे भरकर पवित्र बना देती है। वस्तुतः महापुरुषका मानसिक संग बहुत लाभदायक होता है; चाहे महात्मा किसी

साधकका स्मरण कर ले या साधक किसी महात्माका स्मरण कर ले। अग्नि घासपर पड़ जाय या घास अग्निमें पड़ जाय, अग्निका संसर्ग उसके घास-स्वरूपको मिटाकर उसे तुरन्त अग्नि बना देगा। इसी प्रकार ज्ञानाग्निसे परिपूर्ण अधिकारी महात्माके संगसे साधकके दुर्गुण और दुराचारोंका तथा अज्ञानका नाश हो जाता है, चाहे वह संसर्ग महात्माके द्वारा हो या साधकके द्वारा। महात्मा स्वयं आकर दर्शन दें तब तो वह प्रत्यक्ष ही केवल श्रीभगवान्‌की अपार कृपाका ही फल है, परंतु यदि साधक अपने प्रयत्नसे महात्मासे मिले तो इससे साधकके अन्तःकरणमें शुभ संस्कार अवश्य सिद्ध होते हैं, क्योंकि शुभ संस्कार हुए बिना महात्मासे मिलनेकी इच्छा और चेष्टा ही क्यों होने लगी, तथापि इसमें भी प्रधान कारण भगवान्‌की कृपा ही है—

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ।'

इस संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, सब केवल दोके ही सम्बन्धसे बने हुए हैं—(१) श्रीभगवान्‌के किसी भी स्वरूप या अवतारके प्राकट्य, निवास, लीलाचरित्रादिके होनेसे और (२) महापुरुषोंके निवास, तप, साधन, प्रवचन या समाधि आदिके होनेसे। देशगत अच्छे परमाणुओंका परिणाम प्रत्यक्ष है। आज भी जो लोग घर छोड़कर पवित्र तीर्थ या तपोभूमियोंमें निवास करते हैं, उनको अपनी-अपनी श्रद्धा तथा भावके अनुसार विशेष लाभ होता ही है। इसका कारण यही है कि उक्त भूमि, जल तथा वातावरणमें ईश्वरके लीलाचरित्रादिके या महात्माओंके तपस्या, भक्ति, सदाचार, सद्‌गुण, सद्भाव, ज्ञान आदिके शक्तिशाली परमाणु व्याप्त हैं।

विशेष और शीघ्र लाभ तो वे साधक प्राप्त करते हैं, जो ईश्वर और महापुरुषोंकी इच्छाका अनुसरण, आचरणोंका अनुकरण और आज्ञाका पालन करते हैं। जो भाग्यवान् पुरुष महापुरुषोंकी आज्ञाकी प्रतीक्षा न करके सारे कार्य उनकी रुचि तथा भावोंके अनुकूल करते हैं, उनपर भगवान्‌की विशेष कृपा माननी चाहिये। यों तो श्रेष्ठ पुरुषोंका अनुकरण साधारण लोग किया ही करते हैं। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

पर जो श्रद्धा-विश्वासपूर्वक महापुरुषोंके चरित्रका अनुकरण और उनके द्वारा निर्णीत मार्गका अनुसरण करते हैं, वे विशेष लाभ प्राप्त करते हैं।

इसी प्रकार भगवान् और महात्माओंके चरित्र, उपदेश, ज्ञान, महत्त्व, तत्त्व, रहस्य आदिकी बातें जिन ग्रन्थोंमें लिखित हैं, महात्माओंके और भगवान्‌के चित्र जिन दीवालों तथा कागजोंपर अङ्कित हैं; यहाँतक कि महात्माओंकी और भगवान्‌की स्मृति दिलानेवाली जो-जो वस्तुएँ हैं—उन सबका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है तथा श्रद्धा-विश्वासके अनुसार सभीको लाभ पहुँचानेवाला है। जिस प्रकार स्वाभाविक ही मध्याह्नकालके सूर्यसे प्रखर प्रकाश, पूर्णिमाके चन्द्रमाकी ज्योत्स्नासे अमृत एवं अग्निसे उष्णता प्राप्त होती है, उसी प्रकार महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे स्वाभाविक ही ज्ञानका प्रकाश, शान्तिकी सुधाधारा एवं साधनमें तीक्ष्णता और उत्तेजना प्राप्त होती है।

इसलिये सभीको चाहिये कि अपनी इन्द्रियोंको, मनको, बुद्धिको नित्य-निरन्तर महापुरुषोंके सङ्गमें और उन्हीं विषयोंमें लगाये जो भगवान् तथा महापुरुषोंके संसर्ग या सम्बन्धसे भगवद्भाव-सम्पन्न हो चुके हों। ऐसा करनेपर उन्हें सर्वत्र तथा सर्वदा सत्सङ्ग ही मिलता रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन श्रीभगवान् और सच्चे अधिकारी महापुरुषोंके सम्बन्धमें हैं। ऐसे महापुरुष कोई विरले ही होते हैं। इस सिद्धान्तका दुरुपयोग करके जो दुराचारी लोग शास्त्रों तथा भगवान्‌का खण्डन करते हुए दम्भपूर्वक स्वयं अपनेको भगवान् या महापुरुष बतलाकर अपने कल्पित मिथ्या नामका जप-कीर्तन करवाते, अपने नश्वर शरीरको पुजवाते, लोगोंको अपना उच्छिष्ट, अपने चरणोंकी धूलि और चरणामृत देते, अपने चित्रका ध्यान करवाते और इस प्रकार जनताको धोखा देकर

स्वार्थ-साधन करते हैं, वे वस्तुतः बड़ा पाप करते हैं। ऐसे लोगोंको महापुरुष मानना बड़े-से-बड़े धोखेमें पड़ना है तथा ऐसे लोगोंका संग करना बड़े-से-बड़ा कुसङ्ग है।

असलमें यह एक सिद्धान्त है कि जिस प्रकारके भाववाले पुरुषका संसर्ग जिस मात्रामें चेतनाचेतन पदार्थोंको प्राप्त होता है, उसी प्रकारके भावोंका उसी मात्रामें न्यूनाधिकरूपसे उनमें प्रवेश होता है और यह प्रवेश जैसे महात्माओंके भावोंका होता है वैसे ही दुरात्माओंके भावोंका भी होता है। महात्माओंके भावोंका जैसे सच्चे श्रद्धालु व्यक्तियोंपर तथा सात्त्विक पदार्थोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है, वैसे ही दुराचारियोंके भावोंका दुराचारपरायण व्यक्तियों एवं राजस-तामस पदार्थोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है। इसलिये अब यहाँ कुसङ्गके फलपर संक्षेपमें विचार किया जाता है।

दुराचारी पुरुष और दुराचारियोंके कुसङ्गका फल

जिस प्रकार सत्सङ्गसे बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार कुसङ्गसे बुरा प्रभाव पड़ता है। भगवद्भावसे रहित नास्तिक, विषयी, पामर, आलसी, प्रमादी और दुराचारी व्यक्तियोंका संग तो प्रत्यक्ष हानिकारक और पतन करनेवाला है ही; इनके संसर्गमें आये हुए मनुष्य, पशु-पक्षी और जड़ पदार्थोंका संसर्ग भी हानिकारक है। जो लोग गंदे नाटक-सिनेमा देखते हैं, रेडियोके शृंगारपरक गंदे गाने तथा वार्तालाप सुनते हैं, घरोंमें ग्रामोफोनादिपर गंदे रेकार्ड चढ़ाकर सुनते-सुनाते हैं, व्यभिचारियों और अनाचारियोंके मुहल्लोंमें रहते हैं और उन लोगोंके संसर्गमें आये हुए पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनपर भी बुरा असर होता है एवं जो लोग मोह या स्वार्थवश ऐसे लोगोंका सेवन, संग तथा अनुकरण करते हैं, उनका तो—इच्छा न होनेपर भी—शीघ्र पतन हो जाता है। संगका रंग चढ़े बिना नहीं रहता। एक आदमी जुआ खेलना बुरा समझता है, चोरी-डकैतीको पाप मानता है, शराबसे दूर रहना चाहता है, अनाचार-व्यभिचारकी बात भी नहीं सुनना चाहता, वह भी यदि ऐसे लोगोंके गिरोहमें किसी भी कारणसे सम्मिलित होने लगता है और यदि उसे अनिष्टकर मानकर शीघ्र ही छोड़ नहीं देता तो कुछ ही समयमें उस संगदोषके कारण पहले उन कुकर्मोंमें उसकी घृणा कम होती है; फिर घृणाका नाश होता है,

तदनन्तर उनमें प्रवृत्ति होने लगती है और अन्तमें वह भी प्रायः वैसा ही बन जाता है। इसके अनेकों उदाहरण हमारे सामने हैं।

कामीके संगसे कामका, क्रोधीके संगसे क्रोधका और लोभी के संगसे लोभका प्रकट होना, बढ़ना और तदनुसार क्रिया करवा देना स्वाभाविक होता है। काम-क्रोध-लोभ जिनमें उत्पन्न होकर बढ़ जाते हैं, उनका पतन अवश्यम्भावी है। भगवान्‌ने इनको नरकका द्वार और आत्माका पतन करनेवाला बतलाया है (गीता १६। २१)। संगदोषसे चरित्र बिगड़ जाता है, खान-पान भ्रष्ट हो जाता है और मनमें तथा आचरणोंमें नाना प्रकारके दोष आकर दृढ़ताके साथ अपना डेरा जमा लेते हैं। इसीलिये शास्त्रोंने अमुक-अमुक स्थितियोंके तथा अमुक-अमुक कार्य करनेवाले लोगोंके संसर्गसे बचनेकी आज्ञा दी है, यहाँतक कि उन्हें स्पर्श करनेतकका निषेध किया है। इनमें प्रसूतिका और रजस्वलावस्थामें पूजनीया माता, प्रियतमा पत्नी तथा अपने ही शरीरसे उत्पन्न पुत्रीतकके स्पर्शका निषेध किया है। आज भी विशेषज्ञ डाक्टर आदि किसी संक्रामक रोगसे पीड़ित रोगीको छूकर हाथ धोते हैं और किसी अंशमें इस सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं। यह वैज्ञानिक तत्त्व है। हमारे परम विज्ञ ऋषि-मुनि दीर्घदृष्टि और सूक्ष्मदृष्टिसे सम्पन्न थे। प्रत्येक वस्तुके परिणामको जानते थे, इसीसे उन्होंने स्पर्शास्पर्शकी विधिका निर्दोष निर्माण किया था। यह केवल संगदोषसे बचनेके लिये था, न कि किसी जाति या व्यक्तिविशेषसे घृणा करनेके लिये।

दुराचारी नर-नारियोंके संगका तो बुरा असर होता ही है, पशु-पक्षियोंकी अश्लील क्रिया, चित्रलिखे अश्लील दृश्य, समाचारपत्रोंमें प्रकाशित नारियों आदिके चित्र, किसीके अश्लील और घृणित बर्ताव और क्रियाओंका वर्णन देखने-सुनने और पढ़नेसे भी चित्तमें अश्लील और असद्भावोंकी जागृति हो जाती है। इस तत्त्वको समझकर मनुष्यको सब प्रकारके कुसङ्गका सर्वथा त्याग करना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

नरकमें रहकर वहाँकी यन्त्रणा भोगना अच्छा पर विधाता कहीं बुरा संग न दे। क्षणभरका भी बुरा संग गिरानेवाला होता है।

——::०::——

सर्वभूतहिते रताः

भगवत्प्राप्तिके अनेक मार्ग हैं, 'सर्वभूतहित' सभीमें है। भगवान् प्राणिमात्रमें स्थित हैं, अतएव किसी भी प्राणीका हित करना और उसे सुख पहुँचाना भगवान्की बड़ी सेवा है। प्राणिजगत्में जहाँ जिस वस्तुका अभाव है, वहाँ भगवान् उसी वस्तुके द्वारा अपनी पूजा चाहते हैं और उस पूजामें केवल भगवत्प्रीतिके अतिरिक्त अन्य कोई कामना नहीं रहती तो उसी निःस्वार्थ सेवासे आत्माका उद्धार या भगवत्प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

'जिनके हृदयमें दूसरेका हित बसता है, उनको जगत्में कुछ भी दुर्लभ नहीं है।' स्कन्दपुराणमें बतलाया है—

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम्।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे॥
तीर्थस्नानैर्न सा शुद्धिर्बहुदानैर्न तत् फलम्।
तपोभिरुग्रैस्तन्नाप्यमुपकृत्या यदाप्यते॥

(काशी० ६। ४-५)

'जिन सज्जनोंके हृदयमें परोपकारकी भावना जाग्रत् रहती है, उनकी समस्त आपदाएँ नष्ट हो जाती हैं और उन्हें पद-पदपर सम्पदाएँ प्राप्त होती रहती हैं। न तो अनेक तीर्थोंमें स्नान करनेसे वैसी पवित्रता होती है और न प्रचुर दानों तथा उग्र तपस्याओंसे ही वैसा फल प्राप्त होता है, जैसा कि दूसरोंका उपकार करनेसे होता है।

अन्य वस्तुओंकी तो बात ही क्या, निष्कामभावसे परोपकार करनेवालेको तो परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है। श्रीमद्भगवद्गीताके पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें भगवान्ने स्वयं कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

'जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका वशमें किया हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।'

इससे यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त पापरहित ऋषिजन सारे भूतोंके हितमें रत रहनेके प्रभावसे निर्वाणब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये मनुष्यको उचित है कि स्वार्थका सर्वथा परित्याग करके अपने तन, मन, धनसे दुखी, अनाथ और आतुर प्राणियोंकी सेवा करे; अर्थात् अपने तन, मन, धनको अभावग्रस्त दुखी प्राणियोंके दुःखनाश और हित-साधनमें ही लगा दे। जिन महानुभावोंका यह उद्देश्य है कि मेरा जीवन और सर्वस्व दीन-दुखी, अनाथ-आतुरोंके लिये ही है, उन्हींका जीवन धन्य है। इस विषयपर एक सुन्दर कहानी है।

एक उच्चकोटिके विरक्त ज्ञानी महात्मा थे। उनमें गीताके उपर्युक्त श्लोकके सारे लक्षण वर्तमान थे। उन समदर्शी महात्माके सत्सङ्गमें बड़े-से-बड़े राजा-महाराजासे लेकर गरीब-से-गरीब मनुष्यतक भी आया करते थे। महात्माजी आनेवाले सत्सङ्गियोंको इसी श्लोकके आधारपर उपदेश दिया करते थे। उनका प्रधान कथन यह होता था कि निष्कामभावसे दुखी आतुर प्राणियोंको सुख पहुँचानेसे परमात्मा मिलते हैं।

एक दिनकी बात है कि उस नगरके राजा उन महात्माजीके पास आये।

राजाने महात्माजीके चरणोंमें अभिवादन करके पूछा—'क्या इस युगमें भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है ? और यदि हो सकती है तो उसका सरल उपाय क्या है ?' महात्माजीने उत्तर दिया—'परमात्मा प्राणिमात्रके हृदयमें अवस्थित है। अतः सम्पूर्ण प्राणिमात्रकी निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक सेवा करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; प्राणियोंमें भी जो दुखी, अनाथ और आतुर हों, उनकी सेवा करनेसे और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है।' इस उपदेशको सुनकर राजा अपने स्थानपर लौट गये और उसी दिनसे वे अपने तन, मन, धनद्वारा निष्कामभावसे प्राणिमात्रकी एवं दुखी और आतुरोंकी सेवा विशेषरूपसे करने लगे।

एक वर्ष बीतनेपर राजाने एक दिन महात्माजीके पास जाकर कहा—'मुझे आपके आज्ञानुसार अनुष्ठान करते सालभर हो गया, किंतु अभीतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई।' महात्माजी बोले—'राजन्! धैर्य रखो और निष्कामभावपूर्वक दुखियोंकी सेवा उत्साहके साथ विशेषरूपसे करते रहो। करते-करते तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी ।' यह सुनकर राजा घर लौट गये एवं पहलेकी अपेक्षा और भी विशेष उत्साहके साथ दुखियोंकी सेवा करने लगे।

इस प्रकार करते फिर एक वर्ष व्यतीत हो गया, परंतु परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई। तब राजाने पुनः महात्माजीके पास जाकर प्रार्थना की कि 'महाराज ! आपके आज्ञानुसार सेवाके अनुष्ठानका कार्य चालू है, मैंने आपके आदेशके अनुसार अपना तन, मन, धन, सब कुछ सेवामें लगा रखा है। अबतक राज्यकी अधिकांश धनराशि परोपकारके कार्योंमें व्यय हो चुकी है, फिर भी परमात्माकी प्राप्ति होनेका मुझे कोई भी लक्षण नहीं दिखलायी पड़ता।' इसपर महात्माजीने कहा—'तुम दृढ़ विश्वास रखो, जरा भी शङ्का न करो; तुम्हें निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति होगी। तुम बहुत ही सुन्दर रीतिसे तथा शुद्ध भावसे दीन-दुखियोंकी सेवा कर रहे हो; परंतु वास्तवमें जिस प्रकारके दुखी, अनाथ और आतुरकी जैसी सेवा होनी चाहिये, वैसी सेवा अबतक तुम्हारे द्वारा नहीं बन पड़ी है। परंतु परम उल्लास तथा श्रद्धाके साथ सदा-सर्वदा करते-करते कभी-न-कभी वैसी सेवा भी बन ही जायगी। अतः तुम वशमें किये हुए मन, बुद्धि और

इन्द्रियोंको निःस्वार्थ- भावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ दुखियोंकी सेवामें भली-भाँति लगा दो।'

महात्माजीके अमृतमय वचनोंका श्रवण करके राजा बड़े प्रसन्न हुए और घर आकर महात्माजीके आदेशानुसार ही पुनः अत्यन्त उत्साहसे सबके हितके कार्यमें लग गये। वे अब दीन, दुखी, दरिद्र और अनाथोंके रूपमें नारायणकी विशेषरूपसे सेवा करने लगे।

उसी नगरमें एक दुखी अनाथ विधवा स्त्री रहती थी, जो प्रतिदिन जंगलसे सूखा ईंधन लाकर शहरमें बेचा करती और उसीसे अपना तथा अपने इकलौते नन्हेंसे पाँच वर्षके लड़केका निर्वाह किया करती। वह जो कुछ कमाती, उससे उन दोनोंकी उदरपूर्ति कठिनतासे होती थी, अतः उसके पास एक भी पैसा बच नहीं पाता था। एक दिन जब वह लड़केको साथ लिये ईंधन लाने जंगलको जा रही थी, तब उस बालकने रास्तेमें एक धनी लड़केको लट्टू, फिरकी आदि खिलौनोंसे खेलते देखा। उसे देखकर उस बालकने अपनी माँसे लट्टू, फिरकी आदि ला देनेको कहा। बच्चेकी बात सुनकर माता बोली—'बेटा! मैं गरीब आदमी हूँ, मेरे पास पैसे कहाँ? मैं तो लकड़ी बेचकर जो पैसे लाती हूँ, उससे पेट ही कठिनतासे भर पाता है, फिर खिलौने कहाँसे खरीदूँ?' निर्दोष लड़का धनी और गरीबका भेद समझता नहीं था। उसे तो खिलौनेका आग्रह था। वह रोने लगा और वहीं लोट गया। माता किसी तरह उठाकर उसे घर लायी। उसने लड़केको बहुत कुछ समझाया; पर लड़केने एक भी न सुनी। इसी कारण उसदिन वह लकड़ी लाने भी नहीं जा सकी; दिनभर दोनोंको फाँका करना पड़ा। बच्चेने अपना हठ नहीं छोड़ा, वह रोता ही रहा। उसके दुःखसे दुखी होकर माँ भी रोती रही। उसके पास पैसा तो था नहीं कि वह बच्चेका हठ पूरा कर सकती। अर्धरात्रिका समय था, निस्तब्ध रात्रि थी। सब सो रहे थे, परंतु झोंपड़ीके कोनेमें गरीब माँ-पुत्र रो रहे थे। लड़केकी रोनेकी आवाज तीव्र थी। महल समीप ही था। महलमें सोये राजाके कानोंमें रोनेकी ध्वनि पहुँची। करुणापूर्ण रुदनकी ध्वनिसे राजा चौंक पड़े और उठकर इधर-उधर देखने लगे। राजाने कोतवालको बुलाकर कहा—'देखो, किसी दुखी आतुर व्यक्तिके रोनेकी आवाज आ रही है,

तुम शीघ्र जाओ और उसे आश्वासन देकर मेरे पास लाओ।' कोतवाल तुरंत उसके पास पहुँच गया और उससे बोला—'चलो ! महाराज साहब तुमको बुला रहे हैं।' बेचारी ईंधन बेचनेवाली स्त्री कोतवालको देखते ही भयसे काँपने लगी और बोली—'सरकार ! यह छोटा बच्चा है; रोता है, इसके अपराधको क्षमा करें।' कोतवालने धीरज बँधाते हुए कहा—'तुम भय मत करो, मेरे साथ चलो, राजाने दया करके ही तुमको बुलाया है।' किंतु उस बेचारीकी घबराहट दूर नहीं हुई। उसने सोचा—बच्चेके रोनेसे राजाकी नींद टूट गयी है, इसलिये वे दण्ड देंगे; पर उपाय ही क्या, जब कि वे बुला रहे हैं तो जाना ही पड़ेगा। वह राजाके पास जाने लगी। कोतवालके वचनोंसे उस स्त्रीका रोना तो बंद हो गया, परंतु भयके मारे उसका शरीर काँप रहा था और लड़का रोता हुआ उसके पीछे-पीछे चला जा रहा था।

कोतवालके साथ दोनों राजमहलमें पहुँचे। राजाने इस करुणायुक्त दृश्यको देखकर उस भयभीत स्त्रीको आश्वासन देते हुए कहा—'बेटी ! डर मत। बता, यह बच्चा किसलिये रो रहा है ? मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ।' इसपर उस स्त्रीने सारी बात ज्यों-की-त्यों बतला दी। वह बोली—'महाराज ! मैं जंगलसे सूखी लकड़ियाँ लाकर बेचा करती हूँ, उसीसे अपना और इसका पेट भरती हूँ। आज मैं जब लकड़ी लाने जंगलको जा रही थी, तब रास्तेमें एक धनी लड़केको लट्टू, फिरकी आदिसे खेलते देखकर यह मचल उठा और इसने हठ कर लिया कि मुझे ऐसे ही खिलौने ला दे। इसी कारण यह रोने लगा। इसीसे मैं आज लकड़ी लाने भी न जा सकी, जिसके कारण यह भूखसे भी मर रहा है। आधी रात बीत गयी; यह मानता नहीं, बराबर रो ही रहा है। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि यह न रोये, पर छोटा बच्चा है, बेसमझ है, क्या किया जाय।'

राजाने तुरंत महलके अंदरसे साग, पूड़ी, मिठाई मँगवाकर दी और कहा—'मैं अभी खिलौने मँगा देता हूँ।' विधवा माताने लड़केको खिलानेकी बहुत चेष्टा की, किंतु हठी बच्चेने माँग पूरी न होनेके कारण कुछ नहीं खाया। माँ भी लड़केको बिना खिलाये कैसे खाती। तब राजाने कोतवालसे कहा—'अभी बाजार जाओ और यह लड़का जो-जो खिलौने चाह रहा है, वे जहाँ जिसके यहाँ भी मिलें, एक छबड़ी भरकर ले आओ।' कर्तव्यपरायण

कोतवालने तत्काल खिलौनेके दूकानदारके घर जाकर उसे जगाया और उसी समय दूकान खोलकर एक छबड़ी खिलौने देनेको कहा। राजाकी आज्ञा थी, उसने तुरन्त एक छबड़ी खिलौने दे दिये। कोतवालने उनका उचित मूल्य चुकाकर छबड़ी लाकर राजाके सामने रख दी। राजाने वे सारे खिलौने बालकको सौंप दिये। बालक दोनों हाथोंमें जितना ले सका, लेकर हँसने और नाचने लगा। बालककी प्रसन्नता देखकर माताकी भी प्रसन्नताकी सीमा नहीं रही।

तदनन्तर राजाने उन दोनोंको यथेष्ट भोजन कराकर तृप्त किया तथा बचे हुए खिलौने और भोजन उस बच्चेकी माँको सौंप दिये। माता और पुत्र—दोनों अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो अपनी झोंपड़ीमें लौट गये। राजाकी अनुमति पाकर कोतवाल भी अपने स्थानको लौट गया। उसी समय राजाको उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी तथा उनके आनन्द और शान्तिकी सीमा नहीं रही।

प्रातःकाल होते ही राजा महात्माजीके पास गये और दण्डवत् प्रणाम करके अपनी सारी घटना आद्योपान्त उन्हें कह सुनायी। तब महात्माजी बोले—'राजन्! तुमने बहुतेरे लोगोंकी सेवा की और परोपकारके निमित्त बहुत-सा धन खर्च किया, किंतु जैसी सेवा आज हुई है, वैसी इसके पहले नहीं हुई थी।' महात्माजीके वचन सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए और फिर अपने घरपर चले आये।

जिस समय राजा अपनी घटना सुना रहे थे, उस समय वहाँ महात्माजीकी सेवामें शहरसे दो कोस दूर रहनेवाला एक नितान्त निर्धन देहाती खोमचेवाला भी बैठा था। उसने इस घटनाको बड़े चावसे सुना और महात्माजीसे कहा—'महाराज! क्या मुझ-जैसे गरीब आदमीको भी भगवान् मिल सकते हैं?' महात्माजी बोले—'क्यों नहीं मिल सकते?' भगवान्‌के यहाँ गरीब और धनीका भेद थोड़े ही है। वे भावके भूखे हैं। एक बार राजा चोल और विष्णुदास नामके एक गरीब ब्राह्मणमें भक्तिविषयको लेकर भगवद्दर्शनके लिये परस्पर होड़ लग गयी थी, जिसमें अन्तमें उस गरीब विष्णुदासकी ही विजय हुई और उस गरीब ब्राह्मणको ही भगवान्‌ने पहले दर्शन दिये।

यह सुनकर खोमचेवालेने पूछा—'महाराजजी! वह राजा चोल कौन था,

गरीब विष्णुदास कौन था और उनमें परस्पर किस प्रकार होड़ लगी थी तथा उस गरीब ब्राह्मणको भगवान्ने राजासे पहले किस तरह दर्शन दिये थे ? कृपया वह सब कथा मुझे विस्तारसे सुनाइये।'

महात्माजीने कहा—पहले काञ्चीपुरीमें चोल नामक एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं; उनके अधीन जितने देश थे, वे भी चोल नामसे ही विख्यात हुए। राजा चोल जब इस भूमण्डलका शासन करते थे, उस समय कोई भी मनुष्य दरिद्र, दुखी, पापमें मन लगानेवाला अथवा रोगी नहीं था। उन्होंने इतने यज्ञ किये थे कि जिनकी कोई गणना नहीं हो सकती।

एक समयकी बात है। राजा चोल 'अनन्तशयन' नामक तीर्थमें गये, जहाँ जगदीश्वर श्रीविष्णु शेषशायीके रूपमें विराज रहे थे। वहाँ भगवान् श्रीविष्णुके उस दिव्य विग्रहकी राजाने विधिपूर्वक पूजा की। उन्होंने स्वर्णके बने हुए फूलों तथा मणि-मोतियोंसे भगवान्का पूजन करके उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रणाम करके ज्योंही वे बैठे, उसी समय काञ्चीनगरीके निवासी ब्राह्मण विष्णुदास भगवान्की पूजाके लिये हाथमें तुलसीदल और जल लिये वहाँ आये। उन ब्रह्मर्षिने विष्णुसूक्तका पाठ करते हुए देवदेव भगवान्को स्नान कराया और तुलसीकी मञ्जरी तथा पत्तोंसे उनकी विधिवत् पूजा की। राजा चोलने पहले जो रत्नोंसे भगवान्की पूजा की थी, वह सब तुलसीपत्तोंसे ढँक गयी। यह देख राजा कुपित होकर बोले— 'विष्णुदास ! मैंने मणियों तथा सुवर्णसे भगवान्की पूजा की थी, वह कितनी शोभा पा रही थी ! किंतु तुमने तुलसीपत्र चढ़ाकर सब ढक दी; बताओ, ऐसा क्यों किया ? मालूम होता है तुम बड़े मूर्ख हो, भगवान् विष्णुकी भक्तिको बिलकुल नहीं जानते। तभी तो तुम अत्यन्त सुन्दर सजी-सजायी पूजाको पत्तोंसे ढके जा रहे हो। तुम्हारे इस बर्तावसे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।'

विष्णुदास बोले—'राजन् ! आपको भक्तिका कुछ भी पता नहीं है, केवल राज्यलक्ष्मीके कारण आप घमंड कर रहे हैं। बताइये तो आजसे पहले आपने कितने वैष्णव-व्रतोंका पालन किया है ?'

राजाने कहा—'ब्राह्मण ! यदि तुम विष्णुभक्तिके अत्यन्त गर्वमें आकर ऐसी बात करते हो तो बताओ, तुममें कितनी भक्ति है? तुम तो दरिद्र हो, निर्धन हो।

तुमने श्रीविष्णुको संतुष्ट करनेवाले यज्ञ और दान आदि कभी नहीं किये हैं तथा पहले कहीं कोई देवालय भी नहीं बनवाया है। ऐसी दशामें भी तुम्हें अपनी भक्तिका इतना घमंड है ? अच्छा, तो आज यहाँ जितने भी श्रेष्ठ ब्राह्मण उपस्थित हैं, वे सभी कान खोलकर मेरी बात सुन लें। देखना है, मैं पहले भगवान् विष्णुका दर्शन पाता हूँ या यह; इससे लोगोंको स्वयं ही ज्ञात हो जायगा कि हम दोनोंमेंसे किसमें कितनी भक्ति है।'

यह कहकर राजा चोल अपने राजभवनको चले गये और उन्होंने महर्षि मुद्गलको आचार्य बनाकर वैष्णव-यागका अनुष्ठान आरम्भ किया, जिसमें बहुत-से ऋषियोंका समुदाय एकत्रित हुआ, बहुत-सा अन्न खर्च किया गया और प्रचुर दक्षिणा बाँटी गयी।

'उधर विष्णुदास भी वहीं भगवान्के मन्दिरमें ठहर गये और श्रीविष्णुको संतुष्ट करनेवाले शास्त्रोक्त नियमोंका भलीभाँति पालन करते हुए सदा ही व्रतका अनुष्ठान करने लगे। माघ और कार्तिकके व्रत, तुलसीके बगीचेका भलीभाँति पालन, एकादशीका व्रत, 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'— इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जप तथा गीत-नृत्य आदि माङ्गलिक उत्सवोंके साथ षोडशोपचारद्वारा प्रतिदिन श्रीविष्णुकी पूजा—यही उनकी जीवनचर्या थी। वे इन्हीं व्रतोंका पालन करते थे। चलते, खाते और सोते समय भी उन्हें निरन्तर श्रीविष्णुका स्मरण बना रहता था। वे समदर्शी थे और सम्पूर्ण प्राणियोंमें भगवान् श्रीविष्णुको स्थित देखते थे। उन्होंने भगवान् श्रीविष्णुके संतोषके लिये उद्यापन-विधिसहित माघ और कार्तिकके विशेष-विशेष नियमोंका भी सर्वदा पालन किया।'

इस प्रकार राजा चोल और विष्णुदास दोनों ही होड़ लगाकर भगवान् श्रीविष्णुकी आराधना करने लगे। दोनों ही अपने-अपने व्रतमें स्थित रहते थे, दोनोंकी ही इन्द्रियाँ और कर्म भगवान्में ही केन्द्रित थे।

'एक दिनकी बात है, विष्णुदासने नित्यकर्म करनेके पश्चात् भोजन तैयार किया; किंतु उसे किसीने चुरा लिया। चुरानेवालेको किसीने नहीं देखा। विष्णुदासने भोजन चुरा लिये जानेपर भी दुबारा भोजन नहीं बनाया; क्योंकि ऐसा करनेपर सायंकालकी पूजाके लिये अवकाश नहीं मिलता, अतः प्रतिदिनके

नियमके भङ्ग हो जानेका भय था। दूसरे दिन उसी समयपर भोजन बनाकर वे ज्यों ही भगवान् विष्णुको भोग लगानेके लिये गये, त्यों ही कोई आकर फिर सारा भोजन चुरा ले गया। इस प्रकार लगातार सात दिनोंतक कोई आ-आकर उनके भोजनका अपहरण करता रहा। इससे विष्णुदासको बड़ा विस्मय हुआ। वे विचार करने लगे—'अहो ! यह कौन प्रतिदिन आकर मेरी रसोई चुरा ले जाता है ? मैं क्षेत्र-संन्यास ले चुका हूँ, अब किसी तरह इस स्थानका परित्याग नहीं कर सकता। यदि दुबारा भोजन बनाता हूँ तो सायंकालकी पूजा छूट जाती है। जबतक सारी सामग्री भगवान् श्रीविष्णुके निवेदन न कर लूँ, तबतक मैं भोजन नहीं करता। प्रतिदिन उपवास करनेसे मैं इस व्रतकी समाप्तितक जीवित कैसे रह सकूँगा ? अच्छा, आज मैं रसोईकी भलीभाँति रक्षा करूँगा।'

'यों सोचकर भोजन बनानेके पश्चात् विष्णुदास वहीं कहीं छिपकर खड़े हो गये। इतनेमें ही एक चाण्डाल दिखायी दिया, जो उनका अन्न चुराकर ले जानेको उद्यत था। भूखके मारे उसका सारा शरीर दुर्बल हो रहा था, मुखपर दीनता छा रही थी, शरीरमें हाड़ और चामके सिवा और कुछ बाकी नहीं बचा था। उसे देखकर श्रेष्ठ ब्राह्मण विष्णुदासका हृदय करुणासे व्यथित हो उठा। उन्होंने उससे कहा—'भैया ! जरा ठहरो, ठहरो ! क्यों रूखा-सूखा खाते हो ? यह घी तो ले लो।' इस प्रकार बोलते हुए विप्रवर विष्णुदासको आते देख वह चाण्डाल बड़े वेगसे भागा और भयसे मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। विष्णुदास तुरंत उसके समीप पहुँच गये और करुणावश अपने वस्त्रसे उसे हवा करने लगे। तदनन्तर जब वह उठकर खड़ा हुआ, तब विष्णुदासने देखा—वह चाण्डाल नहीं, साक्षात् भगवान् नारायण ही शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये सामने विराजमान हैं। उनकी कटिमें पीताम्बर है, चार भुजाएँ हैं, हृदयमें श्रीवत्सका चिह्न तथा मस्तकपर किरीट शोभा पा रहे हैं। अलसीके फूलकी भाँति श्यामसुन्दर शरीर और कौस्तुभ-मणिसे जगमगाते हुए वक्षःस्थलकी अपूर्व शोभा हो रही है। अपने प्रभुको प्रत्यक्ष सम्मुख देखकर द्विजश्रेष्ठ विष्णुदास रोमाञ्च, अश्रुपात आदि सात्त्विक भावोंसे इस प्रकार समन्वित हो गये कि वे भगवान्‌की स्तुति और नमस्कार करनेमें भी समर्थ न हो सके। उस समय वहाँ इन्द्र आदि देवता तथा ऋषि-महर्षि भी आ पहुँचे।

भगवान् श्रीविष्णुने सात्त्विक व्रतका पालन करनेवाले अपने भक्त विष्णुदासको छातीसे लगा लिया और उन्हें अपने-ही-जैसा रूप देकर वे वैकुण्ठ-धामको ले चले।

'उस समय यज्ञमें दीक्षित हुए राजा चोलने देखा, विष्णुदास एक सुन्दर विमानपर बैठकर भगवान् श्रीविष्णुके धाममें जा रहे हैं। राजाने तुरंत ही अपने गुरु महर्षि मुद्गलको बुलाकर कहा—'जिसके साथ होड़ लगानेके कारण मैंने यह यज्ञ-दान आदि कर्मका अनुष्ठान किया है, वह ब्राह्मण आज भगवान् श्रीविष्णुका रूप धारण करके मुझसे पहले ही वैकुण्ठधाममें जा रहा है। मैंने इस वैष्णवयागमें भली-भाँति दीक्षित होकर अग्निमें हवन किया और दान आदिके द्वारा ब्राह्मणोंका मनोरथ पूर्ण किया; तथापि अभीतक भगवान् मुझपर प्रसन्न नहीं हुए और इस ब्राह्मणको केवल भक्तिके ही कारण श्रीहरिने प्रत्यक्ष दर्शन दिया है। अतः जान पड़ता है, भगवान् श्रीविष्णु केवल दान और यज्ञोंसे प्रसन्न नहीं होते; उन प्रभुका दर्शन करानेमें भक्ति ही प्रधान कारण है।

'राजा चोल बचपनसे ही यज्ञकी दीक्षा लेकर उसीमें संलग्न रहते थे, इसलिये उन्हें कोई पुत्र नहीं हुआ था; अतः उन्होंने अपने भानजेको राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया। तत्पश्चात् वे यज्ञशालामें गये और यज्ञकुण्डके सामने खड़े होकर श्रीविष्णुको सम्बोधित करते हुए तीन बार उच्च स्वरसे निम्नांकित वचन बोले—'भगवान् विष्णु! आप मुझे मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा निश्चल भक्ति दीजिये।' यों कहकर वे सबके देखते-देखते अग्निमें कूद पड़े। राजा ज्यों ही अग्निकुण्डमें कूदे, त्यों ही भक्तवत्सल भगवान् श्रीविष्णु प्रकट हो गये और उन्होंने राजाको छातीसे लगाकर एक श्रेष्ठ विमानपर बिठाया। फिर उसे अपने ही समान रूप देकर उन देवेश्वरने देवताओंसहित वैकुण्ठ धामको प्रस्थान किया।' *

कथा सुनकर खोमचेवालेके चित्तमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने उत्साहपूर्वक महात्माजीसे पूछा—'मुझ-जैसे अकिञ्चनको शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्

---

*यह कथा पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें ११० १११वें अध्यायोंमें वर्णित है।

कैसे मिल सकते हैं !' महात्माजी बोले—'तू सब प्राणियोंमें परमात्माको व्यापक देखकर अपने कर्मोंके द्वारा उनकी सेवा किया कर, जैसा कि गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने बतलाया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धि (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है।'

महात्माजीका आदेश पाकर खोमचेवाला अपने गाँवको लौट गया और उनके आज्ञानुसार साधन करने लगा। वह खोमचेसे नित्य दो रुपये कमाता था, जिनमेंसे डेढ़ रुपयेमें तो अपना और अपने कुटुम्बका भरण-पोषण कर लेता, शेष आठ आने बचते, उनको दुखी, अनाथ, असहाय, आतुर और भूखे प्राणियोंकी सेवामें लगा देता था।

इस प्रकार सेवा करते उसे तीन वर्ष बीत गये, पर भगवत्प्राप्तिका कोई भी चिह्न न देखकर वह एक दिन पुनः महात्माजीके पास आकर कहने लगा—'महाराजजी ! मैं नित्य दो रुपये कमाता हूँ, डेढ़में अपना भरण-पोषण करके आठ आने दुखियोंकी सेवामें लगाता हूँ, परंतु अभीतक भगवान्‌की प्राप्तिका कोई पूर्व लक्षण भी मुझमें नहीं दीखता। आप ही बतलाइये, मैं क्या करूँ जिससे शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो।' महात्माजी बोले—'तू जो करता है सो ठीक ही करता है, और भी उत्साह तथा उल्लासके साथ एवं विश्वासपूर्वक गरीब, दीन, दुखी, आतुर, दरिद्ररूप नारायणकी सेवा विशेषरूपसे करता रह।' इसपर खोमचेवाला 'बहुत अच्छा' कह अपने घर लौट गया और महात्माजीके आज्ञानुसार पुनः विशेष उत्साहपूर्वक दुखियोंकी सेवा करने लगा।

उसी शहरमें झोपड़ी बाँधकर एक लकड़ी बेचनेवाला रहता था; वह जंगलसे सूखी लकड़ी लाकर उसे बेचकर बड़ी कठिनतासे अपनी उदरपूर्ति करता था। एक दिनकी बात है कि जंगलमें उसे समीपमें लकड़ियाँ नहीं प्राप्त हुईं तो

वह कुछ दूर चला गया, जिससे उसे लौटनेमें विलम्ब हो गया। जब वह लकड़ियाँ लेकर वापस आया तब दिनके बारह बज गये और ग्रीष्मकालकी कड़ी धूपके कारण वह पसीनेसे तर हो गया। वह अभी शहरसे एक मील दूरपर था, तब उसका जी मिचलाने लगा और वह चक्कर खाकर जमीनपर गिर पड़ा। लकड़ियोंका गट्ठर उसके सिरसे एक किनारे गिर गया और वह बेहोश हो गया।

इसी समय वह खोमचेवाला अपने गाँवसे खोमचा लेकर शहरकी ओर चला; रास्तेमें लकड़हारेको मूर्च्छित पड़ा देखकर उसके हृदयमें दया आ गयी। खोमचेवालेके पास उबले हुए चने और जल पर्याप्त था ही, उसने तुरंत एक चुल्लू जल लेकर उसके मुखपर छिड़का, कुछ जल उसके मुखमें डाल दिया और कपड़ेके पल्लेसे उसे हवा करने लगा, जिससे लकड़हारेको कुछ होश हुआ और उसने आँखें खोलीं। जब वह होशमें आकर बैठा, तब खोमचेवालेने उसको पेड़की छायामें ले जाकर और उसे नितान्त गरीब, दुखी और भूखा समझकर खानेके लिये उबले हुए यथेष्ट चने दे दिये और जल पिला दिया। इससे उसकी आत्मा बड़ी ही तृप्त हुई और उसने अपनी सारी दुःख-कहानी खोमचेवालेको कह सुनायी। तदनन्तर वह उस खोमचेवालेका आभारी होकर विनययुक्त वचनोंसे उसकी स्तुति करने लगा। इसपर खोमचेवालेने कहा—'भैया ! स्तुति करनेयोग्य तो भगवान् हैं। यह जो कुछ है, भगवान्का ही है; मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। स्तुति तो तुझे भगवान्की ही करनी चाहिये। और मेरे लायक जो सेवा-चाकरी हो सो बतला, मैं तेरी सेवामें उपस्थित हूँ।' लकड़हारेने कहा—'अब मैं सबल हो गया हूँ, मुझे कोई तकलीफ नहीं है, यह लकड़ीका बोझा मेरे सिरपर उठा दो, जिससे मैं शहरको चला जाऊँ।' खोमचेवालेने उसका गट्ठर सिरपर उठा दिया और वह शहरकी ओर चल पड़ा।

इसके पश्चात् ज्यों ही खोमचेवाला अपना खोमचा और जलपात्र लेकर शहरको ओर चलनेको उद्यत हुआ कि भगवान् प्रकट हो गये। भगवान्के दर्शन करके उसके रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगे, उस समय उसके आनन्द और शान्तिका पारावार नहीं रहा। तब भगवान्ने उससे कहा—'गरीब-दुखीके रूपमें की हुई तेरी सेवासे मैं संतुष्ट हूँ, अब जो इच्छा हो सो वरदान माँग।'

खोमचेवाला बोला—'प्रभो ! आज आपने अपना दर्शन देकर मुझे कृतार्थ कर दिया, अब इससे बढ़कर और है ही क्या; जिसे मैं माँगू।' भगवान्‌के बारंबार आग्रह करनेपर उसने पुनः कहा—'आपमें मेरा अनन्य विशुद्ध प्रेम सदा बना रहे।' इसपर भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

खोमचेवाला भगवान्‌के प्रेमानन्दमें निमग्न होकर महात्माजीके पास आया और उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणिपात करनेके बाद अपनी सारी घटना उनसे आद्यन्त कह सुनायी। महात्माजी बोले—'इस दरिद्र, दुखी, गरीब लकड़हारेको जो तूने चने खिलाकर जल पिलाया—तेरा यह सेवाकार्य बहुत ही श्रेष्ठ हुआ। पहले तेरे जितने सेवाकार्य हुए, उनमें यह सबसे बढ़कर है।' खोमचेवाला महात्माजीकी वाणी सुनकर आनन्दमग्न हो गया और उनको नमस्कार करके अपने घर लौट गया।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि दुखी-अनाथ प्राणियोंकी सेवा करते-करते भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब हो तो उकतावें नहीं, वरं सबमें भगवद्-बुद्धि करके निष्कामभावसे परम श्रद्धा, विश्वास, विनय और प्रेमपूर्वक तत्परताके साथ सेवा करते ही रहे।' सेवामें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवद्भाव और निष्कामभाव होनेसे वह उच्चकोटिकी साधना हो जाती है। अतः यह साधन करते हुए इन भावोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहनी चाहिये। उपर्युक्त दोनों भाव (भगवद्भाव और निष्कामभाव) साथ रहें तब तो बात ही क्या, इनमेंसे केवल एक भाव भी रहे तो भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। अतएव हमलोगोंको समस्त प्राणियोंमें उस परब्रह्म परमात्माको व्याप्त समझकर सबकी सेवा और परोपकार करनेमें तत्पर होकर लग जाना चाहिये।

——::०:०::——

महत्त्वपूर्ण प्रवचन *

एक सिद्धान्तकी बात कही जाती है। वह अत्यन्त रहस्यकी और मूल्यवान् बात है। मैं जब सबको प्रश्न करनेके लिये समय देता हूँ, तब कोई भाई यदि कुछ पूछते हैं तो उनका पूछना न्याय है, अधिकार है। उस समय उन्हें कोई भी रोके, तो उनका रोकना अनुचित है। जिस समय धारावद्ध व्याख्यान चल रहा हो, उस समय बीचमें कोई पूछे तो उसे मैं स्वयं ही निषेध कर देता हूँ कि 'आप अपनी बात नोट कर लें, या याद रखें और व्याख्यानकी समाप्तिपर पूछ लें, अभी पूछनेसे प्रसङ्गका प्रवाह टूट जायगा।' क्योंकि उस समय किसीका पूछना उचित नहीं है, इसीसे रुकनेके लिये प्रार्थना कर दी जाती है।

रहस्यकी बात यह समझनेकी है कि जिस समय अवसर दिया जाता है, उस समय पूछनेवालेकी बात किसी दूसरेको अनुचित मालूम देती हो तो उसे सहन करना चाहिये अथवा उसे यदि उसका पूछना सहन न हो तो दूसरी जगह जाकर भजन-ध्यान करना चाहिये। मेरे समयके लिये मैं स्वतन्त्र हूँ और आपका समय आपकी स्वतन्त्रतामें है। यदि मैं अपने ऊपर सबका अधिकार मानूँ तो मेरे उस अधिकारको दूसरा कोई अकेला कैसे छीन सकता है ? इस न्यायसे सभी अपने

---

* यह ऋषिकेशमें गङ्गाजीके तटपर वटवृक्षके नीचे दिये हुए एक प्रवचनका कुछ अंश है।

इच्छानुसार पूछ सकते हैं।

कोई यह कहे कि 'आपके साथ हमारा अधिक प्रेम है, हम आपके अनुयायी हैं; दूसरे आदमी नये हैं। वे आपके भावोंको नहीं जानते, अतः आपका समय नष्ट करते हैं।' तो मैं कहूँगा कि 'आप मेरे मित्र हैं तो मैं जिस तरह सबको प्रश्न करनेके लिये अवसर देता हूँ—उसीमें आपकी सम्मति होनी चाहिये। मेरी प्रसन्नतामें ही आपको प्रसन्न होना चाहिये। जिसे मैं अच्छा समझूँ, उसीको आप अच्छा समझें। यदि मैं किसीकी बात सुन रहा हूँ तो आप भी सुनें।' यदि कहें कि 'आप सहन कर सकते हैं, हम नहीं।' तो आप अलग बैठ सकते हैं। आप कहें कि 'हमारा समय व्यर्थ चला गया' तो इसका उत्तर यह है कि 'आप यदि उसे व्यर्थ गया समझते हैं तो अवश्य व्यर्थ गया।' आपने इतने वर्षोंतक इतनी बातें सुनकर क्या यही सार निकाला कि अपने मनके अनुकूल बात सुनना, दूसरी नहीं ? यदि ऐसी बात है तो आपकी यह समझ ठीक नहीं है। फिर, आपने आजतक कितनी बातें सुनीं और उनमें कितनी आप काममें लाये ? यदि सुनी हुई बातें काममें लायी जातीं तो कल्याण हो सकता था। प्रश्न करनेवाले दूसरे भाई शायद काममें भी ला सकते हैं। ऐसी परिस्थितिमें उन्हें रोकना कैसे उचित हो सकता है ? वे यदि सुनी हुई बातको काममें लावें तो वे आपसे भी बढ़कर अधिकारी हो सकते हैं।

जो सज्जन मेरी बात सुनना चाहते हैं; किंतु दूसरेके प्रश्न कर लेनेपर उनको वह मौका नहीं मिलता तो इससे उन चुप साधनेवालोंके लिये कोई नुकसान नहीं है, क्योंकि मुझको इस बातका ख्याल है। जितना समय शेष रहेगा, उसीको मैं अधिक मूल्यवान् बनानेका प्रयत्न करूँगा। फिर पूछनेवालेका पूछना यदि मैं ठीक नहीं समझूँगा तो मैं अपने-आप ही उन्हें मना कर दूँगा। आप मना करते हैं, इसका अभिप्राय तो यह है कि आप अपनेको अधिक बुद्धिमान् समझते हैं।

यदि आप कहें कि 'फिर हमें क्या करना चाहिये ?' तो इसका उत्तर यह है कि 'जो होता है, उसे भगवान्‌का विधान या लीला समझकर प्रसन्न होना चाहिये।' आप कहें कि 'हममें इतनी श्रद्धा नहीं है।' सो श्रद्धा न होनेपर भी आपको सहन करना चाहिये और दूसरोंके हितके लिये उनको मौका देना चाहिये। जिसको हम अपनेसे अधिक बुद्धिमान् मानते हैं, वह कहे-जैसा ही करे, अपनी

बुद्धि न लगावे तो इसमें हम घाटेमें नहीं रहेंगे। यदि हम घाटा मानते हैं तो फिर हमने अपने-आपको ही अधिक बुद्धिमान् समझा। यह सब बहुत रहस्य और सिद्धान्तकी बातें हैं।

अब एक और दूसरी सिद्धान्तकी बात अपना दृष्टान्त देकर बतलाता हूँ—(१) एक भाई मेरी पूजा आदि विशेष सत्कार करता है, (२) दूसरा भाई मेरी पूजा आदि तो नहीं करता पर मेरी सेवा करके मेरे शरीरको आराम पहुँचाता है, (३) तीसरा भाई मेरे आचरणोंका अनुकरण करता है और (४) चौथा भाई मैं जो कुछ कहता हूँ, उसके अनुसार जीवन बिताता है। इनमें जो मेरे कहनेके अनुसार जीवन बिताता है, उसके कल्याणमें कोई शङ्का नहीं, क्योंकि जो कुछ कहा जाता है, वह उपनिषद्, गीता, रामायण आदि शास्त्रोंके सिद्धान्त ही कहे जाते हैं। मैं तो केवल अनुवादमात्र कर देता हूँ। गीता भगवान्‌की वाणी है, वेद अपौरुषेय हैं तथा आर्ष ग्रन्थ भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके वाक्य हैं। वे हम सबके लिये आदर्श हैं। उनके अनुसार यदि मैं पालन करूँ तो मेरा हित है और आप पालन करें तो आपका हित है। इनके पालन करनेसे कल्याण होनेमें कोई शङ्का नहीं। इसके लिये मैं गारंटी दे सकता हूँ। यह कहनेमें मुझे कोई संकोच नहीं है; क्योंकि मैं तो इन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर कहता हूँ, अपनी बात नहीं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

सत्य बचन आधीनता, परतिय मातु समान।
इतनेमें हरि ना मिले तो तुलसीदास जमान॥

श्रीतुलसीदासजी 'जमान' कहकर अपनी गारंटी देते हैं, यदि वे यह कहते कि मेरी सेवा करनेसे भगवान् मिलते हैं तो कोई कामकी बात नहीं थी, पर यहाँ तो वेदों और शास्त्रोंकी बात थी। उसपर उनका पूरा विश्वास था, उनकी अनुभव की हुई बात थी। अतः श्रीतुलसीदासजी गारंटी दे सकते हैं। उनका यह कहना युक्तिसङ्गत है।

यदि मैं कोई भी व्यक्तिगत बात कहूँ कि मेरी सेवा करनेसे उद्धार हो जायगा तो यह मेरा कहना अनुचित और अहंकारयुक्त होगा। ऐसा तो केवल भगवान् ही कह सकते हैं, वे नित्यमुक्त हैं। पर मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ; क्योंकि मेरा जन्म गुण और कर्मके अनुसार हुआ है। गीतामें कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

(४ । १३)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

मैं तथा आपलोग सभी गुण और कर्मोंके अनुसार जन्म लेनेवाले हैं; परन्तु भगवान् इससे विलक्षण हैं। गीतामें उन्होंने स्वयं कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

(४ । ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

इस प्रकार भगवान् ही कह सकते हैं, मैं तथा आपलोग नहीं। इसीलिये भगवान्ने तो यह भी कहा है कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(९ । ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

मनुष्य यह नहीं कह सकता। अतः श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, गीता, रामायण आदिके आधारपर जो बातें सुनायी जाती हैं, उनके अनुसार जीवन बिताना सर्वोत्तम बात है।

जो भी आपकी सेवामें प्रार्थना और विनयके रूपमें निवेदन किया जाता है, उसे आप काममें लावें तो मैं अपनेको आपका बड़ा आभारी मानता हूँ, मेरे ऊपर आपकी कृपा मानता हूँ। आप कहेंगे कि 'काममें लानेसे लाभ हमें होगा, इसमें

हमने आपपर क्या कृपा की', तो इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि आप मेरी बात सुनने आये हैं, तभी तो मैंने भाषण दिया । मैं जो कुछ भी बात आपकी सेवामें निवेदन करता हूँ, वह सबसे प्रथम मेरी बुद्धि में आती है; दूसरे, मेरे मनमें आती है; तीसरे, मैं वाणीसे कहता हूँ; चौथे आप उसे सुनते हैं; पाँचवें, उसे आपका मन ग्रहण करता है; छठे, आपकी बुद्धि समझती है। अर्थात् मेरी बुद्धिमें जो बात आती है, वह पाँच स्तरोंको पार करके तब आपकी बुद्धिके पास पहुँचती है। जो बात मेरी बुद्धिमें आती है, वह सब-की-सब मनकी कल्पनामें नहीं आ सकती। मन जितनी कल्पना करता है, उतनी वाणीसे कही नहीं जा सकती। जितनी कुछ कहनेमें आती है, उतनी पूरी-पूरी आप सब सुन नहीं पाते; क्योंकि आपलोगोंका मन इधर-उधर चला जाता है। जो सुनी जाती है वह सब-की-सब ज्यों-की-त्यों याद नहीं रहती और जितनी याद रहती है, उतनी सब बुद्धिमें धारण नहीं होती। इतनेपर भी, जब सुननेवालोंको लाभ होता है, तब फिर कहनेवालेको तो विशेष लाभ होना ही चाहिये। अतः मेरा यह कहना उचित ही है कि आपलोगोंका मैं आभारी हूँ; क्योंकि आपलोगोंके निमित्तसे ही तो मेरे हृदयमें ये बातें पैदा हुई। नहीं तो यहाँ बैठकर मैं अकेला बड़ (बरगदके पेड़) को थोड़े ही सुनाता।

अब दूसरी बात आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ कि मैं आपकी सेवामें जो कुछ कहता हूँ, इसमें यदि मैं दलाली चाहूँ तो मुझे दलाली मिल सकती है; किंतु सुननेवाले न मिलें तो दलाली कैसे मिले ? इस कारणसे भी मैं आपका आभारी हूँ। यदि आप कहें कि 'यह आभार दूर कैसे हो' तो इसका उत्तर यह है कि आप जिस उद्देश्यसे यहाँ आये उसकी पूर्ति हो, तब मैं आपके ऋणसे मुक्त हो जाऊँ। प्रायः आपलोगोंके यहाँ आनेका उद्देश्य अपनी आत्माके उद्धारके लिये है और आपका उद्धार करना मेरी सामर्थ्यके बाहर है। भगवान् ही आप सबका उद्धार करके मुझको इस आभारसे मुक्त कर सकते हैं, क्योंकि जैसे किसी मनुष्यपर जब ऋण बहुत बढ़ जाता है और वह उसे चुकानेमें असमर्थ होता है, तब वह सरकारकी शरणमें चला जाता है। फिर सरकार उसकी पूँजीके अनुसार ऋणदाताओंको दो, चार या छः आने चुकाती है। किंतु भगवान् सर्वसामर्थ्यवान् हैं, इसलिये उनके शरणापन्न हो जानेपर वे पूरा-का-पूरा सोलहों आना चुका देते हैं।

(२) जो मेरे आचरणोंका अनुकरण करता है, उसके उद्धार होनेकी गारंटी मैं नहीं दे सकता, क्योंकि मेरे आचरण अच्छे भी हैं, बुरे भी हैं। सभी आचरण कल्याण करनेवाले नहीं हैं। यदि मेरे ऐसे आचरण होते, जिनके लिये गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

तो मैं भी गारंटी दे सकता था। उपनिषदोंमें आता है कि आचार्य अपने शिष्यको स्नातक बनाकर विदा करते समय उपदेश देते हुए कहते हैं—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली १, अनुवाक ११)

'वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर आचार्य अपने विद्यार्थीको शिक्षा देता है कि तुम सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, स्वाध्यायसे कभी न चूको, आचार्यके लिये दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन लाकर दो, फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके संतान-परम्पराको चालू रखो, उसका उच्छेद न करना। तुमको सत्यसे (कभी) नहीं डिगना चाहिये, धर्मसे नहीं डिगना चाहिये, शुभ कर्मोंसे (कभी) नहीं चूकना चाहिये, उन्नतिके साधनोंसे (कभी) नहीं

चूकना चाहिये, वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें (कभी) भूल नहीं करनी चाहिये, देवकार्य और पितृकार्यसे (कभी) नहीं चूकना चाहिये।'

'तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो, पिताको देवरूप समझनेवाले होओ, आचार्यको देवरूप समझनेवाले बनो, अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले होओ। जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका सेवन करना चाहिये, दूसरे दोषयुक्त कर्मोंका कभी आचरण नहीं करना चाहिये। हमारे आचरणोंमेंसे भी जो-जो अच्छे आचरण हैं, उनका ही तुमको सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।'

जब इतने बड़े-बड़े आचार्य ऐसा कहते हैं, तब मैं किस आधारपर कहूँ कि मेरे सारे आचरण अच्छे हैं और उनका अनुकरण करनेसे आपका कल्याण हो सकता है। यह तो छोटे मुँह बड़ी बात होगी। मेरे आचरणोंमें जो कोई शास्त्रानुकूल प्रतीत हों, उनको कोई काममें लावें तो मैं उनका आभारी हूँ।

(३) जो कोई मेरे शरीरको आराम पहुँचाता है, सेवा करता है, उसके लिये भी कल्याण होनेकी गारंटी मैं नहीं दे सकता, क्योंकि यह उससे भी नीची श्रेणी है। जो मेरी सेवा करता है, उसका मैं आभारी तो हूँ, क्योंकि मैं बदलेमें उसकी सेवा नहीं करता। अतः उसका ऋणी हूँ। 'पर मेरी सेवासे कल्याण हो जायगा' यह विश्वास नहीं दिलाया जा सकता। यदि वह भी मेरे अच्छे आचरणोंका अनुकरण करेगा तो अच्छा फल अवश्य मिल सकता है, पर मेरी सेवासे कल्याण हो जाय, यह नहीं कहा जा सकता।

(४)जो मेरी जूठन खाना, पूजा-आरती करना, ध्यान करना, चरणधूलि लेना, चरण धोना आदि करना चाहता है, वह तो मुझपर कलङ्क लगाता है। यह क्रिया मेरे मनके अत्यन्त विरुद्ध और अन्याययुक्त है। अतः मैं इसका घोर विरोध करता हूँ। जो कोई ऐसा करता है, वह स्वयं अपना, मेरा और संसारका—सबका अहित करता है, इसलिये वह तो नरकका भागी होता है, क्योंकि इसका दूसरोंपर बुरा असर पड़ता है, दूसरे समझते हैं कि यदि इनकी सम्मति न होती तो ये लोग इनकी पूजा आदि क्यों करते।

इस चौथेके सिवा ऊपरके तीनों प्रकारके व्यक्तियोंका मैं ऋणी हूँ।

अब कुछ सार-सार बातें निवेदन करता हूँ, क्योंकि जो भाई यहाँ आये हुए हैं, वे अब शीघ्र ही जानेवाले हैं। इन सार बातोंको समझकर पहले स्वयं पालन करें, फिर दूसरोंमें इनका प्रचार करें, क्योंकि वही पुरुष प्रचार कर सकता है, जो स्वयं पालन करता है। जो स्वयं पालन नहीं करता, उसका दूसरोंपर असर नहीं पड़ सकता। जो बात हमारे लिये लाभ की है, वह सबके लिये लाभकी है; इसलिये अच्छी चीजका लोगोंमें प्रचार करें। अतः यहाँ जो नियम बताये जाते हैं, उनका स्वयं पालन करके ही लोगोंमें प्रचार करना चाहिये। वे नियम इस प्रकार हैं—

(१) हर समय भगवान्‌के नाम-रूपको याद रखनेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करते रहना चाहिये अर्थात् अपने मनमें यह निश्चय कर ले कि हम यथाशक्ति हर समय भगवान्‌को याद रखेंगे, जानकर उनको कभी नहीं भूलेंगे। यह पहला नियम है। यथाशक्तिका अर्थ है अपनी सामर्थ्यके अनुसार प्रयत्न करते रहना। भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान दोनों हो, तो बहुत ही अच्छा है। जप वाणी या श्वाससे और ध्यान मनसे करे या दोनों मनसे।

यदि किसीसे जप, ध्यान दोनों एक साथ न बनें, तो नामजप या स्वरूपका चिन्तन—दोनोंमेंसे एक तो अवश्य ही करना चाहिये। इस नियमका पालन सदा-सर्वदा आजीवन करता रहे। कोई कहे कि 'बीचमें भगवत्प्राप्ति हो जाय, अपना कल्याण हो जाय तो फिर क्या जरूरत है ?' सो अपना कल्याण होनेपर भी लोकसंग्रह यानी दूसरोंके कल्याणके लिये करना चाहिये। वास्तवमें तो जिनको भगवान् मिल जाते हैं, उनसे उपर्युक्त साधन छूट ही नहीं सकता। जो छोड़ते हैं, समझना चाहिये कि उन्हें भगवान् मिले ही नहीं।

(२) स्त्रियाँ दूसरे पुरुषोंको पिता-भाईके समान और पुरुष पर स्त्रियोंको माता-बहिनके समान समझें। इसके लिये विशेष प्रयत्न करें। मनसे या दृष्टिसे भी दोष घट सकता है, यदि ऐसा दोष घट जाय तो अपनेको धिक्कार दे और भगवान्‌के शरण होकर सावधानीके साथ भगवान्‌से प्रार्थना करे। अर्थात् काम-क्रोध आदि कोई भी शत्रु आक्रमण करे तो 'हे नाथ ! हे नाथ !' इस प्रकार पुकार लगावे। इस तरह पुकार लगानेपर काम-क्रोध आदि शान्त हो जाते हैं। जैसे चोर-डाकूके घरमें घुसनेपर 'पुलिस-पुलिस' की पुकार लगानेसे चोर-डाकू भाग जाते हैं, वैसे ही

काम-क्रोधादि भाग जाते हैं। यह बात निश्चय की हुई है।

(३) यदि आप उचित समझें तो नित्यप्रति सब घरके आदमी इकट्ठे होकर घरमें ही अपने सुविधानुसार प्रातःकाल और रात्रिमें गीता, रामायण, भागवत आदि किसी भी ग्रन्थका क्रमशः स्वाध्याय करें। चाहे आधा घंटा ही हो यथाशक्ति प्रयत्न करें। यह बड़े लाभकी चीज है। जो पढ़ा हुआ हो, जानकार हो, वह सुनावे और दूसरे सब सुनें। घरमें जहाँतक हो, अपने ही घरके आदमियोंमेंसे किसीसे सुने।

इसी तरह घरमें ही भगवान्‌की मूर्ति स्थापित करके पूजा करे तो वह मन्दिरोंमें जाकर करनेसे श्रेष्ठ है। मन्दिरोंमें हम अपने हाथसे पूजा, नैवेद्य, आरती आदि नहीं कर सकते, केवल उसका दर्शन कर सकते हैं। घरमें अपने हाथों कर सकते हैं। अतः यह विशेष मूल्यवान् है। शरीरसे पूजा करनेकी अपेक्षा मानसिक पूजा और भी अधिक कीमती है; क्योंकि मानसिकमें मन भी इधर-उधर नहीं जा सकता। किसी-किसी मन्दिरमें पुजारी सदाचारी न होनेसे कई तरहकी बाधा भी आ जाती है, जो घरमें नहीं आती। इसीलिये घरमें पूजा करनेकी बातको मूल्यवान् बताया गया। आप मुझसे पूछेंगे कि 'आपके घरमें स्त्रियाँ पूजा करती हैं, आप भी करते हैं क्या'? तो कहना तो नहीं चाहिये, पर कहा जाता है कि 'मैं मानसिक पूजा करता हूँ।'

(४) नित्य बलिवैश्वदेव करें। बलिवैश्वदेव करना एक प्रकारसे सारे संसारको भोजन देना है। यह बहुत ही उत्तम चीज है और इसमें कोई विशेष खर्च भी नहीं है।' *

(५) घरमें जो बड़े हैं, प्रातः उठकर उनके चरणोंमें नमस्कार करना चाहिये। भगवान्‌ने शरीरका तप बतलाते हुए आरम्भमें ही यह कहा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

---

* बलिवैश्वदेवकी छपी हुई विधि गीताप्रेस, गोरखपुरसे मिल सकती है।

आपलोगोंमेंसे जो नहीं करते, उनको भी घर लौटकर इसे आरम्भ कर देना चाहिये। आपको इस प्रकार करते देखकर आपके बालकोंको तथा अन्य लोगोंको भी शिक्षा मिलेगी।

(६) जैसे आपने माला फेरने (भगवन्नामका मालासे जप करने) का नियम लिया है, उसका आप तो पालन करें ही, घरवालोंको भी नियम दिलानेका प्रयत्न करना चाहिये तथा घरमें यज्ञोपवीत होते हुए संध्या तथा गायत्री-जप नहीं करते, उनके द्वारा छोटे हों तो प्यारसे समझाकर और बड़ोंसे विनीत प्रार्थना करके आरम्भ करानेका प्रयत्न अवश्य करें।

(७) गीताका प्रचार करना चाहिये। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(१८।६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

जब मैंने गीता पढ़ी और ये श्लोक पढ़े तो उनका मेरे ऊपर बड़ा असर पड़ा कि भगवान्‌को इसका प्रचार बहुत ही प्रिय है और तबसे यह बात मुझे अच्छी लगी। अतः आपलोगोंको भी भगवान्‌की भक्ति करते हुए यथाशक्ति गीताके प्रचारकी चेष्टा करनी चाहिये।

(८) आप जीविकाके लिये झूठ, कपट, चोरी न करें। भगवान् सबकी रक्षा करते हैं। यदि धर्मका पालन करते हुए मृत्यु भी हो जाय तो कोई हर्ज नहीं, बल्कि उसमें महान् लाभ है। हमें यदि न्यायसे अन्न न मिलता हो और अन्याय न करनेके कारण अन्नके बिना मरना पड़ता हो तो वह मरना भी हमारे लिये कल्याणकारी है, क्योंकि हम धर्मका पालन करते हुए मरते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३।३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

(९) स्वाद, शौकीनी, ऐश-आराम, भोग, करने योग्य कामको न करना और न करने योग्यको करनारूप प्रमाद, अकर्मण्यता, दीर्घसूत्रता, निद्रा-तन्द्रा आदि आलस्य, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष आदि दुर्गुण, झूठ, कपट-चोरी, व्यभिचार आदि पाप तथा चौपड़-ताश खेलना, नाटक-सिनेमा देखना, क्लब आदिमें जाना, भाँग, तम्बाकू, बीड़ी-सिगरेट आदि नशीली वस्तुओंका सेवन करना, दिनमें सोना आदि दुर्व्यसन—इनको विषके समान समझकर सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये।

(१०) क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, सरलता, विनय आदि सद्गुण, यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्यका पालन, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा, परोपकार आदि सदाचार तथा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका श्रवण, कीर्तन, मनन और पूजन-नमस्कार आदि ईश्वर-भक्तिको अमृतके समान समझकर सदा सेवन करना चाहिये।

इनमें ईश्वरकी भक्ति करनेसे दुर्गुण-दुराचार, प्रमाद, आलस्य, भोग, दुर्व्यसन, दुःख और विकारोंका अत्यन्त अभाव होकर सद्गुण-सदाचार अपने-आप ही आकर प्राप्त हो जाते हैं और कुछ न बने तो भगवान्‌के नामका जप और ध्यान हर समय करना चाहिये। केवल जप और ध्यानके प्रभावसे भी उपर्युक्त सारी बातें अपने-आप ही प्राप्त हो सकती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो कर सदाके लिये परम शान्ति एवं परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव भगवान्‌के नाम-रूपको हर समय याद रखना चाहिये।

——::०::——

जीवनकी सफलताके लिये अनुपम शिक्षा

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३ । ८)

इस श्लोकके भावको हृदयङ्गम करानेके लिये नीचे एक कहानीकी कल्पना की जाती है—

अवन्तिकापुरीका राजा विष्वक्सेन बड़ा ही धर्मात्मा था। उसका राज्य धन-धान्यसे परिपूर्ण था। प्रजा उसकी आज्ञामें थी। उसके यहाँ किसी भी पदार्थकी कमी नहीं थी, किंतु उसके कोई संतान नहीं थी। वह एक बड़े सद्गुणसम्पन्न, सदाचारी और विरक्त महात्मा पुरुषके पास जाया करता था और उन महात्माकी सेवा-शुश्रूषा किया करता था।

एक दिन महात्माने पूछा—तुम बहुत दिनोंसे हमारे पास आते हो, तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है ?

विष्वक्सेनने कहा—मेरे यहाँ किसी भी चीजकी कमी नहीं है। आपकी कृपासे मेरा राज्य धन-धान्यसे पूर्ण है, पर मेरे कोई पुत्र नहीं है, यही एक अभाव है। आप कृपापूर्वक ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मुझे एक बहुत उत्तम पुत्रकी प्राप्ति हो।

महात्माने कहा—तुम पुत्र-प्राप्तिके लिये विष्णुयाग करो। भगवान् उनकी

समझेंगे तो तुम्हें पुत्र दे सकते हैं।

राजा विष्वक्सेनने महात्माके कथनानुसार यथाशास्त्र विष्णुयागका अनुष्ठान किया। उस यज्ञशेष भोजनके फलस्वरूप उसकी स्त्रीके गर्भ रह गया और दस महीनेके पश्चात् उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बालक बहुत ही सुन्दर और बुद्धिमान् था, मानो कोई योगभ्रष्ट हो। उसके पैदा होनेपर राजाने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार उसके जातकर्मादि संस्कार कराये और उसका नाम रखा 'जनार्दन।' कुछ बड़े होनेपर जनार्दनको घरपर ही अध्यापक बुलाकर विद्याभ्यास कराया गया। कुशाग्रबुद्धि होनेके कारण जनार्दन शीघ्र ही विद्यामें पारङ्गत हो गया। वह संस्कृत आदि भाषाओंका एक अच्छा विद्वान् हो गया। वह सब लड़कोंके साथ बड़ा प्रेम करता। किसीके साथ भी कभी लड़ाई-झगड़ा और गाली-गलौज नहीं करता। वह स्वाभाविक ही सीधे सरल स्वभावका सद्गुणसदाचारसम्पन्न और मेधावी था।

एक दिन राजा विष्वक्सेन महात्माजीके पास गया तो अपने पुत्रको भी साथ ले गया। राजाने महात्माके चरणोंमें अभिवादन किया, यह देखकर लड़केने भी वैसे ही प्रणाम किया।

राजाने कहा—महात्माजी! आपने जो अनुष्ठान बतलाया था, उसके फलस्वरूप आपकी कृपासे ही मेरे यह बालक पैदा हुआ है। अतः इसको कुछ शिक्षा देनेकी कृपा करें।

महात्मा बोले—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना।'

फिर महात्माजीने उस लड़केके हाव-भावको देखकर कहा कि 'यह लड़का योगभ्रष्ट पुरुष प्रतीत होता है। अतः यह आगे चलकर बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बन सकता है।'

यह सुनकर राजा अपने घरपर चला आया और अपनी पत्नी, मन्त्रिगण तथा

सेवकोंको एकान्तमें बुलाकर सारी बातें उन्हें बतलायीं एवं समझा दिया कि इस लड़केको सदा-सर्वदा ऐशो-आराम और स्वाद-शौकीनीके ही वातावरणमें रखना चाहिये। भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातोंसे इसे सर्वदा दूर रखना चाहिये। इस बातका पूरा ध्यान रक्खा जाना चाहिये कि जिससे कोई भी वस्तु इसके भक्ति-विवेक-वैराग्यका कारण न हो जाय।

आज्ञानुसार सारी व्यवस्था हो गयी, किंतु जनार्दनके अन्तःकरणमें जो पूर्वजन्मके प्रबल संस्कार भरे थे, वे कैसे रुक सकते थे? इसके सिवा उसके हृदयपर महात्माजीकी शिक्षाका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। जनार्दन अपने समान आयुवाले लड़कोंके साथ खेलता था; किंतु उसका मन खेल-तमाशों और भोग-आराममें कभी लगता नहीं था। वह जब कभी पर्यटनके लिये बाहर जाता, तब राजाके सिखाये-समझाये हुए बुद्धिमान् मन्त्री विद्यासागर सदा उसके साथ रहते थे।

जब जनार्दनकी १८ वर्षकी आयु हो गयी, तब उसका विवाह कर दिया गया और वह अपनी पत्नीके साथ रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसकी स्त्री गर्भवती हुई। जब संतान होनेका समय आया, तब दिनमें स्त्रीको बड़ा कष्ट हुआ। उसी रातमें लड़का पैदा हुआ; उस समय जनार्दन अपनी स्त्रीके पास ही था। प्रसव-कष्टको देखकर वह बहुत ही घबराया। जेर और मैलेके साथ बच्चेका पैदा होना देखकर उसे बड़ी ही ग्लानि हुई और उसीके साथ सहज ही वैराग्यका भाव भी हुआ।

सबेरा होनेपर मन्त्री आ गये। सब घरवाले एकत्र हुए। रात्रिमें जनार्दनकी पत्नीकी प्रसव-वेदनाका हाल सुनकर सबको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने वैद्योंको बुलाकर दिखलाया। वैद्योंने कहा—'कष्ट तो लड़केको काफी हुआ, पर कोई चिन्ताकी बात नहीं है।'

तब जनार्दनने मन्त्री विद्यासागरसे पूछा—मन्त्री! पैदा होते ही लड़का बहुत ही चिल्लाया और तड़फड़ाया। ऐसा क्यों हुआ?

विद्यासागर बोले—जब बच्चा गर्भमें रहता है, तब सब द्वार बंद रहते हैं और जब वह बाहर निकलता है, तब एक बार उसे बहुत कष्ट होता है।

जनार्दन—यह जेर और मैला क्यों रहता है?

विद्यासागर—यह सब गर्भमें इसके साथ रहते हैं।

जनार्दन—तब तो गर्भमें बड़ा कष्ट रहता होगा ?

विद्यासागर—इसमें क्या संदेह है ? गर्भकष्ट तो भयानक होता ही है।

जनार्दन—गर्भमें यह कष्ट क्यों होता है ?

विद्यासागर—पूर्वजन्मके पापोंके कारण।

जनार्दन—पूर्वजन्म क्या होता है ?

विद्यासागर—जीव पहले जिस मनुष्य-शरीरमें था, वह इसका पूर्वजन्म था। वहाँ इसने कोई पाप किया था, उसीके कारण इसको विशेष कष्ट हुआ।

जनार्दन—पाप किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—झूठ बोलना, कपट करना, चोरी करना, परस्त्री-गमन करना, मांस-मदिरा खाना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना आदि जिन आचरणोंका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है, वे सभी पाप हैं।

जनार्दन—शास्त्र क्या होते हैं ?

विद्यासागर—श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण आदि धर्मग्रन्थ शास्त्र हैं।

जनार्दन—अपने घरमें ये हैं ?

विद्यासागर—नहीं।

जनार्दन—तो मँगा दो, मैं पढ़ूँगा।

मन्त्री विद्यासागर चुप रहे। उन्होंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। मन्त्रीकी उपर्युक्त बातोंको सुनकर जनार्दनका चित्त उदास-सा हो गया। वह गर्भ और जन्मके दुःखको समझकर मन-ही-मन चिन्ता करने लगा—'अहो ! कैसा कष्ट है ' उसका प्रफुल्ल मुखकमल कुम्हला गया। उसके मुखपर विषादकी रेखा प्रत्यक्ष दिखलायी देने लगी। यह देखकर राजाने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्रिवर ! राजकुमारका चेहरा उदास क्यों है ?'

विद्यासागरने कहा—लड़का पैदा हुआ है, इससे इसके चित्तमें कुछ ग्लानि-सी है।

राजा बोला— लड़का होनेसे तो उत्साह और प्रसन्नता होनी चाहिये। फिर उन्होंने जनार्दनसे पूछा 'तुम्हारे चेहरेपर उदासी क्यों है ?'

जनार्दन—ऐसे ही हैं।

राजा विष्वक्सेनने फिर मन्त्रीको आदेश दिया कि इसे हवाखोरीके लिये ले जाओ और चित्तकी प्रसन्नताके लिये बाग-बगीचोंमें घुमा लाओ।

विद्यासागरने वैसा ही किया। बढ़िया घोड़े जुती हुई एक सुन्दर बग्घीमें बिठलाकर वह उसे हवाखोरीके लिये शहरके बाहर बगीचोंमें ले गया। शहरसे बाहर निकलते ही जनार्दनकी एक गलित कुष्ठीपर दृष्टि पड़ी, उस कुष्ठग्रस्त मनुष्यके हाथकी अँगुलियाँ गिरी हुई थीं; पैर, कान, नाक, आँख बेडौल थे। वह लँगड़ाता हुआ चल रहा था।

जनार्दनने पूछा—मन्त्रीजी ! यह क्या है ?

विद्यासागर—यह कुष्ठरोगी है।

जनार्दन—इसकी ऐसी हालत क्यों हो गयी ?

विद्यासागर—पूर्वजन्मके बड़े भारी पापोंके कारण।

जनार्दन—क्या मेरी भी यह हालत हो सकती है?

विद्यासागर—परमात्मा न करे, ऐसा हो। आप तो पुण्यात्मा हैं।

जनार्दन—हो तो सकती है न ?

विद्यासागर—कुमार ! जो बहुत पापी होता है, उसीके यह रोग होता है। आपके विषयमें कैसे क्या कहूँ ? इतना अवश्य है कि आपके भी यदि पूर्वके बड़े पाप हों तो आपकी भी यह दशा हो सकती है।

जनार्दन—इन भारी-भारी पापोंका तथा उनके फलोंका वर्णन जिन ग्रन्थोंमें हो, उन ग्रन्थोंको मेरे लिये मँगवा दीजिये। मैंने पहले भी आपसे कहा था। अब शीघ्र ही मँगा दें।

विद्यासागर—आपके पिताजीका आदेश होनेपर मँगवाये जा सकते हैं।

इतनेमें ही आगे एक दूसरा ऐसा मनुष्य मिला, जिसके शरीर-पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। बाल पककर सफेद हो गये थे, अङ्ग सूखे हुए थे, आँखोंकी ज्योति मन्द पड़ गयी थी। कमर झुकी थी, वह लकड़ीके सहारे कुबड़ाकर चल रहा था, उसके हाथ-पैर काँप रहे थे एवं बार-बार कफ और खाँसीके कष्टके कारण वह बहुत तंग हो रहा था, उसको देखकर राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर—यह नब्बे वर्षका बूढ़ा आदमी है।

जनार्दन—जब मैं नब्बे वर्षका हो जाऊँगा, तब क्या मेरी भी यही दशा होगी ?

विद्यासागर—कुमार ! आप दीर्घायु हों ! मनुष्य जब वृद्ध होता है, तब सभीकी यही दशा होती है।

यह सुनकर राजकुमार जनार्दनको बड़ी ही चिन्ता हुई कि मेरी भी ऐसी दशा हो सकती है। इस प्रकार व्याधि तथा जरासे पीड़ित पुरुषोंको देखकर राजकुमारके मनमें शरीरकी स्वस्थता और सुन्दरतापर अनास्था हो गयी।

तदनन्तर लौटते समय रास्तेमें श्मशानभूमि पड़ी। वहाँ एक मुर्दा तो जल रहा था और एक दूसरे मुर्देको कितने ही लोग 'राम-नाम सत्य है' पुकारते हुए मरघटकी ओर लिये आ रहे थे और कुछ मनुष्य उनके पीछे रोते हुए चल रहे थे।

कुमारने पूछा—यह कौन स्थान है ?

विद्यासागर—यह श्मशानभूमि है।

जनार्दन—यहाँ यह क्या होता है ?

विद्यासागर—जो आदमी मर जाता है, उसे यहाँ लाकर जलाया जाता है।

जनार्दन—यह जुलूस किसका आ रहा है ? जुलूसके पीछे चलनेवाले लोग रोते क्यों हैं ?

विद्यासागर—मालूम होता है, किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है, उसके घरवाले श्मशानभूमिमें उसके शवको ला रहे हैं। ये रोनेवाले लोग उसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं।

जनार्दन—मृत्यु और शव किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—इस शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणका निकल जाना 'मृत्यु' है। जब आदमी मर जाता है, तब उसके शरीरको शव कहा जाता है और फिर घरवाले उसे यहाँ लाकर जला देते हैं एवं वापस घर चले जाते हैं।

जनार्दन—तो फिर ये रोते क्यों हैं ?

विद्यासागर—मालूम होता है, मरनेवालेका इन सबके साथ बहुत प्रेम रहा है। अब वह पुरुष सदाके लिये इनसे बिछुड़ गया है, इस बिछोहके दुःखसे ये घरवाले रो रहे हैं।

जनार्दन—क्या हम भी एक दिन मरेंगे ?

विद्यासागर—कुमार ! ऐसा न कहें। परमात्मा आपको सौ वर्षकी आयु दें।

जनार्दन—जो कुछ भी हो, पर आखिर एक दिन तो मरना ही होगा न ?

विद्यासागर—कुमार ! एक दिन तो सभीको मरना है। जो पैदा हुआ है, उसका एक दिन मरना अनिवार्य है।

मन्त्रीके वचन सुनकर राजकुमार चिन्तामग्न हो गया।

तदनन्तर आगे चलनेपर मार्गमें एक विरक्त महात्मा दिखलायी पड़े। राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर—यह एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा है।

जनार्दन—जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—जिन्होंने भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है।

जनार्दन—कल्याण किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—विवेक-वैराग्य और भजन-ध्यान आदिके साधनों-द्वारा होनेवाली परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्तिको 'कल्याण' कहते हैं। कल्याणप्राप्त मनुष्यको ही 'जीवन्मुक्त महात्मा' कहते हैं। वह सदाके लिये परमात्माको प्राप्त हो जाता है और फिर वह लौटकर जन्म-मृत्युरूप असार संसारमें नहीं आता। वस्तुतः संसारमें ऐसे ही पुरुषका जन्म लेना धन्य है।

जनार्दन—क्यों मन्त्री महोदय ! क्या मैं भी ऐसा बन सकता हूँ ?

विद्यासागर—क्यों नहीं, जो हृदयसे चाहता है, वही बन सकता है। किंतु आप अभी बालक हैं, आपको तो संसारके सुख विलास और भोग भोगने चाहिये। यह तो शेष कालकी बात है।

जनार्दन—तो क्या युवावस्थामें आदमी मर नहीं सकता ? अभी रास्तेमें जो जुलूस जाता था, उसके विषयमें तो आपने बतलाया था न कि यह जवान लड़का मर गया है ?

विद्यासागर—मर सकता है। पर पूर्वका कोई बड़ा भारी पाप होता है, तभी मनुष्य युवावस्थामें मरता है।

जनार्दन—तो क्या मेरे युवावस्थामें न मरनेकी कोई गारंटी है ?

विद्यासागर—गारंटी किसीको भी नहीं हो सकती। मरनेमें प्रधान कारण प्रारब्ध ही है।

यह सुनकर राजकुमार जनार्दन बहुत ही शोकातुर हो गया और मन-ही-मन विचारने लगा कि मेरा जल्दी-से-जल्दी कल्याण कैसे हो।

वह घरपर आया। उसके चेहरेपर पहलेकी अपेक्षा अधिक उदासी देखकर राजा विष्वक्सेन चिन्ता करने लगा। तीसरे दिन फिर राजकुमारकी वही अवस्था देखकर विष्वक्सेनने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्री ! मैं देखता हूँ, राजकुमारका चेहरा नित्य मुरझाया हुआ रहता है, इसपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखाई देता ! ऐसा क्यों हो गया ?'

विद्यासागर—राजन्! क्या कहा जाय! तीन दिन हो गये, जबसे राजकुमारके पुत्र हुआ है, तभीसे इनकी यही अवस्था है।

राजाने मन्त्रीसे पुनः कहा—इसको खूब सुख-विलास और विषयभोगमें लगाओ। इसके साथी मित्रोंको समझाकर उनके साथ इसको नाटक-खेल और कौतुक-गृहोंमें ले जाओ। खानेके लिये नाना प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थ और मेवे-मिष्टान्न दो। सुन्दर-सुन्दर चित्ताकर्षक दृश्य दिखाओ। इत्र, फुलेल आदि इसके सिरपर छिड़को। नृत्य-वाद्य आदिका आयोजन करके इसके मनको राग-रंगमें लगाओ।

मन्त्रीने राजाके आज्ञानुसार सारी व्यवस्था की; किंतु सब निष्फल ! राजकुमारको तो अब संसारकी कोई भी वस्तु सुखदायक प्रतीत नहीं होती थी। उसे सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर, दुःखदायी और अत्यन्त रूखे प्रतीत होते थे। भोगोंमें ग्लानि हो जानेसे वे त्याज्य प्रतीत होते। भोगोंका सेवन राजकुमारको एक महान् झंझट-सा प्रतीत होता। इत्र, फुलेल आदि उसे पेशाबके तुल्य मालूम होते। पुष्पों की शय्या, पुष्प और मालाएँ तथा चन्दन उसे वैसे ही नहीं सुहाते, जैसे कफ-खाँसीके रोगीको गीले वस्त्र। वीणा-सितारका बजाना-सुनना उसके कानोंको एक कोलाहल-सा प्रतीत होता। नाटक-खेल, कौतुक-तमाशे व्यर्थके झंझट दीखने लगे। बढ़िया-बढ़िया फल, मेवे, मिष्टान्न आदि पदार्थ ज्वराक्रान्त रोगीकी तरह अरुचिकर और बुरे मालूम देने लगे। शरीर और विषयोंमें उसका तीव्र वैराग्य होनेके कारण

संसारका कोई भी पदार्थ उसे सुखकर नहीं प्रतीत होता। उसका कहीं किसी भी विषयमें कोई भी आकर्षण नहीं रह गया था।

उसके मुखमण्डलकी विशेष विषण्ण तथा चिन्तायुक्त उदासीन मुद्राको देखकर राजाने पूछा—'तीन दिन हुए, जबसे तुम्हारा लड़का पैदा हुआ है, मैं तुम्हारे मुखको ग्लानियुक्त और चिन्तामग्न देख रहा हूँ, इसका क्या कारण है ? हर्ष और उत्साहके अवसरपर यह ग्लानि और चिन्ता कैसी ?'

जनार्दनने कहा—पिताजी ! आपका कहना सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य है। जब लड़का पैदा हुआ, तब गंदी झिल्ली और मलसे संयुक्त उसकी उत्पत्तिको देखकर तथा उसके अत्यन्त दुःखभरे रुदनको सुनकर मुझे बहुत ही दुःख और आश्चर्य हुआ और मैंने बड़े ही आग्रहसे मन्त्रीजीसे पूछा। मन्त्रीजीने बतलाया कि 'इसे यह कष्ट इसके पूर्वजन्मके पापोंके कारण हुआ है।' यह सुनकर मुझे यह चिन्ता हुई कि यदि मैं झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, हिंसा, मांस, मदिरा आदिके सेवनरूप पाप करूँगा तो मुझे भी इसी तरह गर्भवास और जन्मका दुःख भोगना पड़ेगा।

राजा विष्वक्सेनने कहा—यह सब झूठ है; कपोलकल्पना है। मरनेके बाद फिर जन्म होता ही नहीं। तदनन्तर राजाने झिड़ककर मन्त्रीसे कहा—'क्योंजी ! क्या तुमने ये सब बातें इससे कही थीं ?'

मन्त्री काँपता हुआ बोला—सरकार ! मुझसे कही गयीं।

जर्नादन कहने लगा—आपकी आज्ञासे मन्त्री मुझे हवाखोरीके लिये शहरसे बाहर ले गये थे, तब मैंने मार्गमें एक कुष्ठरोगीको देखा। उसे देखकर मैं उदास हो गया और मैंने इनसे पूछा, तब पता लगा कि पूर्वके बड़े भारी पापोंके कारण यह रोग होता है।

राजा बोला—पाप कोई चीज नहीं है। यह तो इस मन्त्री-जैसे मूर्खोंकी कल्पना है। तुमने जिस कुष्ठीको देखा है, वह वैसा ही जन्मा है और वैसा ही रहेगा। तुमसे उसकी क्या तुलना ? तुम जैसे हो, वैसे ही जन्मे थे और वैसे ही रहोगे।

फिर राजाने कुपित होकर मन्त्रीसे कहा—तुम्हारी बुद्धिपर बड़ी तरस आती है, तुमने इस लड़केको क्यों बहका दिया ?

मन्त्री बोला—सरकार ! इस विषयमें मैं जैसा समझता था, वैसा ही मैंने कहा।

जनार्दनने फिर कहा—उसके बाद रास्तेमें मुझे एक अत्यन्त दुखी बूढ़ा आदमी दिखायी दिया। मैंने पहले कभी वैसा आदमी नहीं देखा था। जानकारीके लिये मन्त्रीजीसे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि यह वृद्ध है। जब मनुष्य बहुत बड़ी आयुका हो जाता है, तब सभीकी ऐसी ही दशा होती है। यह देखकर मुझे चिन्ता हुई कि एक दिन मेरी भी यही दशा होगी।

राजा बोला—नहीं, कभी नहीं। जो वृद्ध होते हैं, वे वृद्ध ही रहते हैं और जो जवान होते हैं, वे जवान ही रहते हैं।

राजाने फिर क्रोधमें भरकर मन्त्रीसे कहा—क्या तुम्हें यही सब शिक्षा देनेके लिये यहाँ नियुक्त किया गया था ?

मन्त्री बोला—राजकुमारके पूछनेपर मेरी जैसी जानकारी थी, वैसा ही मेरे द्वारा कहा गया।

राजाने कहा—धिक्कार है तुम्हारी जानकारीको ! क्या ये सब बातें बालकोंको कहनेकी होती हैं ?

फिर जनार्दन कहने लगा—पिताजी ! उसके बाद हम जब भ्रमण करके वापस लौट रहे थे, तब मैंने देखा कि बहुत-से आदमी एक मरे हुए आदमीको जला रहे हैं और सब उसके चारों ओर खड़े हैं। उसी समय मैंने देखा कि नगरसे एक जुलूस वहाँ आ रहा है, चार आदमियोंने एक किसी चीजको कंधोंपर उठा रखा है, कुछ लोग 'रामनाम सत्य' चिल्ला रहे हैं और उसके पीछे-पीछे कुछ आदमी रोते चले आ रहे हैं। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मन्त्रीजीसे पूछनेपर इन्होंने बतलाया कि 'किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है। इसके घरवाले इसे श्मशानभूमिमें ला रहे हैं और ये रोनेवाले लोग इसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं। ये लोग इसके वियोगमें दुःखके कारण रो रहे हैं।' इस दृश्यको जबसे मैंने देखा, तबसे मुझे मृत्युकी चिन्ता लग रही है। मैं समझता हूँ कि जब मेरी मृत्यु होगी, तब मेरी भी यही दशा होगी।

विष्वक्सेन बोला—इस मूर्ख मन्त्रीकी बातपर तुम्हें ध्यान न देना चाहिये। जवान आदमीकी कभी मृत्यु हो ही नहीं सकती। इन्होंने जो कुछ कहा है, सब

बेसमझीकी बात है।

फिर उसने मन्त्रीसे कहा—क्या तुम्हें हमारे लड़केको इस प्रकार बहकाना उचित था ? तुमने सचमुच मुझे बड़ा धोखा दिया।

विद्यासागरने हाथ जोड़कर कहा—सरकार ! पूछनेपर जो बात उस समय समझमें आयी, वही कही गयी।

जनार्दनने कहा—उसके बाद जब हमलोगोंने लौटकर शहरमें प्रवेश किया, तब एक गेरुआ वस्त्रधारी पुरुष मिले। पूछनेपर मन्त्रीजीने बतलाया कि 'ये एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं। इन्होंने भजन-ध्यान और सत्सङ्ग-स्वाध्याय करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है, जिससे इन्हें हर समय परम शान्ति और परम आनन्द रहता है। ये भगवान्‌के परम धाममें चले जायँगे और फिर लौटकर कभी दुःखरूप संसारमें नहीं आयेंगे। वहीं नित्य परम शान्ति और परम आनन्दमें मग्न होकर रहेंगे। इन्हींका जन्म धन्य है।' उसी समयसे मेरे मनमें बार-बार यही आता है कि क्या कभी मैं भी ऐसा बन सकूँगा। पूछनेपर पता लगा कि यह सब बातें श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंमें लिखी हैं। अतः मैंने इन पुस्तकोंको मँगानेके लिये मन्त्रीजीसे कहा था; किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं आपके पिताजीका आदेश लेकर ही मँगा सकता हूँ।' अतएव पिताजी ! अब ये पुस्तकें मुझे शीघ्र मँगवा दीजिये।

विष्वक्सेन बोला—बेटा ! ये सब पुस्तकें तुम्हारे देखने लायक नहीं हैं।

राजाने फिर मन्त्रीसे कहा—मालूम होता है, तुमने इन पुस्तकोंके नाम बतलाकर लड़केका मस्तक बिगाड़ दिया। तुम्हारी ही शिक्षाका यह फल है, जो मेरा यह सुकुमार सुन्दर राजकुमार इतनी छोटी उम्रमें ही संसारके विषय-भोगोंसे विरक्त होकर रात-दिन वैराग्य और ज्ञानकी चिन्तामें डूबा रहता है। मैंने जिस उद्देश्यसे तुमको नियुक्त किया था, उसका विपरीत परिणाम हुआ। तुम मेरे यहाँ रहने योग्य नहीं। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहाँ जा सकते हो।

विद्यासागर हाथ जोड़कर बोला—सरकार ! मेरी बेसमझीके कारणसे ही यह सब हुआ। लड़केने जो कुछ पूछा, मैंने अपनी समझके अनुसार ठीक-ठीक कह दिया; इसके लिये आप मुझे क्षमा करें।

विष्वक्सेनने कहा—'आग लगे तुम्हारी ऐसी समझपर ! मेरा तो बसता हुआ

घर ही तुमने उजाड़ दिया। मेरे यहाँ अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं।' यह कहकर उसको मन्त्रीपदसे हटा दिया।

जनार्दन बोला—पिताजी ! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? इसमें मन्त्रीजीका कुछ भी दोष नहीं है। इन्होंने तो जो कुछ कहा, उचित ही कहा और वह भी मेरे पूछनेपर ही कहा। मुझमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिका लेशमात्र भी नहीं है। हाँ, मैं चाहता हूँ कि मुझे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी प्राप्ति हो जाय तो मैं भी जीवन्मुक्त महात्मा बनकर अपने आत्माका उद्धार कर लूँ। धन्य है उन पुरुषोंको जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर परमात्माके भजन, ध्यान, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें अपना जीवन बिताकर अपने आत्माका कल्याण कर लिया है। आप मुझे आशीर्वाद दें, जिससे इस शरीर और संसारसे विरक्त होकर मेरा मन नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगा रहे।

इसपर राजा विश्वक्सेनने राजकुमार जनार्दनको इसके विरुद्ध बहुत कुछ समझाया, परंतु उसके एक भी नहीं लगी, क्योंकि राजकुमार योगभ्रष्ट पुरुष तो था ही, मन्त्रीकी शिक्षाने भी उसके हृदयमें विशेष काम किया था। राजकुमार वैराग्यके नशेमें चूर हो गया। वह अहङ्कार और ममतासे रहित होकर संसारसे उपरत रहता हुआ परमात्माकी खोजमें जीवन बिताने लगा।

कुछ दिनों बाद जब उसे तीव्र वैराग्य और उपरति हो गयी, तब वह सहज ही राज्यकी ओरसे सर्वथा बेपरवाह होकर उन महात्माजीके पास चला गया, जिनसे बाल्यावस्थामें उसने यह श्लोक सुना था—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३।८)

इस श्लोकका भाव राजकुमार जनार्दनमें अक्षरशः संघटित था। उसने भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके लिये महात्माजीसे प्रार्थना की। तब महात्माजीने उसको आश्वासन देते हुए भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा दी। उन्होंने कहा—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

(गीता १३ । ९-११)

अभिप्राय यह है कि स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इन्हींमें उसकी विशेष आसक्ति होती है। इन्द्रियोंके शब्दादि साधारण विषयोंमें वैराग्य होनेपर भी इनमें छिपी आसक्ति रह जाया करती है, इसलिये मनुष्यको 'आसक्तिका सर्वथा अभाव' करना चाहिये।

यहाँ 'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ है— 'ममताका अभाव'। ममत्वके कारण ही मनुष्यका स्त्री-पुत्रादिसे घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। उससे उनके सुख-दुःख और लाभ-हानिसे वह स्वयं सुखी-दुखी होता रहता है। ममताके अभावसे ही इसका अभाव हो सकता है। इसलिये मनुष्यको इन सब पदार्थोंसे ममताका अभाव करना चाहिये।

अनुकूल व्यक्ति, क्रिया, घटना और पदार्थोंका संयोग तथा प्रतिकूलका वियोग सबको 'इष्ट' है। इसी प्रकार अनुकूलका वियोग और प्रतिकूलका संयोग 'अनिष्ट' है। इन 'इष्ट' और 'अनिष्ट'के साथ सम्बन्ध होनेपर हर्ष-शोकादिका न होना अर्थात् अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें राग, काम और हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके द्वेष, शोक, भय और क्रोध आदिका न होना—सदा ही निर्विकार, एकरस सम रहना—इसको इष्ट और अनिष्टकी उत्पत्तिमें 'समचित्तता' कहते हैं।

भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करने योग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्ययोग' है। इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्का ही भजन, ध्यान करते रहना ही 'अनन्ययोग'के द्वारा भगवान्में अव्यभिचारिणी भक्ति करना है।

इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले मनुष्यमें न तो स्वार्थ और अभिमानका लेश

रहता है और न संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका ममत्व ही रह जाता है। संसारके साथ उसका भगवान्‌के सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रहता है, किसीसे भी किसी प्रकारका स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं रहता। वह सब कुछ भगवान्‌का ही समझता है तथा श्रद्धा और प्रेमके साथ निष्कामभावसे निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करता रहता है। उसकी जो भी क्रिया होती है, वह सब भगवान्‌के लिये ही होती है।

साधकको सदा विविक्त देशका सेवन करना चाहिये। जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़-भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जहाँके जलवायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों—ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्त देश' कहते हैं तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

साधकका कभी भी प्रमादी और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेम नहीं होना चाहिये। यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उनमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' पद नहीं समझना चाहिये।

आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है। उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं; आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे

नित्य-निरन्तर ध्यान करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

इस प्रकार उपदेश देकर महात्माजी चुप हो गये। राजकुमार पात्र तो था ही, महात्माजीकी शिक्षाके अनुसार साधन करनेसे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इधर दूसरे दिन प्रातःकाल जब राजा उठा, तब पता लगा कि राजकुमार आज रातमें महलसे निकलकर कहीं चला गया। इधर-उधर चारों ओर बड़ी खोज करायी गयी, किंतु कहीं भी पता नहीं लगा। तब राजा विष्वक्सेन बहुत दुःखित हो गया।

कुछ दिनों बाद राजा उन महात्माजीका दर्शन करने गया, जिनके बतलाये हुए अनुष्ठानसे राजकुमार उत्पन्न हुआ था। राजाने महात्माजीको साष्टाङ्ग अभिवादन किया और कहा—'महाराजजी ! आपने मुझको जो लड़का दिया था, वह कई दिनोंसे लापता हो गया है।'

महात्माजीने कहा—क्या तुमको पता नहीं, वह तो कई दिनोंसे मेरे पास है। वह सदा-सर्वदा ज्ञान-ध्यानमें निमग्न रहता है। उसने तो अपने जीवनको सफल बना लिया। मैंने तो तुमसे पहले ही कहा था कि यह लड़का एक बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बननेवाला है, वही बात आज प्रत्यक्ष हो गयी। राजन्! तुम्हारा जन्म भी धन्य है, जो तुमने ऐसे पुत्रको जन्म दिया और यह लड़का तो सौभाग्यशाली है ही।

राजकुमारकी इतनी शीघ्र और आशातीत उन्नति सुनकर तथा फिर उसकी स्थितिको प्रत्यक्ष देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसे जो पुत्रके घरसे निकल जानेका दुःख था वह सब शान्त हो गया। उसने अपना बड़ा सौभाग्य समझा।

तदनन्तर राजाने महात्माजीसे प्रार्थना की कि मुझे ऐसा कोई उपदेश करें, जिससे शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाय। इसपर महात्माजीने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं— अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' यानी इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य होना है।

मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहं' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्म वस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहङ्कार' कहलाता है।

जन्मका कष्ट सहज नहीं है। पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लम्बे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश सहन करने पड़ते हैं; फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती, इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उठती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। इस अशक्त अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःख-दायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है, निरुपाय स्थिति है, यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

यों तो एक चेतन आत्माको छोड़कर वस्तुतः संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसमें ये चारों दोष न हों। जड़ मकान एक दिन बनता है, यह उसका जन्म हुआ, कहींसे टूट-फूट जाता है, यह व्याधि हुई; मरम्मत करायी, इलाज हुआ, पुराना हो जाता है, बुढ़ापा आ गया, अब मरम्मत नहीं हो सकती। फिर जीर्ण होकर गिर जाता है, मृत्यु हो गयी। छोटी-बड़ी सभी चीजोंकी यही अवस्था है। इस प्रकार जगत्की प्रत्येक वस्तुको ही जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिमय देख-देखकर उनसे वैराग्य करना चाहिये।

महात्माजीके इस सुन्दर उपदेशको सुनकर राजा अपने राजमहलपर लौट आया और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न करने लगा। इससे थोड़े ही समयमें राजाको शरीर और संसारसे तीव्र वैराग्य हो गया। तब रानीको साथ लेकर राजा पुनः महात्माजीके पास गया और बोला—'आपके उपदेशसे मुझे बहुत लाभ हुआ। अब मेरी यह इच्छा है कि जनार्दनका युवराजपदपर अभिषेक करके मैं भक्ति, ज्ञान, वैराग्यमें ही अपना शेष जीवन बिताऊँ।' इसपर महात्माजीने जनार्दनको बुलाकर कहा—'वत्स ! तुम राज्यका कार्य करो, अब तुम्हें कोई भय नहीं है। अतः अब अपने पिताको अवकाश दो, जिससे ये भी भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण करें।'

जनार्दन नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित था ही, वह बड़ी प्रसन्नतासे पिताके आज्ञानुसार राज्यकार्य करने लगा। अब रानीके सहित राजा विष्वक्सेन समय-समयपर महात्माजीका सत्सङ्ग करने लगा और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार तत्परतासे चेष्टा भी करने लगा।

एक दिन राजा विष्वक्सेनने महात्माजीके चरणोंमें नमस्कार करके उनसे विनय और करुणाभावपूर्वक प्रार्थना की—'महाराजजी ! मुझे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे मेरी भी स्थिति जनार्दनकी भाँति नित्य-निरन्तर अटल हो जाय।'

तब महात्माजीने जो शिक्षा विस्तारपूर्वक जनार्दनको दी थी, वही राजाको भी दी। महात्माजीकी शिक्षा सुनकर राजा और रानी—दोनोंने श्रद्धा और प्रेमपूर्वक बड़ी लगनके साथ उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न किया; जिसके फलस्वरूप राजा और रानी दोनोंको ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भी शरीर और संसारसे विरक्त राजकुमार जनार्दनकी भाँति ऊपर बतलाये हुए साधनके अनुसार अपने बचे हुए जीवनको ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें लगाकर सफल बनावें।

श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति

श्रीमद्भागवतमें वर्णित नवधा भक्तिके आदर्श श्रीप्रह्लादजी थे। जब हिरण्यकशिपुने पूछा कि तुमने गुरुजीसे इतने कालतक जो कुछ पढ़ा है, उन पढ़े हुए पाठोंमें जिसको तुम सबसे श्रेष्ठ समझते हो, उसे सुनाओ; तब प्रह्लादजीने कहा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३-२४)

'भगवान् श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिके श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देनेका भाव—यह नौ प्रकारकी भक्ति है। यदि मनुष्यके द्वारा इस तरह यह नौ प्रकारकी भक्ति भगवान् श्रीविष्णुके प्रति की जाय तो मैं उसका निश्चय ही उत्तम अध्ययन समझता हूँ।'

श्रीप्रह्लादजीके द्वारा कथित नवधा भक्तिके ये सारे-के-सारे प्रकार परम प्रेमी अनन्य भक्त श्रीभरतजीमें मिलते हैं। भरतजी सदाचार-सद्‌गुणसम्पन्न, ज्ञानवान्, विरक्त, त्यागी एवं भगवान्‌के परम श्रद्धालु और अनन्य विशुद्ध निष्कामप्रेमी

भक्त थे। श्रीतुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें उनकी महिमाका जगह-जगह मुक्तकण्ठसे गान किया है। श्रीरामचरितमानसमें जहाँ भी भरतजीका चरित्र आया है, उसको पढ़नेसे यदि पाठकके हृदयमें थोड़ा भी प्रेम हो तो उसका हृदय गद्गद हो जाता है और अश्रुपात होने लगते हैं।

भरतजीकी महिमाके वर्णनमें श्रीतुलसीदासजीने स्वयं कहा है—

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख अह मम मलिन जनेषु॥

× × ×

भरत प्रीति नति बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥

× × ×

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गम नाहीं॥

× × ×

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरतको।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

श्रीजनकजी तो भरतजीके चरित्र, गुण, भक्ति और प्रेमभावको देखकर मुग्ध ही हो गये। चित्रकूटमें वे अपनी पत्नी रानी सुनयनासे कहते हैं—

सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत कथा भव बंध बिमोचनि॥
धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥
बिधि गनपति अहिपति सिव सारद। कबि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद॥
भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥

× × ×

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी ।।
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की ।।
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ।।
साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू ।।

भरतजी महाराज प्रेममयी भक्तिके अगाध सागर थे या यों कहिये कि वे साक्षात् प्रेमकी मूर्ति ही थे। जहाँ-कहीं भरतजीका चरित्र देखते हैं, वहीं प्रेमका समुद्र लहराता दीखता है। इसके सिवा वे सद्‌गुण-सदाचारमें भी अद्वितीय थे। जिनके गुण, चरित्र, भाव और प्रेमको देखकर श्रीरामचन्द्रजी भी मुग्ध हो गये। वे कहते हैं—

तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना ।।
करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमयँ किमि कहि जात ॥

भरतजीकी महिमा कहाँतक बतलायी जाय ? उनकी महिमा रामायणमें भरी पड़ी है। यहाँ तो केवल संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये अधिक प्रमाण उद्धृत नहीं किये गये।

अब भक्तिके उपर्युक्त नौ प्रकार श्रीभरतजीके जीवन-चरित्रमें जिस प्रकार घटित हुए हैं, इसका महाभारत, श्रीरामचरितमानस, पद्मपुराण, वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण आदि ग्रन्थोंके आधारपर कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) श्रवण-भक्ति

भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके द्वारा कथित भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यसे पूर्ण अमृतमयी बातोंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन अमृतमयी बातोंका श्रवण करके प्रेममें मुग्ध हो जाना श्रवण-भक्तिका स्वरूप है।

ये लक्षण श्रीभरतजीमें प्रत्यक्ष दीखते हैं। श्रीभगवान्‌के गुण, चरित्र, प्रेम और प्रभावको सुन-सुनकर भरतजी मुग्ध होते थे। जिस समय हनुमान्‌जी भगवान्‌का

विजय-संदेश सुनाने भरतजीके पास नन्दिग्राममें पहुँचे, तब हनुमानजीके द्वारा इस शुभ संदेशके सुनते ही भरतजीकी बड़ी अद्भुत दशा हो गयी।

उस अवस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा॥

× × ×

मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमंत नाइ पद माथा। कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥

वाल्मीकीय रामायणमें भरतजी हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

बहूनि नाम वर्षाणि गतस्य सुमहद्वनम्।
शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम्॥

(युद्ध० १। २६। ९)

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको उस महान् वनमें गये बहुत-से वर्ष व्यतीत हो गये, किंतु उसके बाद आज ही मैं मेरे स्वामीका प्रीतिकारक कीर्तन (संदेश) सुन रहा हूँ।'

ऐसा ही श्लोक कुछ पाठभेदसे अध्यात्मरामायणमें भी मिलता है। इसके बाद वहाँ बतलाया है—

एवमुक्तोऽथ हनुमान् भरतेन महात्मना॥
आचचक्षेऽथ रामस्य चरितं कृत्स्नशः क्रमात्।
श्रुत्वा तु परमानन्दं भरतो मारुतात्मजात्॥

(युद्ध० १४। ६५-६६)

'इसके पश्चात् महात्मा भरतजीके इस प्रकार कहनेपर हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीका क्रमशः सम्पूर्ण चरित्र कह सुनाया। पवनकुमार हनुमान्‌जीसे वह

सब चरित्र सुनकर श्रीभरतजीको अत्यन्त आनन्द हुआ।'

उस समय भरतजीकी अवस्थाका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकिजी कहते हैं—

ततः स वाक्यैर्मधुरैर्हनूमतो निशम्य हृष्टो भरतः कृताञ्जलिः।
उवाच वाणीं मनसः प्रहर्षिणीं चिरस्य पूर्णः खलु मे मनोरथः॥

(वा० रा०, युद्ध० १२६। ५६)

'इसके अनन्तर हनुमान्‌जीके उन मधुर वचनोंको श्रवण करके भरतजी बड़े ही प्रसन्न हुए। वे हाथ जोड़कर मनको अतिशय हर्षित करनेवाली वाणी बोले— अहो! आज मेरा बहुत दिनोंका मनोरथ पूर्ण हो गया!'

जिस समय भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक हो जानेपर सब भाई अयोध्यामें सुखपूर्वक निवास करने लगे, उस समय जब कभी भरत और शत्रुघ्नजी हनुमान्‌जीसहित उपवनमें जाया करते, तब श्रीहनुमान्‌जीसे भगवान्‌के गुणानुवाद सुना करते। उस वर्णनसे इनका कथा-श्रवणमें अत्यन्त अनुराग और तज्जन्य आह्लाद, मुग्धता आदि प्रत्यक्ष प्रकट हो रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

भरत सत्रुहन दोनउ भाई। सहित पवनसुत उपवन जाई॥
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥
सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥

(२) कीर्तन-भक्ति

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व और रहस्यका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीरमें रोमाञ्च, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदयकी प्रफुल्लता, मुग्धता आदिका होना कीर्तन-भक्तिका स्वरूप है।

ये लक्षण भी भरतजीमें मिलते हैं। जिस समय भरतजी शृङ्गवेरपुर पहुँचकर गङ्गातटपर ठहर गये, उस समय वहीं उनके पास गुह आया तो उसने—

दृष्ट्वा भरतमासीनं सानुजं सह मन्त्रिभिः।
चीराम्बरं घनश्यामं जटामुकुटधारिणम्॥
राममेवानुशोचन्तं राम रामेति वादिनम्।
ननाम शिरसा भूमौ गुहोऽहमिति चाब्रवीत्॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ८। २०-२१)

'मेघके समान श्याम शरीरवाले, चीर वस्त्र पहने, जटाका मुकुट धारण किये हुए तथा श्रीरामका ही स्मरण-चिन्तन करते हुए और 'राम-राम'—इस प्रकार कहते हुए एवं मन्त्रियोंके साथ बैठे हुए छोटे भाई शत्रुघ्नसहित भरतजीको देखकर पृथ्वीपर माथा टेककर प्रणाम किया और कहा कि मैं गुह हूँ।'

इसके पश्चात् भरतजी प्रयाग गये तो वहाँ भी भजन-कीर्तन करते हुए ही गये। श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

जिस समय भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हुए श्रीभरतजी नन्दिग्राममें निवास करते थे, उस समय वे मुनियोंकी भाँति अपना समय बिताया करते थे। वहाँ वे प्रेममें मुग्ध होकर भगवान्‌के नामका जप और उनके गुण तथा चरित्रोंकी अमृतमयी कथाका वर्णन भी किया करते थे। श्रीरामचरितमानसमें बतलाया है—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

पद्मपुराणके पातालखण्डमें भी आता है—

गर्तशायी ब्रह्मचारी जटावल्कलसंयुतः।
कृशाङ्गयष्टिर्दुःखार्त कुर्वन् रामकथां मुहुः॥

(१।३०)

'उन दिनों भरतजी जमीनमें गड्ढा खोदकर उसीमें सोया करते थे। ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए मस्तकपर जटा और शरीरपर वल्कल वस्त्र धारण किये रहते थे। उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। वे बार-बार श्रीरामचन्द्रजीकी कथा कहते हुए वियोगके दुःखसे आतुर रहते थे।'

वहाँ नन्दिग्राममें भरतजीके पास जब हनुमान्‌जी पहुँचे, तब वे देखते हैं—

कथयन्तं मन्त्रिवृद्धान् रामचन्द्रकथानकम्।
तदीयपदपाथोजमकरन्दसुनिर्भरम्॥

(पद्म०, पाताल० २।१२)

'भरतजी अपने वृद्ध मन्त्रियोंसे श्रीरामचन्द्रजीकी कथाएँ कह रहे हैं, जो कि उनके चरणकमलोंके मकरन्दसे अत्यन्त भरपूर हैं।'

उस समय तपस्यासे कृश हुए विरक्त भरतको भगवान् श्रीरामकी विरह-व्याकुलताभरी विह्वलताकी अवस्थामें निमग्न तथा भगवान्के नामका जप करते हुए देखकर हनुमान्के भी आनन्दकी सीमा नहीं रही। श्रीहनुमान्जीकी उस अवस्थाका वर्णन श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें ही पढ़िये—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जलजात॥

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी॥
जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥

इस प्रकार श्रीभरतजीके भगवन्नामजप और गुणादिके कीर्तनका बड़ा ही सुन्दर प्रकरण मिलता है। हमलोगोंको उचित है कि जिस प्रकार प्रेमी भक्त भरतजी प्रेममें मग्न होकर जप तथा कथा-कीर्तन किया करते थे, उसी प्रकार हम भी उनका अनुकरण करें।

(३) स्मरण-भक्ति

प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यका प्रेममें मुग्ध होकर मनन करना और इस प्रकार मनन करते-करते भगवान्के स्वरूपमें तल्लीन हो जाना स्मरण भक्तिका स्वरूप है।

भरतजीमें ये लक्षण भी मिलते हैं। भगवान् श्रीरामका बार-बार चिन्तन करनेका तो उनका स्वभाव ही था। वे सदा सर्वगुणसम्पन्न भगवान् श्रीरामके अद्भुत रूपलावण्यसंयुक्त स्वरूपका विशेषरूपसे चिन्तन किया करते थे। वे अयोध्यामें रहते हुए तो भगवान्का चिन्तन करते ही थे, किंतु जब भगवान्को अयोध्या लौटा लानेके लिये चित्रकूट गये तब रास्तेमें भी भगवान्का चिन्तन करते हुए ही चले और चित्रकूटमें तो वे साक्षात् भगवान् श्रीरामका दर्शन कर ही रहे थे। तदनन्तर जब भरतजी चित्रकूटसे अयोध्या लौटे तब रास्तेमें उनके गुण, चरित्र और स्वरूपका मनन करते हुए ही आये एवं नन्दिग्राममें आकर

उन्होंने अपना अधिक समय चिन्तनमें ही बिताया।

अध्यात्मरामायणमें भरतजीके अयोध्या-निवास-कालका वर्णन करते हुए लिखा है—

अवसत् स्वगृहे तत्र राममेवानुचिन्तयन्।
वशिष्ठेन सह भ्रात्रा मन्त्रिभिः परिवारितः॥

(अयोध्या० ७। ११४)

'वहाँ (अयोध्यामें) अपने घरमें गुरु वसिष्ठजी और भाई शत्रुघ्नके साथ मन्त्रियोंसे घिरे हुए भरतजी श्रीरामचन्द्रजीका ही स्मरण करते हुए रहने लगे।'

चित्रकूटके मार्गमें भरतजीकी अवस्थाका वर्णन करते हुए बतलाया है—

इत्यद्भुतप्रेमरसाप्लुताशयो विगाढचेता रघुनाथभावने।
आनन्दजाश्रुस्नपितस्तनान्तरः शनैरवापाश्रमसंनिधिं हरेः॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९। ४)

'जिनका हृदय इस प्रकार अद्भुत प्रेमसागरसे भरा है, मन श्रीरघुनाथजीकी भावनामें डूबा हुआ है तथा वक्षःस्थल आनन्दाश्रुओंसे भीगा हुआ है, वे भरतजी धीरे-धीरे श्रीहरिके आश्रमके निकट पहुँचे।' तथा—

भरतस्तु सहामात्यैर्मातृभिर्गुरुणा सह॥
अयोध्यामगमच्छीघ्रं राममेवानुचिन्तयन्।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९। ६९-७०)

'भरतजी अपने मन्त्रियों, माताओं और गुरु वसिष्ठजीके साथ श्रीरामचन्द्रजीका ही चिन्तन करते हुए शीघ्रतासे अयोध्याको लौट चले।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

मुनि महिसुर गुर भरत भुआलू। राम बिरहँ सबु साजु बिहालू॥
प्रभु गुन ग्राम गनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं॥

नन्दिग्राममें निवास करते हुए भरतजी अपने मन्त्रियोंसे कहते हैं—

दुर्भगस्य मम प्राप्तं स्वाघमार्जनमादरात्।
करोमि रामचन्द्राङ्घ्रि स्मारं स्मारं सुमन्त्रिणः॥

(पद्म०, पाताल० १। ४०)

'मन्त्रिगण ! मुझ अभागेके लिये अपने पापोंके प्रायश्चित्त करनेका यह अवसर प्राप्त हुआ है। अतः मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका निरन्तर आदरपूर्वक स्मरण करते हुए अपने दोषोंका मार्जन करूँगा।'

उस समय हनुमान्‌जीने—

दद‍र्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम्।
मलपङ्कविदिग्धाङ्गं जटिलं वल्कलाम्बरम्।
फलमूलकृताहारं रामचिन्तापरायणम्॥
यं त्वं चिन्तयसे रामं तापसं दण्डके स्थितम्।
अनुशोचसि काकुत्स्थः स त्वां कुशलमब्रवीत्॥

(अध्यात्म०, युद्ध० १४। ५१, ५२, ५५)

'अति दीन और दुर्बल अवस्थामें आश्रममें निवास करते हुए, अत्यन्त मलिन शरीरवाले, जटाजूट और वल्कल वस्त्र धारण किये हुए तथा फल-मूलादिका भोजन करके भगवान् श्रीरामके ध्यानमें तत्पर हुए भरतजीको देखा और कहा —'भरतजी ! आप जिन दण्डकारण्यवासी तपोनिष्ठ भगवान् श्रीरामका चिन्तन करते हैं तथा जिनके लिये आप इतना अनुताप करते हैं, उन ककुत्स्थनन्दन श्रीरामने आपको अपनी कुशल कहला भेजी है।'

वहाँ भरतजी समय-समयपर भगवान्‌के गुण, चरित्र और प्रभावसे संयुक्त स्वरूपको याद करते हुए विरह-व्याकुलतामें मुग्ध हो जाया करते थे। परन्तु साथ-साथ उनका भगवान्‌के विरदपर यह पूरा विश्वास था कि भगवान् मुझे अवश्य मिलेंगे। इस आधारपर वे क्षण-क्षणमें भगवान्‌की प्रतीक्षा किया करते थे। उन्हें भगवान्‌के दर्शनमें विलम्ब असह्य था, अतः वे विरह-व्याकुलतामें निमग्न हुए मन-ही-मन करुणाभावसे विलाप किया करते थे। इस विषयमें श्रीतुलसीदासजीने उनके विलापका बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है। वे कहते हैं—

भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचार॥

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥

कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरें जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

भगवान् श्रीरामके वियोगमें उनकी आशा-प्रतीक्षा करते हुए भरतजी किस प्रकार उनके गुण और स्वभावका चिन्तन करनेमें अपना समय बिता रहे हैं, यह ध्यान देने योग्य है!

(४) पादसेवन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपकी धातु आदिकी मूर्ति, चित्रपट अथवा मानस मूर्तिके मनोहर चरणोंका तथा उनकी चरणरज और चरण-पादुकाओंका श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते भगवत्प्रेममें मग्न हो जाना और उनका चरणामृत लेना 'पाद-सेवन' कहलाता है।

ये लक्षण भी भरतजीमें मिलते हैं। पादसेवन-भक्तिके तो भरतजी आचार्य ही हैं। यद्यपि लक्ष्मणजी सदा ही भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें रत हैं, किंतु चरणोंके ही समान चरण-पादुकाओंकी भी सेवा-पूजा करनेकी शिक्षा तो हमें भरतजीसे ही मिलती है। इसके सिवा चरण-रजका आदर भी जैसा भरतजीने किया, वैसा किसीने किया हो, इसका कोई उल्लेख वाल्मीकीय रामायणकालसे पूर्व कहीं देखनेमें प्रायः नहीं आता।

चित्रकूटके लिये प्रस्थान करनेके पूर्वसे ही भरतजीके हृदयमें जो भगवान्‌के चरणकमलोंमें अनन्य भक्ति तथा चरणोंके दर्शन और सेवनकी लालसा विद्यमान थी, वह अलौकिक और प्रशंसनीय है। वे जब अयोध्यासे चित्रकूट गये, तब रास्तेमें जहाँ-कहीं भगवान्‌की चरण-रज मिली, वे उसको बड़े ही आदर-सम्मानपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे सिर और आँखोंपर लगाकर मुग्ध हो गये। भरतजी महाराज श्रीरामचन्द्रजीकी चरण-सेवाके हेतु ही उनको चित्रकूटसे अयोध्या लौटनेका आग्रह करते रहे; किंतु जब भगवान्‌ने किसी प्रकार भी अयोध्या जाना

स्वीकार नहीं किया, तब उन्होंने चरणसेवाके अङ्गरूप चरण-पादुका प्रदान करनेकी प्रार्थना की। इतना ही नहीं, उन्होंने भगवान्‌के द्वारा दी हुई चरणपादुकाओंको अपने मस्तकपर धारण करके उनको ही अपने वियोगकी अवधिका आधार बनाया तथा वे चित्रकूटसे लौटते समय मार्गमें भी चरणपादुकाओंका ही मनन करते हुए नन्दिग्राम पहुँचे। वहाँ आकर भरतजी चरण-पादुकाओंको राज्यसिंहासनपर स्थापन करके राज्यका सारा कार्य उन्हींको निवदेन करके किया करते थे। वे चरणपादुकाओंको ही अपने प्राणोंका आधार मानते और बहुत ही श्रद्धाप्रेमपूर्वक उनका पूजन किया करते। वाल्मीकीय और अध्यात्म-रामायणमें तो यहाँतक दिखलाया है कि जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अयोध्या लौटे, तब भरतजी चरण-पादुकाओंको मस्तकपर धारण करके उनके सामने गये। धन्य है, भरतजीकी चरण-सेवा-भक्तिको!

श्रीभरतजी कहते हैं—

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(वा० रा०, अयोध्या० ९८। ९)

'जबतक मैं राजाके उपर्युक्त चिह्नोंसे युक्त भाईके चरणोंको सिरसे प्रणाम न कर लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।'

श्रीरामचरितमानसमें लिखा है—

चरन रेख रज आँखिन लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥

तथा—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥

अध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चितध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गलान्यचेष्टयत् पादरजःसु सानुजः॥
अहो सुधन्योऽहममूनि रामपादारविन्दाङ्कितभूतलानि।

पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम् ॥

(अयोध्या० ९ । २-३)

'भरतजीने वहाँ सब ओर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वज्र, अङ्कुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथ्वीके लिये अति मङ्गलमय चरण-चिह्न देखे। उन्हें देखकर भाई शत्रुघ्नके सहित वे उस चरणरजमें लोटने लगे और मन-ही-मन कहने लगे— 'अहो ! मैं परम धन्य हूँ ! जो आज श्रीरामचन्द्रजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे सुशोभित भूमिको देख रहा हूँ, जिनकी चरणरजको ब्रह्मा आदि देवगण और सम्पूर्ण श्रुतियाँ भी सदा खोजती हैं।'

जब चित्रकूटमें अनेक आग्रह करनेपर भी भगवान् श्रीराम अयोध्या चलनेको तैयार न हुए, तब भरतजीने कहा—

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥
....
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप ।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

(वा० रा०, अयोध्या० ११२ । २१, २३-२६)

'आर्य ! आप इन दोनों सुवर्णभूषित पादुकाओंपर अपने चरण रक्खें ! ये ही सम्पूर्ण जगत्के योगक्षेमका निर्वाह करेंगी। वीर रघुनन्दन ! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका भोजन करूँगा। परंतप ! आपके आनेकी बाट जोहता हुआ नगरसे बाहर ही रहूँगा। इतने दिनोंतक राज्यका सारा भार आपकी इन चरण-पादुकाओंपर ही रहेगा। रघुनाथजी ! चौदहवाँ वर्ष पूरा होनेके बाद यदि पहले ही दिन मुझे आपका दर्शन नहीं मिलेगा तो मैं जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा।'

अध्यात्मरामायणमें भरतजी कहते हैं—

पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते।
तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव॥

(अयोध्या० ९।४९)

'राजेन्द्र! आप मुझे राज्य-शासनके लिये अपनी जगत्पूज्य चरण-पादुकाएँ दीजिये। जबतक आप लौटेंगे, तबतक मैं उन्हींकी सेवा करता रहूँगा।'

इत्युक्त्वा पादुके दिव्ये योजयामास पादयोः।
रामस्य ते ददौ रामो भरतायातिभक्तितः॥
गृहीत्वा पादुके दिव्ये भरतो रत्नभूषिते।
रामं पुनः परिक्रम्य प्रणनाम पुनः पुनः॥
भरतः पुनराहेदं भक्त्या गद्गदया गिरा।
नवपञ्चसमान्ते तु प्रथमे दिवसे यदि॥
नागमिष्यसि चेद् राम प्रविशामि महानलम्।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९।५०-५३)

'ऐसा कहकर भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दो दिव्य पादुकाएँ (खड़ाऊँ) पहना दीं। श्रीरामचन्द्रजीने भरतका भक्तिभाव देखकर वे खड़ाऊँ भरतजीको दे दीं। भरतजीने वे रत्नजटित दिव्य पादुकाएँ लेकर फिर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की और उन्हें बार-बार प्रणाम किया। तदनन्तर वे भरतजी प्रेमभरी गद्गद वाणीसे इस प्रकार बोले—'रामजी! यदि चौदह वर्षके व्यतीत होनेपर आप पहले दिन ही अयोध्या न लौटे तो मैं महान् अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥

महाभारतमें बतलाया है—

विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं पुरस्कृत्यास्य पादुके॥

(वन० २७७।३९)

'पिताके वचनोंका पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा विदा किये हुए भरतजी नन्दिग्राममें आ गये और उन श्रीरघुनाथजीकी पादुकाओंको सामने रखकर

समस्त राज्यका पालन करने लगे।'

वाल्मीकीय रामायणमें वर्णन आता है कि भरतजी नन्दिग्राममें जाकर बड़े-बूढ़ोंसे इस प्रकार बोले—

एतद् राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम्।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥

(वा० रा०, अयोध्या० ११५। १४)

'मेरे भाई श्रीरामने मुझे उत्तम धरोहरके रूपमें यह राज्य दिया है और इसके योगक्षेमके संचालनके लिये ये दो स्वर्णभूषित पादुकाएँ दी हैं।

फिर प्रजामण्डलसे कहने लगे—

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥

(वा० रा० अयोध्या० ११५। १६)

'ये पादुकाएँ आर्य श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी प्रतिनिधि हैं, अतः इनपर शीघ्र ही छत्र धारण करो। मेरे गुरु श्रीरामचन्द्रजीकी इन पादुकाओंसे ही राज्यमें धर्म स्थापित होगा।'

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा॥
तदा हि यत् कार्यमुपैति किंचि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम्।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद् भरतो यथावत्॥

(वा० रा०, अयोध्या० ११५। २३-२४)

'तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ पादुकाओंका अभिषेक करके और स्वयं सर्वदा उनके अधीन होकर श्रीमान् भरतजी उस समय राज्यका पालन करने लगे। उस समय जो कोई भी कार्य उपस्थित होता तथा जो कुछ भी श्रेष्ठ बहुमूल्य भेंट आती, वह सब भरतजी पहले पादुकाओंको निवेदित करके फिर उसका यथावत् प्रबन्ध कर देते।'

श्रीहनुमान्जीने नन्दिग्राममें आकर—

ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम्।
जटिलं मलदिग्धाङ्गं भ्रातृव्यसनकर्शितम्॥
फलमूलाशिनं दान्तं तापसं धर्मचारिणम्।
समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम्॥
नियतं भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम्।
पांदुके ते पुरस्कृत्य प्रशासन्तं वसुन्धराम्॥

(वा॰ रा॰, युद्ध॰ १२५। ३०-३२)

—देखा कि भरतजी 'कृश और दीन हैं तथा आश्रम बनाकर रहते हैं। उनकी जटाएँ बढ़ी हुई हैं, शरीरपर मैल जम गया है, भाईके वनवासके दुःखसे वे बहुत ही कृश हो गये हैं, फल-मूल ही उनका भोजन है, वे इन्द्रियोंका दमन करके तपस्यामें लगे हुए हैं और धर्मका आचरण करते हैं। उनके मस्तकपर जटाओंका भार है और शरीरपर वल्कल तथा मृगचर्मके वस्त्र हैं। उनका जीवन बहुत नियमित और अन्तःकरण भगवान्‌के ध्यानसे विशुद्ध है, वे ब्रह्मर्षिके समान तेजस्वी भरतजी श्रीरघुनाथजीकी उन पादुकाओंको आगे रखकर पृथ्वीका शासन कर रहे हैं।'

महाभारतमें भी आया है कि—

स तत्र मलदिग्धाङ्गं भरतं चीरवाससम्॥
अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शासीनमासने।

(वन॰ २९१। ६२-६३)

'वनवाससे लौटकर उन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने नन्दिग्राममें आकर चीर-वस्त्र पहने हुए और मैल जमे हुए शरीरवाले भरतको पादुकाओंको आगे रखकर आसनपर बैठे हुए देखा।'

श्रीरामचन्द्रजीको आते देखकर वे बड़े ही प्रसन्न हुए और—

आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः॥
पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम्।
शुक्ले च बालव्यजने राजार्हे हेमभूषिते॥
....
प्रत्युद्ययौ तदा रामं महात्मा सचिवैः सह।

(वा॰ रा॰, युद्ध॰ १२७। १७-१८, २०)

'धर्मज्ञ भरतने अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाएँ सिरपर रख लीं तथा श्वेत मालाओंसे सुशोभित सफेद रंगका छत्र और राजाओंके योग्य सोनेसे मढ़े हुए दो सफेद चँवर भी ले लिये। उस समय महात्मा भरत मन्त्रियोंके साथ श्रीरामजीकी अगवानीके लिये शीघ्र ही चल पड़े।'

अध्यात्मरामायणमें भी लिखा है कि—

भरतः पादुके न्यस्य शिरस्येव कृताञ्जलिः ॥
शत्रुघ्नसहितो रामं पादचारेण निर्ययौ ।

(अध्यात्म०, युद्ध० १४ । ७५-७६)

'श्रीरघुनाथजीसे मिलनेके लिये भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजी सिरपर भगवान्‌की पादुकाएँ रखकर हाथ जोड़े हुए पैदल ही चले।'

इस प्रकार चरणपादुकाओंको चरणोंके तुल्य समझकर सेवा करनेका भाव, कथा या चरित्र भरतजीसे पूर्व कहीं देखनेमें नहीं आता। अतः हमलोगोंको भरतजीको आदर्श मानकर भगवान्‌के चरण, चरण-पादुका और चरण-रजकी सेवा करनी चाहिये।

(५) अर्चन-भक्ति

धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटके रूपमें देखे हुए अथवा श्रीभगवान्‌के भक्तोंसे सुने हुए भगवान्‌के स्वरूपका बाह्य सामग्रियोंसे तथा भगवान्‌की मानसिक मूर्तिका मानसिक सामग्रियोंसे एवं उनके साक्षात् विग्रह और चरणोंका नानाविध उपचारोंसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवन-पूजन करना और उनके तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावको समझ-समझकर प्रेममें मुग्ध होना 'अर्चन-भक्ति' है।

ये लक्षण भी भरतजीमें विद्यमान थे। साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी प्रेमपूर्वक पूजा करनेकी तो बात ही क्या, भगवान्‌की अनुपस्थितिमें भरतजी मनसे भगवान्‌को आसनपर स्थापन करके मनसे ही उनकी सेवा-पूजा किया करते थे। जब भरतजी महाराज भरद्वाजजीके आश्रममें गये, तब वहाँ भरद्वाजजीने भरतजीके आतिथ्यसत्कारमें सिद्धियोंसे राजमहलकी रचना करके भरतजीके लिये राजाओंके योग्य एक सिंहासनकी स्थापना की थी; किंतु भरतजी उस सिंहासनपर नहीं बैठे; बल्कि उसे भगवान् श्रीरामका सिंहासन मानकर स्वयं मन्त्रीके स्थानपर स्थित हो रातभर चँवर डुलाते हुए ही भगवान्‌की सेवा करते रहे। श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने॥

(वा० रा०, अयोध्या० ९१।३८-३९)

'भरतने वहाँ दिव्य राज्यसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा उनमें राजा (राम) की भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की। सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं', ऐसा मानकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर अपने हाथमें चँवर ले वे मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।'

भरतजीने इस प्रकार सेवा-पूजा करते हुए ही वह रात्रि व्यतीत की। कैसी अनोखी सेवा-पूजा है!

जब भरतजी नन्दिग्राम आये' तब वहाँ राज्यसिंहासनपर भगवान्के स्थानमें भगवान्की चरण-पादुकाओंको स्थापित करके उनकी पत्र, पुष्प, गन्ध आदिके द्वारा शास्त्रविधिके अनुसार पूजा किया करते थे।

अध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

तत्र सिंहासने नित्यं पादुके स्थाप्य भक्तितः॥
पूजयित्वा यथा रामं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः।
राजोपचारैरखिलैः प्रत्यहं नियतव्रतः॥
राजकार्याणि सर्वाणि यावन्ति पृथिवीतले।
तानि पादुकयोः सम्यङ् निवेदयति राघवः॥

(अयोध्या० ९।७१-७२, ७४)

'वहाँ एक सिंहासनपर उन दोनों पादुकाओंको रखकर वे नियमित व्रतवाले रघुश्रेष्ठ भरतजी श्रीरामचन्द्रजीके समान ही उनकी नित्य भक्तिपूर्वक गन्ध, पुष्प और अक्षत आदि समस्त राजोचित सामग्रियोंसे पूजा करनेके अनन्तर प्रतिदिन पृथ्वीके जितने भी राजकार्य होते, उन सबको पादुकाओंके सामने भली प्रकार निवेदन कर दिया करते थे।'

इसी प्रकार पद्मपुराणमें भी आता है कि—

रामस्य पादुके राज्यमवाप्य भरतः शुभे।

प्रत्यहं गन्धपुष्पैश्चापूजयत् कैकयीसुतः ॥
तपश्चरणयुक्तेन तस्मिंस्तस्थौ नृपोत्तमः ।

(उत्तर० २६९ । १९०-१९१)

'कैकेयीनन्दन भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी उन मङ्गलमयी पादुकाओंको राजसिंहासनपर स्थापित करके नित्य गन्ध-पुष्प आदिसे उनकी पूजा किया करते और इस प्रकार वे नृपश्रेष्ठ भरतजी उस नन्दिग्राममें तपस्यामें संलग्न होकर रहने लगे।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति ॥

भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा तो शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर मिलती है; किंतु भगवान्‌के स्थानमें चरणपादुकाओंको रखकर उनकी भी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पूजा करना—इस शिक्षाके प्रवर्तक आचार्य तो श्रीभरतजी ही हुए। धन्य है उनकी इस अलौकिक अर्चन-भक्तिको !

चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अयोध्या आ रहे थे, तब तो भरतजीने प्रत्यक्ष ही विमानपर स्थित श्रीरामचन्द्रजीका अर्घ्य-पाद्यादिसे विधिपूर्वक पूजन किया।

प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः ।
यथार्थेनार्घ्यपाद्याद्यैस्ततो राममपूजयत् ॥

(वा० रा०, युद्ध० १२७ । ३५)

'भरतजी प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टि लगाये हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर उन्होंने विमानमें विराजमान श्रीरामजीकी विधिपूर्वक अर्घ्य-पाद्य आदिसे पूजा की।'

इस प्रकार रामचरित्रोंमें यत्र-तत्र भरतजीके द्वारा पूजा करनेके अनेक स्थल मिलते हैं। हमलोगोंको भी भरतजीको आदर्श मानकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेमें तत्परतासे लगना चाहिये।

(६) वन्दन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के शास्त्रवर्णित स्वरूप, भगवान्‌के नाम, भगवान्‌की धातु आदिकी

मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्तिको एवं भगवान्‌के साक्षात् चरणोंको शरीर अथवा मनसे श्रद्धासहित प्रणाम करना और ऐसा करते हुए भगवत्प्रेममें मुग्ध होना 'वन्दन-भक्ति' है। ये लक्षण भी भरतजीमें पूर्णतया विद्यमान थे। भरतजीकी वन्दन-भक्तिके विषयमें तो कहना ही क्या है। वे जब महाराज श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये विदा हुए, तब रास्तेमें उनको नमस्कार करते हुए ही गये और चित्रकूटमें पहुँचकर तो वे दण्डकी भाँति भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े तथा करुणाभावसे विह्वल हो गये। श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं—

सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥

× × ×

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥

× × ×

सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय पद पदुम परागा॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए॥

श्रीअध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

मातुर्मे दुष्कृतं किञ्चित् स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः॥
इत्युक्त्वा चरणौ भ्रातुः शिरस्याधाय भक्तितः।
रामस्य पुरतः साक्षाद् दण्डवत् पतितो भुवि॥

(अयोध्या० ९। २५-२६)

'मेरी माताका जो कुछ अपराध है, उसे भूल जाइये और हमलोगोंकी रक्षा कीजिये।—ऐसा कहकर भरतजीने भाई श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको भक्तिपूर्वक मस्तकपर रख लिया और साक्षात् श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख दण्डके समान पृथ्वीपर गिर पड़े।'

चित्रकूटसे वापस आते समय भी भरतजी भगवान्‌को प्रणाम करके दुःखित हृदयसे ही आये हैं। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

अस कहि प्रेम बिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥
प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥

× × ×

प्रभु पद पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि राम रजाई॥

जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वनसे लौटकर अयोध्या आये, तब भरतजी उनके चरणोंमें लिपट गये; यद्यपि भरतजी उन चरणोंको छोड़ना नहीं चाहते थे, पर भगवान्ने बलपूर्वक उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। उस समय भरतजीने सीताजीको भी प्रणाम किया और अपनेको अपराधी मानकर उनसे अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना की।

श्रीवाल्मीकीय रामायणका वर्णन है—

ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा।
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम्॥
आरोपितो विमानं तद् भरतः सत्यविक्रमः।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥
ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं च परंतपः।
अथाभ्यवादयत् प्रीतो भरतो नाम चाब्रवीत्॥

(वा० रा०, युद्ध १२७। ३७, ३९, ४१)

'उस समय भरतजीने विमानके अग्रभागमें विराजमान भाई श्रीरामको देखा और जिस प्रकार लोग मेरुपर्वतस्थ दीखते हुए सूर्यको नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार उस समय श्रीरामको विनयपूर्वक प्रणाम किया। भगवान् श्रीरामने सत्यपराक्रमी भरतजीको उस विमानपर चढ़ा लिया। भरतजीने श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचकर प्रसन्नचित्त हो पुनः प्रणाम किया। तदनन्तर भाई लक्ष्मणसे मिलकर फिर परंतप भरतजीने सीताजीको अपना नाम उच्चारण करके प्रेमसे अभिवादन किया।'

प्रायः ऐसा ही वर्णन अध्यात्मरामायणमें भी आया है। वहाँ बतलाया है—

आरोपितो विमानं तद् भरतः सानुजस्तदा।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥
ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं नाम कीर्तयन्।
अभ्यवादयत प्रीतो भरतः प्रेमविह्वलः॥

(युद्ध० १४। ८३, ८५)

'उस समय भगवान् श्रीरामने भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजीको उस विमानपर चढ़ा लिया। श्रीरामचन्द्रजीके निकट पहुँचनेपर भरतजीने अति आनन्दित हो उन्हें पुनः प्रणाम किया। फिर प्रेमसे विह्वल हुए भरतजीने लक्ष्मणजीसे मिलकर श्रीसीताजीको अपना नाम उच्चारण करते हुए प्रेमपूर्वक प्रणाम किया।'

उस समयकी भरतजीकी अवस्थाका दिग्दर्शन कराते हुए पद्मपुराणमें भी बतलाया है—

दृष्ट्वा समुत्तीर्णमिमं रामचन्द्रं स तैर्युतम्।
हर्षाश्रूणि प्रमुञ्चंश्च दण्डवत् प्रणनाम ह॥
उत्थापितोऽपि च भृशं नोदतिष्ठद् रुदन् मुहुः।
रामचन्द्रपदाम्भोजग्रहणासक्तबाहुभृत्॥
पतिव्रतां जनकजाममन्यत ननाम च॥
मातः क्षमस्व यदघं मया कृतमबुद्धिना॥

(पद्म०, पाताल० २। २९, ३१, ३७-३८)

'उन सहायकोंसहित श्रीरामचन्द्रजीको भूमिपर उतरे देख वे भरतजी हर्षके आँसू बहाते हुए उनके सामने ही दण्डकी भाँति धरतीपर पड़ गये। आरम्भमें भगवान्‌के बारंबार उठानेपर भी वे उठे नहीं; अपितु अपने दोनों हाथोंसे श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दोंको पकड़कर लगातार फूट-फूटकर रोते रहे। तत्पश्चात् पतिव्रता जनककिशोरीका दर्शन करके भरतजीने उन्हें सम्मानपूर्वक प्रणाम किया और कहा— माँ! मुझ मूर्खके द्वारा जो अपराध हो गया है, उसे क्षमा करना।'

श्रीरामचरितमानसका वर्णन इस प्रकार है—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

प्रेम और विनयकी क्या ही सुन्दर अवस्था है! भरतजी प्रेम और विनयकी तो मूर्ति ही थे। वन्दन करना तो उनका स्वभाव बन गया था। जब कभी वे भगवान्‌से मिलते, तभी उन्हें नमस्कार किया करते थे। उनकी यह आदर्श

वन्दन-भक्ति हमलोगोंके लिये सदा अनुकरणीय है।

(७) दास्य-भक्ति

श्रीभगवान्‌के गुण, तत्त्व, रहस्य और प्रभावको समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना तथा प्रभुको स्वामी और अपनेको सेवक समझना 'दास्यभावरूप भक्ति' है।

यह भाव तो भरतजीमें पद-पदपर पाया जाता है। यह तो उनका मुख्य भाव है। जब भरतजी ननिहालसे अयोध्या लौट आये, तब कैकेयीसे कह दिया कि मैं श्रीरामचन्द्रजीको लौटाकर उनका दास होकर उनकी सेवा करूँगा। बादमें गुरु वसिष्ठजी और मन्त्रियोंने उनको राज्य देनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु उनके उत्तरमें भरतजीने यही कहा कि 'मैं इसमें आपका और अपना किसीका भी हित नहीं देखता। मैं तो अपना हित उनकी सेवामें ही समझता हूँ।' भरतजीके इस भावको सुनकर सभी मुग्ध हो गये। इस भावको लेकर भरतजी रामचन्द्रजी महाराजको लाने अयोध्यासे चित्रकूटके लिये विदा हुए। मार्गमें जहाँ-कहीं वे ठहरे, उनके बर्ताव और वार्तालापसे यही भाव झलकता था। चित्रकूटमें भी उनकी प्रत्येक क्रियामें दासभाव टपकता था, क्योंकि वे दासभावकी एक जीती-जागती मूर्ति ही थे। उन्होंने आजीवन भगवान् श्रीरामकी सेवा और उनकी आज्ञाके पालनको ही अपना सर्वोत्तम परम धर्म मान रक्खा था और इसीमें वे अपना परम कल्याण समझते थे। उनकी दृष्टिमें भगवान् श्रीरामकी सेवासे बढ़कर और कोई दूसरा काम ही नहीं था। भगवान्‌की कठिन-से-कठिन आज्ञा उनके लिये सहर्ष शिरोधार्य थी। भरतजी अपने स्वामीको संकोचमें डालना पाप समझते थे। भगवान् श्रीरामकी आज्ञाके पालनार्थ ही उन्होंने चौदह वर्षतक उनका वियोग सहन किया। राज्यका काम करते हुए पद-पदपर उनका श्रीरामके प्रति सेवाभाव चमकता था। चौदह वर्षके पश्चात् भगवान्‌के वापस आनेपर भरतजी उनका राज्य उनके चरणोंमें समर्पित करके आजीवन उन्हींकी सेवा और आज्ञापालनमें लगे रहे। कभी नगरसे बाहर जाना होता, तब वहाँ भी उनकी सेवा करना और अपने हितके लिये उपदेशकी बातें पूछते रहना—उनका मुख्य काम था। इस प्रकार

भरतजीने आजीवन प्रधानतया दासभावमें ही अपना समय बिताया।

उनकी सेवा, आज्ञापालन और प्रेमके भावोंसे भगवान् स्वयं मुग्ध थे। इस विषयमें उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। प्रेम और विनयपूर्वक सेवाभावके लिये भरतजी परम आदर्श हैं। यद्यपि भरतजीके सारे ही आचरण दास-भावके द्योतक हैं, तथापि कई स्थलोंमें तो दासभावकी ही प्रधानता है। अब नीचे कुछ प्रमुख प्रमाणोंके द्वारा उनके दासभावका दिग्दर्शन कराया जाता है—

माता कैकेयीके प्रति भरतजीके वचन हैं—

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना॥

(वा० रा०, अयोध्या० ७३। २७)

'मैं श्रीरामको लौटा लाऊँगा और उन देदीप्यमान तेजस्वी महापुरुषका दास बनकर सुस्थिर—शान्तचित्तसे जीवन व्यतीत करूँगा।'

अध्यात्मरामायणमें भी आता है कि—

गच्छाम्यरण्यमद्य स्थिरमतिरखिलं दूरतोऽपास्य राज्यम्।
रामं सीतासमेतं स्मितरुचिरमुखं नित्यमेवानुसेवे॥

(अयोध्या० ७। ११४)

'मैंने निश्चय कर लिया; मैं सम्पूर्ण राज्यको सर्वथा छोड़कर आज ही वनको जाऊँगा और मधुर मुसकानसे जिनका मुखारविन्द अति शोभित हो रहा है, उन सीतासहित श्रीरामजीकी नित्यप्रति सेवा करूँगा।

भरतजी गुरु वसिष्ठजी तथा मन्त्रियोंसे कहते हैं—

हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥

मार्गमें गुहके प्रति कहते हैं—

अहं रामस्य दासा ये तेषां दासस्य किङ्करः।
यदि स्यां सफलं जन्म मम भूयान्न संशयः॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ८। ३३)

'जो लोग भगवान् श्रीरामके दास हैं, उनके दासोंका अनुचर भी यदि मैं हो जाऊँ तो निःसंदेह मेरा जन्म सफल हो जाय।'

कैसा सुन्दर दास-भाव है !

चित्रकूटमें जाकर भरतजी भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—

अहमप्यागमिष्यामि सेवे त्वां लक्ष्मणो यथा।
नो चेत् प्रायोपवेशेन त्यजाम्येतत् कलेवरम्॥
(अध्यात्म॰, अयोध्या॰ ९। ३९)

('अच्छा, यदि आप वनसे नहीं लौटना चाहते तो मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे) मैं भी वनमें चलकर लक्ष्मणके समान ही आपकी सेवा करूँ, नहीं तो मैं अन्न-जल छोड़कर इस शरीरको त्याग दूँगा।' भगवान्‌की सेवाके लिये भरतजीका कितना आग्रह है !

किंतु भगवान्‌के स्वभावको यादकर भरतजी फिर कहने लगे—

अब करुनाकर कीजिअ सोई। जन हित प्रभु चित छोभु न होई॥
जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥

भगवान्‌के अयोध्या लौट आनेपर जब कभी भरतजी उनके साथ किसी उपवन या अमराईमें जाते थे, तो वहाँ भी सेवा ही करते रहते। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुनि प्रभु बचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारति हरना॥
करउँ कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई॥
× × ×
हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अँवराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥

इस प्रकार भरतजी नित्य भगवान्‌की सेवामें ही लगे रहे। धन्य है भरतजीके इस आदर्श सेवाभावको ! भरतजीके चरित्रका भलीभाँति मनन करके उनके सेवाभावको आदर्श बनाकर हमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका अनुकरण करना चाहिये।

(८) सख्य-भक्ति

श्रीभगवान्‌के प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाको समझते हुए परम

विश्वासपूर्वक मित्रभावसे उनकी रुचिके अनुसार बन जाना, उनमें अनन्य प्रेम करना तथा उनके गुण, रूप और लीलापर मुग्ध होकर नित्य-निरन्तर प्रसन्न रहना 'सख्यभावरूप भक्ति' है।

भरतजीके आचरण और भावोंसे केवल सखाभाव नहीं मिलता; किंतु अन्य भावोंके साथ-साथ सखाभाव भी झलकता है। जैसे वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥

(वा॰ रा॰, अयोध्या॰ ७२।३२)

भरतजी मातासे कहते हैं—'जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं तथा जिनका मैं प्रिय दास हूँ, उन सरलस्वभाव श्रीरामचन्द्रजीका पता शीघ्र बतलाओ।'

चित्रकूटमें भरतजीने भगवान् श्रीरामसे प्रार्थना करते हुए कहा है—

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥

(वा॰ रा॰, अयोध्या॰ १०१।१२)

'इन मन्त्रियोंके साथ सिर झुकाकर मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि मैं आपका भाई, शिष्य और दास हूँ, मुझपर आप दया करें।'

उपर्युक्त श्लोकोंमें शिष्य, दास, पिता—इन सब शब्दोंके साथ 'बन्धु, और भ्राता' शब्द भी हैं, जो सख्य-भावके द्योतक हैं तथा 'भ्राता' शब्दके साथ ही 'बन्धु' शब्दका अलग प्रयोग करना तो सखाभावको स्पष्ट सिद्ध करता है। अतएव भरतजीका भाई, दास, शिष्य आदि भावोंके साथ-साथ सखाभाव भी था। भ्रातृत्वके भावमें भी बराबरीका भाव होनेके कारण सदाचार टपकता है। तुलसीकृत रामायणको देखनेसे भी यह बात सिद्ध होती है। भरतजीके ही वचन हैं—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी॥

× × ×

सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि॥

इन चौपाई-दोहोंमें प्रभु, पिता, माता, गुरु, स्वामी, पूज्य, हितू आदि शब्दोंके साथ 'सुहृद्' शब्दका प्रयोग किया गया है, जो कि इनसे अपना भिन्न अर्थ रखता है। अतएव यहाँ 'सुहृद्' शब्द सखाभावका ही द्योतक है। निःसंदेह भरतजीका श्रीराममें प्रधानतया दासभाव होते हुए भी भ्रातृत्व और प्रेमके नाते मित्रभाव भी था।

भगवान् श्रीरामके बर्तावसे भी भाइयोंके साथ सखाभाव प्रकट होता है। वनगमनके पूर्व राजतिलककी तैयारीके समय श्रीरामचन्द्रजी महाराज राज्यमें सब भाइयोंका समान अधिकार मानते हुए कहते हैं—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥

इससे सब भ्राताओंके साथ श्रीरामका मित्रताका भाव झलकता है। लक्ष्मणके प्रति तो मुख्यतया 'सखा' शब्दका प्रयोग मिलता है। वनमें साथ जानेको तैयार हुए लक्ष्मणसे भगवान् कहते हैं—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे रतः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे॥

(वा॰ रा॰, अयोध्या॰ ३१।१०)

'लक्ष्मण! तुम मेरे परम स्नेही, धर्मपरायण, धैर्य-सम्पन्न और सदा सन्मार्गपर चलनेवाले हो। तुम मुझे प्राणोंके समान प्रिय एवं मेरे अधीन, आज्ञापालक और सखा हो।'

इसके अतिरिक्त, पद्मपुराणके पातालखण्डमें एक श्लोक मिलता है, जिसमें भगवान् श्रीरामने प्रेममें विह्वल होकर भरतके प्रति पाँच बार 'भाई' शब्दका उच्चारण किया है। इसमें भरतजीके प्रति भगवान्का बराबरीका तथा आदर और प्रेमका भाव संनिहित है, इससे यह सखाभावका ही द्योतक है।

यानादवतताराशु विरहक्लिन्नमानसः।
भ्रातर्भ्रातः पुनर्भ्रातर्भ्रातर्भ्रातर्वदन्मुहुः॥

(पद्म॰, पाताल॰ २।२८)

'निकट आनेपर भगवान् श्रीरामका हृदय विरहसे कातर हो उठा और वे 'भैया ! भैया भरत !' इस प्रकार कहते तथा बार-बार 'भाई ! भाई !! भाई !!!' की रट लगाते हुए तुरंत ही विमानसे उतर पड़े।'

तुलसीकृत रामायणमें भी भरतजीके प्रति भगवान्‌के द्वारा सम्मानपूर्वक बराबरीका व्यवहार किये जानेकी बात आयी है।

श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥

—इस व्यवहारसे भगवान्‌का भरतके प्रति सखाभाव स्पष्ट प्रकट होता है।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी महाराजके बर्तावमें तो कई जगह भरतके प्रति आदर-सम्मान, बराबरी और प्रेमका व्यवहार माना जाता है, जिससे स्पष्ट ही सखाभाव झलकता है। जैसे, जब-जब भरतजी नमस्कार करते, तभी भगवान् उन्हें हृदयसे लगा लिया करते। भगवान्‌का यह बर्ताव सखाभावका ही परिचायक है।

(९) आत्मनिवेदन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महिमाको जानकर ममता और अहंकाररहित होकर सब कुछ भगवान्‌का ही समझते हुए तन-मन-धन-जनसहित अपने-आपका तथा सम्पूर्ण कर्मोंका श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक भगवान्‌को समर्पण कर देना 'आत्मनिवेदनभावरूप भक्ति' है।

भरतजीमें आत्मनिवेदनका भाव भी कम नहीं था; क्योंकि वे अपनेको भगवान्‌के अर्पित ही समझते थे। तुलसीकृत रामायणमें भरतजी विलाप करते हुए कैकेयीके सामने पिताको लक्ष्य कर कहते हैं—

चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही॥

इसी प्रकार अध्यात्मरामायणमें भी कहा है—

हा तात क्व गतोऽसि त्वं त्यक्त्वा मां वृजिनार्णवे।
असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः॥

(अयोध्या० ७। ६६-६७)

'हा तात ! मुझे दुःख-समुद्रमें छोड़कर आप कहाँ चले गये ? हाय ! महाराज

रामको मुझे समर्पण किये बिना ही आप कहाँ चले गये ?'

भरतजीके इस पश्चात्तापसे यह सिद्ध होता है कि वे अपने-आपको श्रीरामके समर्पित ही समझा करते थे।

इसके अतिरिक्त भरतजी 'जो कुछ भी राज्य और धन है, वह सब श्रीरघुनाथजी महाराजका ही है, मैं भी उनका ही हूँ, अतः इन सबको उनके समर्पण करके उनकी सेवा करूँगा'—इस भावको हृदयमें रखकर चित्रकूट गये। वहाँ उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको लौटानेकी अनुनय-विनयपूर्वक बहुत चेष्टा की, परंतु श्रीरामचन्द्रजीने किसी प्रकार भी वापस लौटना स्वीकार नहीं किया और भरतको ही राज्यशासनके लिये बाध्य किया। 'महाराज रामकी आज्ञाका पालन करना ही तुम्हारा परम धर्म है'—गुरु वसिष्ठजीकी ऐसी सम्मति होनेके कारण भरतजीने भगवान्‌के स्थानमें भगवान्‌की चरणपादुकाओंको आश्रय बनाकर उनके प्रति ही समस्त राज्यको और अपने-आपको समर्पण कर दिया। चौदह वर्षकी अवधि बीतनेपर जब भगवान् अयोध्या पधारे, तब भरतजीने धरोहररूपसे रक्खा हुआ भगवान्‌का राज्य भगवान्‌को सौंप दिया और अपना शरीर भी भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर दिया। भरतजी भगवान्‌की शरणमें ही अपना परम कल्याण मानकर आजीवन उनकी आज्ञाका पालन करते रहे। राज्यके किसी भी पदार्थकी तो बात ही क्या, अपने शरीरपर भी वे अपना अधिकार नहीं समझते थे। वे केवल भगवान्‌को ही अपना सर्वस्व मानकर केवल उन्हींपर निर्भर रहा करते थे। इसके लिये रामायण आदि सब शास्त्र प्रमाण हैं। इस विषयमें नीचे कुछ प्रमाणोंका दिग्दर्शन कराया जाता है—

भरतजी भरद्वाजजीसे कहते हैं—

मम राज्येन किं स्वामिन् रामे तिष्ठति राजनि।
किङ्करोऽहं मुनिश्रेष्ठ रामचन्द्रस्य शाश्वतः॥
अतो गत्वा मुनिश्रेष्ठ रामस्य चरणान्तिके।
पतित्वा राज्यसम्भारान् समर्प्यात्रैव राघवम्॥
....
नेष्येऽयोध्यां रमानाथं दासः सेवेऽतिनीचवत्॥

(अध्यात्म॰, अयोध्या॰ ८।४९-५१)

'स्वामिन्! महाराज रामके रहते हुए मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है? मुनिश्रेष्ठ! मैं तो सदा ही श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ। अतः मुनिनाथ! मैं श्रीरामके पास जाकर उनके चरणकमलोंमें पड़कर यह सारी राजपाटकी सामग्री उन्हें यहीं सौंपकर लक्ष्मीपति श्रीरामको अयोध्या ले आऊँगा और अति तुच्छ दासकी भाँति उनकी सेवा करूँगा।'

आत्मसमर्पणका भाव व्यक्त करते हुए भरतजी श्रीरामचन्द्रजीसे कह रहे हैं—

कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी। बोले पानि पंकरुह जोरी॥
नाथ भयउ सुखु साथ गए को। लहेउँ लाहु जग जनमु भए को॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पार पावौं जेहि सेई॥

नन्दीग्राममें निवास करते समय वे मंत्रियोंसे बता रहे हैं—

ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः।
निवेद्य गुरुवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम्॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० ११५। १९-२०)

'श्रीरामचन्द्रजीका समागम होते ही उन महापुरुषकी सेवामें यह राज्य समर्पित कर देनेपर मेरा भार उतर जायगा और मैं उनकी आज्ञाके अधीन रहकर उन्हींकी सेवामें लग जाऊँगा। मेरे पास धरोहरके रूपमें रक्खी हुई इन उत्तम पादुकाओंको, इस राज्यको और अयोध्याको भी श्रीरामकी सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके पापोंसे मुक्त होकर विशुद्ध हो जाऊँगा।'

तदनन्तर भगवान्के अयोध्या लौटनेपर भरतजीने क्या किया, सो बतलाते हैं—

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्॥
अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः॥

एतत् ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया।
अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः॥

(वा॰ रा॰, युद्ध॰ १२७।५४-५६)

'फिर धर्मात्मा भरतजीने स्वयं ही हाथमें उनकी वे दोनों पादुकाएँ लेकर महाराज श्रीरामचन्द्रजीके पैरोंमें पहना दीं। उस समय भरतजीने हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे निवेदन किया कि मेरे पास थाती रक्खा हुआ आपका यह समस्त राज्य आज मैंने आपको वापस सौंप दिया है, आज मेरा जन्म सफल हो गया एवं मेरा मनोरथ पूरा हुआ।'

अध्यात्मरामायणमें भी लगभग इसी तरहका प्रसङ्ग आया है—

भरतः पादुके ते तु राघवस्य सुपूजिते।
योजयामास रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः॥
राज्यमेतन्न्यासभूतं मया निर्यातितं तव।
अद्य मे सफलं जन्म फलितो मे मनोरथः॥

(युद्ध॰ १३।९३-९४)

'तत्पश्चात् भरतजीने रामचन्द्रजीकी उन भलीभाँति पूजा की हुई पादुकाओंको भक्तिपूर्वक श्रीरामके ही चरणोंमें पहना दिया और कहा— प्रभो! मुझे धरोहररूपसे दिये हुए आपके इस राज्यको मैं पुनः आपको ही सौंपता हूँ; आज मेरा जन्म कृतार्थ हो गया और मेरा मनोरथ सफल हो गया।'

महाभारतमें भी बतलाया है कि—

तस्मै तद् भरतो राज्यमागतायातिसत्कृतम्।
न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा॥

(वन॰ २९१।६५)

'भरतजीने वह धरोहररूपमें रक्खा हुआ राज्य वनसे लौटकर आये हुए उन श्रीरामचन्द्रजीको बड़े ही हर्षसे अत्यन्त सत्कारपूर्वक सौंप दिया।'

वस्तुतः भरतजीका समस्त जीवन ही मूर्तिमान् आत्मसमर्पण है। उनके सारे कार्य श्रीरामके लिये ही होते थे। रामकी प्रीति और प्रसन्नता ही उनके जीवनका मुख्य तथा नित्य लक्ष्य था; क्योंकि भरतजीमें नवधा भक्तिके सिवा प्रेमलक्षणा

भक्ति भी पूर्णतया विद्यमान थी। वे प्रेमकी एक जीती-जागती मूर्ति ही थे। इसीसे भरद्वाजमुनिने कहा था—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

इतना सब होनेपर भी भरतजी अपनेमें कोई गुण नहीं देख पाते। वे अपनेको विषयी, कपटी, कुटिल ही मानते हैं। असलमें आत्मनिवेदन वही सच्चा है, जहाँ निवेदनका अभिमान भी नहीं है। सब कुछ सहज ही समर्पित है और माना जाता है कि कुछ भी नहीं है। भरतजी ऐसे ही हैं।

भरतजीकी इस विलक्षण आत्मनिवेदन-भक्तिको आदर्श बनाकर चलनेवाले पुरुष धन्य हो सकते हैं।

उपसंहार

ऊपर भक्तिके नौ प्रकार बतलाये गये हैं, उनको तीन भागोंमें बाँट लेना चाहिये। पहली तीन श्रवण, कीर्तन और स्मरण-भक्ति तो परोक्षमें यानी उपास्यदेवकी अनुपस्थितिमें की जाती है और दूसरी—तीन पादसेवन, अर्चन और वन्दन-भक्ति पूर्णतया तो भगवान्के साक्षात् मिलनेपर ही होती है, किंतु भगवान्की अनुपस्थितिमें मनके भावसे उनको प्रत्यक्ष मानकर भी इनका अनुष्ठान किया जाता है।

ये छः भक्ति तो क्रियारूप हैं। शेष तीन—दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन-भक्ति भावरूप हैं; क्योंकि उनमें भावके अनुसार क्रिया होनेपर भी प्रायः भावकी ही प्रधानता रहती है। भक्तिमें प्रेमभाव तो एक व्यापक वस्तु है, उसका सम्बन्ध तो सभी प्रकारकी भक्तियोंके साथ है। इसलिये क्रियारूप भक्तिके साथ भावका संयोग होनेपर वह भी भावरूप हो जाती है।

बहुत-से भक्तगण श्रवणको सत्सङ्ग, कीर्तनको भजन और स्मरणको ध्यानका रूप देते हैं; क्योंकि इन तीनोंका उनके साथ परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये इन तीनोंको एक समूहमें बाँधकर बतलाया गया है। इनमें भी वृक्षके मूलमें जल सींचनेकी भाँति सत्सङ्ग भजन-ध्यानका पोषक है। इन तीनोंमेंसे एकके अनुष्ठान करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जैसे श्रवणसे परीक्षित् आदि,

कीर्तनसे नारद आदि और स्मरणसे ध्रुव आदि परमात्माको प्राप्त हो गये, फिर तीनोंके एक साथ अनुष्ठान करनेसे परमात्माको प्राप्त होनेमें तो कहना ही क्या है !

इसी प्रकार पादसेवन, अर्चन और वन्दन—इन तीनोंको एक दूसरे समूहमें बाँधा गया है; क्योंकि भगवच्चरणोंकी सेवा, पूजा और नमस्कार—ये तीनों ही चरणोंसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं। इन तीनोंमेंसे भी एकके सेवनसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, जैसे पादसेवनसे केवट आदि, अर्चनसे पृथु आदि और वन्दनसे अक्रूर आदि भगवान्‌को प्राप्त हो गये, फिर एक साथ तीनोंके सेवनसे भगवत्प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है !

इसी तरह दास्यभाव, सख्यभाव और आत्मनिवेदनभाव—ये तीनों भावरूपसे अनुष्ठान करने योग्य हैं; इसी कारण इन तीनोंकी एकता है। ये तीनों भाव एक साथ भी रह सकते हैं और अलग-अलग भी। इन तीनोंमेंसे किसी एक भावसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, जैसे दासभावसे हनुमान् आदि, सखाभावसे अर्जुन आदि और आत्मनिवेदनभावसे बलि आदि भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं, फिर सब भावोंसे उपासना की जानेपर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

अतएव हमलोगोंको श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावपूर्वक बड़े ही उत्साहके साथ तत्परतासे भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये।

——::o::oo——

भगवान्के परम दिव्य-गुणसम्पन्न स्वरूपका ध्यान

श्रीभगवान्के ध्यानके समान संसारमें कल्याणका और कोई भी दूसरा साधन नहीं है। इसलिये मनुष्यको भगवान्का ध्यान श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये। एकान्तवास, सत्पुरुषोंका सङ्ग, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और मनन, नामका जप, स्वरूपका स्मरण, लीला और गुण-प्रभावका चिन्तन, तत्त्व और रहस्यका ज्ञान, भगवान्में श्रद्धा और प्रेम तथा संसारके भोगोंसे वैराग्य और उपरति—ये सब भगवान्के ध्यानमें विशेष उपयोगी हैं; क्योंकि भगवान्के नामके जपसे स्वरूपकी स्मृति होती है, स्वरूपकी स्मृतिसे चरित्र (लीला) की स्मृति होती है, लीलाकी स्मृतिसे गुण-प्रभावकी अनुभूति होती है, इन सबके स्मरण और मननसे भगवान्का तत्त्व-रहस्य जाना जाता है, उससे श्रद्धा-प्रेम बढ़ता है, तब सांसारिक भोगोंसे वैराग्य और उपरति होकर भगवान्के ध्यानमें गाढ़ स्थिति हो जाती है।

अतः साधककी साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण जिस स्वरूपमें रुचि हो, उसे अपने उसी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। उस परमात्माके निर्गुण-निराकारसहित असंख्य दिव्य-गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूपका ध्यान किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा ध्यान ही भगवान् पुरुषोत्तमके समग्ररूपका

ध्यान है। इसको समझानेके लिये इसके सदृश दृष्टान्त, दार्ष्टान्त, उदाहरण, रूपक, उपमा संसारमें हैं ही नहीं। जिस देशमें सूर्य नहीं, उस अन्धकारमय देशमें किसी भी दृष्टान्तके द्वारा सूर्यको समझाना कदापि सम्भव नहीं; क्योंकि जब सूर्यके सदृश दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब उसे किस रूपमें कैसे समझाया जाय? इसी प्रकार परमात्माका वह अति विलक्षण दुर्विज्ञेय स्वरूप किसी भी दृष्टान्तके द्वारा यहाँ समझाया जाना कठिन है।

जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें कारणभूत परमाणुरूपमें स्थित जल अव्यक्त और अप्रकट है, वह दूरवीक्षण यन्त्र या अन्य किसी भी साधनके द्वारा दृष्टिगोचर नहीं हो सकता; किंतु वही जल जब रसमय होकर आकाशमें स्थित रहता है, तब भी वह देखनेमें तो नहीं आता, किंतु विचारके द्वारा अनुभवमें आ सकता है और वही जल जब बादल और बूँदोंका रूप धारण करके ओलों (बर्फके ढेलों) के रूपमें बरसने लगता है, तब वह प्रत्यक्ष देखने तथा पकड़नेमें भी आता है। उस प्रकट जलसे सभी प्रकारका जलोचित व्यवहार किया जा सकता है। यह जलका उदाहरण चेतन परमात्माकी उपमाके योग्य नहीं है, क्योंकि जल जड़, परिणामी, विनाशशील, एकदेशीय और अल्प है तथा परमात्मा इससे सब प्रकारसे विलक्षण, नित्य, चेतन, निर्विकार और अनन्त है, अतः उस अनुपम और अप्रमेय परमात्माके लिये कोई दृष्टान्त या उदाहरण है ही नहीं। तथापि महात्मागण समझानेके लिये किसी-न-किसी दृष्टान्तको सामने रखकर ही यथाशक्ति यत्किञ्चित् उसका तत्त्व आंशिकरूपसे समझाया करते हैं।

जैसे अव्यक्त कारणरूपमें स्थित निराकार जल ही रसके रूपमें प्रकट होता है, उसी प्रकार वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही भक्तोंके प्रेम और भावके कारण विज्ञानानन्दमय सगुण-निराकाररूपमें प्रकट होते हैं। फिर जैसे वही जल बादल और बूँदोंके रूपमें प्रकट होकर ओलोंका रूप धारण करता है, उसी प्रकार दिव्य-चिन्मय निरतिशय कल्याणमय गुणसमूहोंके महान् समुद्र सगुण-निराकार परमात्मा अनन्त महान् प्रकाशके रूपमें प्रकट होकर फिर नित्य दिव्य प्रकाशपुञ्ज सगुण-साकार-रूपमें प्रकट होकर दृष्टिगोचर होते हैं। जिस परम प्रेमी श्रद्धालु भक्तको भगवान्‌के उस दिव्य स्वरूपके दर्शन होते हैं, उस भगवद्भक्तकी दृष्टि भी

दिव्य हो जाती है। भगवान्‌का भक्त भगवान्‌की कृपासे इन चर्मचक्षुओंसे भी भगवान्‌के उस अति दिव्य अद्भुत रूपका दर्शन कर सकता है। भगवान्‌का दर्शन पाकर वह भक्त आनन्दमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता। उसे एक श्रीभगवान्‌के सिवा अन्य किसीका भी ज्ञान नहीं रहता। वह अपने-आपको भी भूल जाता है। उस रूपमाधुरीके दर्शनके प्रभावसे उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती। वह एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उस दिव्य रूप-माधुरीका दर्शन ही करता रहता है। फिर चेत होनेपर वह भक्त भी उस दिव्य रूप-माधुरीका वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि उस अपरिसीम अप्रमेय दिव्य-गुणगणसम्पन्न माधुरी मूर्तिका वर्णन करनेमें वाणी सर्वथा असमर्थ रहती है। फिर मुझ-जैसा एक साधारण मनुष्य तो उस परम दिव्य रूप-माधुरीके किसी शतांशका वर्णन करनेमें भी कैसे समर्थ हो सकता है? तथापि कुछ प्रेमी भाइयोंके आग्रहसे इस विषयमें कुछ लिखा जाता है। वह मेरी धृष्टतामात्र है, इसके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

जिस समय भगवान् प्रकट होते हैं, उसके पूर्व ही साधकके बाहर और उसके शरीरके अंदर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें तथा शरीरके अणु-अणुमें अनन्त अतिशय दिव्य, अलौकिक चेतनता, शान्ति, समता और आनन्द परिपूर्ण हो जाते हैं। फिर परमात्माका यह सगुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-साकाररूपमें परिणत होकर उसके सम्मुख दृष्टिगोचर होता है। निरतिशय प्रेमानन्दस्वरूप भगवान्‌की यह दिव्य मूर्ति अत्यन्त मनोहर, अनन्त प्रेममय, दिव्य अमृतमय, महान् रसमय और परम आनन्दमय है। इस परम मनोहर दिव्य मूर्तिका चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त ध्यान करके साधक भी रसमय, प्रेममय, अमृतमय और आनन्दमय हो जाता है। अतः साधकको उस प्रेमानन्दमयी मूर्तिका साक्षात्कार करनेके लिये उसका अपने सम्मुख आकाशमें निम्नलिखित प्रकारसे ध्यान करना चाहिये।

अपने नेत्रोंसे करीब तीन हाथकी दूरीपर आकाशमें साक्षात् विज्ञानानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही दिव्य चेतन महान् प्रकाशमय सगुण-साकार श्रीविष्णुके रूपमें विराजमान हो रहे हैं। वे अखिल सौन्दर्यकी निधि एवं अपनी अनन्त महिमासे नित्य महिमान्वित हैं। वे नील मणिके सदृश श्याम होते हुए भी दिव्य निर्मल उज्ज्वल प्रकाशके कारण हल्की-सी नीलिमासे युक्त अति शुभ्र श्वेतरूपमें अनन्त सूर्योंसे भी बढ़कर प्रकाशित और देदीप्यमान हो रहे हैं, किंतु वह महान् तेजोमय प्रकाश

शीतलताके पुञ्ज चन्द्रमासे भी बढ़कर अत्यन्त शान्तिमय है। उनका श्रीविग्रह षोडशवर्षीय सुन्दर राजकुमारके-से आकारका करीब साढ़े तीन हाथ लंबा और एक हाथ चौड़ा है। उनके चरणोंके तलुओंमें गुलाबी रंगकी झलक है। और उनमें ध्वजा (पताका), जौ, अङ्कुश, शङ्ख, चक्र, कमल, वज्र, स्वस्तिक आदिके चिह्न (रेखाएँ) सुभोभित हो रहे हैं। उनके चरण तथा चरणोंकी अँगुलियाँ बहुत ही चमकीली, कोमल, चिकनी और अतिशय सुन्दर हैं। अँगुलियोंमें संलग्न चाँदनीयुक्त चन्द्रमाके समान उद्भासित नखश्रेणियोंकी ज्योति एक निराले ही ढंगकी है, मानो दिव्य रत्न चमक रहे हों। भगवान्‌के चरणोंमें स्थित नूपुरोंकी ध्वनि ऐसी अमृतमयी और मधुर है कि कर्णपुटोंमें प्रवेश करते ही साधकका मन उसीमें तल्लीन होकर मन्त्रमुग्धकी तरह स्तब्ध हो जाता है। उनके मृदुल चरणोंका स्पर्श बड़ा ही विलक्षण, अत्यन्त अमृतमय, महान् रोमाञ्चकारक और परम आनन्ददायक है। भगवान् अति दिव्य सुकोमल (मुलायम) और चमकीला पीताम्बर पहने हुए हैं, जिसके भीतरसे भगवान्‌की महान् प्रकाशमयी देहद्युति चमक रही है। उनकी पिण्डलियाँ, घुटने तथा जङ्घाएँ भी बड़ी ही कोमल, चिकनी, चमकीली और परम सुन्दर हैं। भगवान् अपने पतले और अति मनोहर कटिभागमें दिव्यरत्नोंसे जड़ी हुई करधनी धारण किये हुए हैं। ब्रह्माजीका उत्पत्तिस्थान उनका नाभि-कमल अत्यन्त गम्भीर है तथा उदर त्रिवली (तीन रेखाओं) से सुशोभित और अति सुन्दर है। भगवान्‌का वक्षःस्थल विशाल, अत्यन्त पुष्ट, अतिशय मनोरम और चौड़ा है। भगवान्‌के चार भुजाएँ हैं, दो ऊपरकी ओर फैली हुई हैं और दो नीचेकी ओर घुटनोंतक पसरी हुई हैं। भुजाएँ लंबी, बड़ी ही मृदुल, चिकनी, चमकीली, अत्यन्त पुष्ट, बलशालिनी, गोलाकार, चूड़ी-उतार (क्रमशः ऊपरसे मोटी और नीचेसे पतली) तथा परम मनोहर हैं। भगवान्‌की हथेली मन्द-मन्द लालिमासे युक्त बड़ी ही सुन्दर शङ्ख, चक्र, कमल, यव, अङ्कुश, ध्वजा, स्वस्तिक आदि चिह्नोंसे सुचिह्नित एवं परम शोभासंयुक्त है। उनके हाथोंकी अँगुलियोंमें संलग्न नखश्रेणियोंकी ज्योति अतिशय उज्ज्वल और बड़ी ही चित्ताकर्षक है, मानो दिव्य रत्नोंकी पंक्ति चमक रही हो। चारों हाथोंकी अँगुलियोंमें रत्नजटित स्वर्णमय अंगूठियाँ और हाथोंमें कड़े तथा भुजबन्द सुशोभित हो रहे हैं। भगवान्‌के नीचेके दाहिने हाथमें परम ओजस्विनी कौमोदकी गदा तथा बायें हाथमें अति सुन्दर कमल है एवं ऊपरके दाहिने हाथमें

अत्यन्त तेजोमय सुदर्शन चक्र और बायें हाथमें परम उज्ज्वल अति शुभ्र पाञ्चजन्य शङ्ख शोभायमान हो रहा है। वे अपने नीलिमायुक्त कण्ठदेशमें अतिशय देदीप्यमान दिव्य मुक्ता, रत्न और स्वर्णकी मालाएँ धारण किये हुए हैं एवं तुलसी और अलौकिक पुष्पोंकी वनमालाएँ घुटनोंतक लटकी हुई हैं। कोमल पल्लव और फूलोंके समूहद्वारा बनाये हुए हारसे शङ्खके समान मनोहर ग्रीवा बड़ी सुन्दर जान पड़ती है। उनके वक्षःस्थलपर रत्नजटित चन्द्रहार तथा परम दिव्य कौस्तुभमणि बालसूर्यकी भाँति देदीप्यमान हो रही है। वक्षःस्थलके मध्यभागमें स्वच्छ दर्पणमें मुख दीखनेकी भाँति श्रीलक्ष्मीजीका (श्रीवत्स) चिह्न दिखलायी पड़ता है और उसके ऊपर श्रीभृगु-लताका चिह्न है। भगवान्‌के कंधे उन्नत, पुष्ट और कोमल हैं, उनपर स्वर्णमय यज्ञोपवीत और लाल रंगका उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) धारण किये हुए हैं। भगवान्‌की ग्रीवा लंबी है तथा कण्ठ और चिबुक अति सुन्दर हैं। भगवान्‌के अधर और ओष्ठ बिम्बफल, लाल मणि और मूँगेकी भाँति चमक रहे हैं। भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं। उनका मुखारविन्द खिले हुए कमल-पुष्पकी तरह मनोहर हास्य, परम शोभा, उज्ज्वल कान्ति और अतिशय निर्मल उल्लाससे संयुक्त है; जिससे अतिशय निर्मल दाँतोंकी पंक्ति मोतियोंकी पंक्तिकी भाँति परम शोभायुक्त और अति मनोहर दृष्टिगोचर हो रही है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही सुन्दर, स्पष्ट, कोमल और मधुर है, जो कर्णपुटोंको अमृतके तुल्य प्रिय प्रतीत होती है। नासिका बड़ी ही मनोहर है। भगवान्‌के कपोल (गाल) चमकीले, कोमल, स्वच्छ और मन्द-मन्द गुलाबी रंगकी झलकसे युक्त परम कान्तिमय हैं, उनपर कानोंमें संलग्न कुण्डलोंकी झलक शोभा दे रही है। परम सुन्दर और विशाल कानोंमें मकरकी आकृतिवाले रत्नजटित स्वर्णमय कुण्डल बाल-सूर्यकी भाँति चमक रहे हैं। भगवान्‌के नेत्र विस्तृत कमलपत्रकी तरह अति सुन्दर, अति विशाल, चमकीले और खिले हुए कमल-पुष्पकी भाँति अतिशय प्रफुल्लित एवं परम ज्योतिर्मय हैं। भगवान् अपने अपरिसीम प्रेम और दयासे मुझको अपलक (एकटक) देखते हुए मानो प्रेम, दया, आनन्द, शान्ति, समता, ज्ञान आदि गुणोंकी मुझपर अनवरत वर्षा कर रहे हैं और जैसे पूर्णकलायुक्त चन्द्रमाकी अमृतमयी किरणोंसे सम्पूर्ण ओषधियोंमें अमृतमय रस परिपूर्ण हो जाता है, उसी तरह भगवान्‌के नेत्रोंसे प्रवाहित वह दिव्य अमृतमय गुणोंकी अजस्र धारा मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरके

अणु-अणुको अपने उस परम दिव्य रससे आप्यायित करती हुई सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है, जिससे वे गुण मुझमें प्रवेशकर रोम-रोममें भलीभाँति व्याप्त होकर ऐसी चेतनता, आनन्द, शान्ति और प्रेमका मधुर रसास्वादन करा रहे हैं, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। मैं भगवान्‌के उस अखिल सौन्दर्य-रससुधानिधि मुखारविन्दको देखकर बार-बार मुग्ध हो रहा हूँ और एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हींके रूपको देख रहा हूँ। भगवान्‌की भौंहें भ्रमरोंकी तरह कृष्णवर्ण तथा भृकुटी विशाल और अतिशय सुन्दर है, जिससे समस्त जीवोंपर अत्यन्त अनुग्रह सूचित हो रहा है। भगवान्‌का ललाट चमकीला, चिकना, अति विशाल और परम शोभायमान है, उसपर अति सुन्दर श्रीधारण तिलक है। मस्तक चमकीली, चिकनी, काली, घुँघराली अलकावलीसे सुशोभित हो रहा है; केशोंमें पारिजात आदिके पुष्प गुँथे हुए हैं। मस्तकपर रत्नजटित स्वर्णमय परम कान्तियुक्त दिव्य मुकुट चमक रहा है। भगवान्‌के मुखारविन्दके चारों ओर सूर्यकिरणोंकी भाँति दिव्य प्रकाशकी अत्यन्त उज्ज्वल किरणें छिटक रही हैं। उनका मुखारविन्द अमृतमयी शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमासे भी बढ़कर कान्तिमान्, शोभामय और परम रमणीय है। भगवान्‌के श्रीविग्रहसे अत्यन्त दिव्य परम मधुर सुगन्ध निर्गत हो रही है, जिसको मैं अपने नासापुटोंसे ग्रहण करके मानो अमृतका ही पान कर रहा हूँ। भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, वार्तालाप—सभी प्रेममय, रसमय और आनन्दमय हैं।

भगवान्‌का श्रीविग्रह, वस्त्र, अलंकार, आभूषण, आयुध, मालाएँ आदि सभी दिव्य चिन्मय हैं। भगवान्‌के श्रीविग्रहकी सुन्दरता इतनी मधुर और चित्ताकर्षक है कि जिसको देखकर पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते हैं, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है! उनकी स्वरूपलावण्यमयी आकृतिको देखकर कामदेव भी लज्जित हो जाता है। करोड़ों कामदेवोंका सौन्दर्य भी भगवान्‌के सौन्दर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है। भगवानकी वह रूप-माधुरी भक्तपर एक जादूका-सा काम करती है। उस रूप-माधुरीके दर्शनसे ही इतना आकर्षण हो जाता है कि फिर उसे छोड़ा ही नहीं जा सकता। सम्पूर्ण जगत्‌का समस्त सौन्दर्य मिलकर भी भगवान्‌के सौन्दर्यके एक अंशके समान भी नहीं है। उनकी प्रेममयी सुन्दरताकी महिमा कोई भी नहीं गा सकता। भगवान्‌के नेत्रोंकी प्रेममयी दृष्टि पड़नेसे मनुष्य भगवान्‌के प्रेममें इतना तन्मय हो जाता है कि वह फिर भगवान्‌को कभी भुला नहीं सकता, बल्कि वह सदा

अपने नेत्रोंसे भगवान्‌की रूप-माधुरीका ही पान करता रहता है। भगवान्‌की उस रूपमाधुरीके प्रत्यक्ष दर्शनकी तो बात ही क्या है, स्वप्नमें भी उसके दर्शन हो जाते हैं, तो मनुष्य प्रेममें इतना निमग्न हो जाता है कि अपने जीवनमें उसे कभी भुला नहीं सकता तथा उसमें इतना अद्भुत आकर्षण है कि वह रसमय विग्रह एक बार भी यदि ध्यानमें आ जाता है तो फिर भक्त उसे भुलानेमें असमर्थ-सा हो जाता है और उस अमृतमय रसका आस्वाद लेता हुआ कभी तृप्त नहीं होता, वरं उस प्रेममय अतृप्तिमें अपने-आपको ही भुला देता है एवं उनके गुणोंको बार-बार स्मरण करके मुग्ध होता रहता है।

भगवान्‌में असीम और अत्यन्त विलक्षण सौम्यता, शान्ति, प्रेम, सौहार्द, मधुरता, सुन्दरता, रमणीयता, रुचिरता, मनोहरता, नित्यनूतनता, उदारता, वीरता, निरभिमानिता, निर्वैरता, भक्तवत्सलता, प्रेमाधीनता, पतितपावनता, सर्वमङ्गलकारिता, सच्चिदानन्दस्वरूपता, सर्वाराध्यता, कृतज्ञता, दानशीलता, धार्मिकता, सर्वश्रेष्ठता, तत्त्वज्ञता, बुद्धिमत्ता, वाग्मिता, शास्त्रज्ञता, समस्तभाषाभिज्ञता, प्रियवादिता, मनस्विता, दक्षता, सर्वचित्ताकर्षक मधुरभाषिता, शरणागतसंरक्षण, साधुपरित्राण, भक्त-सौहार्द, न्याय, दृढ़व्रत, पाण्डित्य, प्रतिभा, परम आनन्द, परम गति, सर्वसिद्धि, समृद्धि, सर्ववशित्व, असाधारण अद्भुत शोभा, सर्वाकर्षणत्व और अद्भुत चमत्कार आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। इनके अतिरिक्त भागवतमें भी सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा आदि बहुत-से गुणोंका वर्णन आता है। पृथ्वीने धर्मके प्रति कहा है—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥
एते चान्ये च भगवन् नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥

(श्रीमद्भा० १।१६।२६-२९)

'भगवन् ! उन भगवान्‌में सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, संतोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, पराक्रम, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, मनोबल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहङ्कारिता—ये उनतालीस अप्राकृत गुण तथा बड़े-बड़े महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंद्वारा वाञ्छनीय और भी बहुत-से महान् गुण उनकी सेवा करनेके लिये नित्य-निरन्तर निवास करते हैं, वे एक क्षणके लिये भी उनसे अलग नहीं होते ।'

शास्त्रोंमें भगवान्‌के और भी अनेक गुण बतलाये गये हैं; किंतु अनन्त गुण होनेके कारण उन सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है। ये सब अप्राकृत गुण भगवान्‌में अतिशय और पूर्णरूपसे हैं। सारे संसारके प्राणिमात्रके हृदयमें वर्तमान दया और प्रेमको एकत्र किया जाय, तब भी उस अनन्त अपार दया और प्रेमके समुद्रकी एक बूँदसे भी उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डके समस्त गुणसमूह मिलकर भी उन गुणसागरके एक बूँदकी भी समता नहीं कर सकते, क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्डके परमात्माके संकल्पके किसी एक अंशमें स्थित हैं। उन दिव्य चिन्मय परमात्माका निर्गुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-निराकारके रूपमें परिणत होता है, अतः ये सब गुण दिव्य और चिन्मय हैं। इन दिव्य चिन्मय गुणोंके एक अंशका प्रतिबिम्ब ही सारे ब्रह्माण्डमें अनन्त गुणोंके रूपमें भासित हो रहा है। इसीलिये संसारके समस्त गुण परमात्माके गुणोंके एक बूँदकी भी बराबरी नहीं कर सकते।

उस सगुण-साकार स्वरूपके दो भेद हैं—एक तो मायाविशिष्ट और दूसरा मायातीत। जो मायातीत रूप है, उसमें सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंका अत्यन्त अभाव है, अतः उन परमात्माके गुण, स्वरूप, प्रभाव आदि सभी चिन्मय हैं; किंतु जो संसारमें अवतार लेते और सबके दृष्टिगोचर होते हैं, वह भगवान्‌का मायाविशिष्ट रूप है,*. असली मायातीत रूप सबको नहीं दीखता; क्योंकि सभी उसके

---

* गीतामें भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

अधिकारी न होनेके कारण भगवान् अपने ऊपर मायाका पर्दा डाले हुए रहते हैं। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(७।२५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु जो भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला भक्त है, उससे वे अपना पर्दा हटाकर वास्तविक मायातीत रूप दिखला देते हैं, जिसका दर्शन पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

वास्तवमें वे परमात्मा ईश्वरोंके भी ईश्वर, अज और अविनाशी हैं, उनका जन्म और विनाश नहीं होता, वे तो संसारके हितके लिये प्रकट और अन्तर्धान होते हैं या यों कहिये कि उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता है। जो मनुष्य उन परमात्माके जन्मकी उपर्युक्त दिव्यता और अलौकिकताको तत्त्वतः जान लेता है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता ४।९)।

भगवान्‌का प्रभाव भी अतिशय अप्रमेय और अलौकिक है। भगवान्‌में सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, पराक्रम, प्रताप, सामर्थ्य, विभूति, महिमा, कान्ति, सर्वज्ञता, सर्वकारणता, सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, सर्वनियन्तृता, सर्वेश्वरता, सर्वान्तर्यामिता आदि अनन्त, असीम और विलक्षण प्रभाव हैं। जैसे सूर्योदयसे समस्त अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपके स्मरण और ध्यानके प्रभावसे समस्त दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद आदि सभी विकारोंका और दुःख-दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा मनुष्य सद्गुण-सदाचारसम्पन्न होकर जन्ममृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरकर सहज

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। परमात्मा स्वयं असीम, अप्रमेय और चिन्मय होनेके कारण उनका प्रभाव भी चिन्मय, असीम और अप्रमेय है। जिनके संकल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अनायास ही होते रहते हैं, जिनके कृपा-कटाक्षसे ही लाखों-करोड़ों प्राणियोंका क्षणमें उद्धार हो सकता है, जो असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव करनेमें समर्थ हैं, जो जडको चेतन और चेतनको जड बना सकते हैं और जो मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छर बना देनेमें समर्थ हैं, उन अचिन्त्य-अनन्त प्रभावशाली परमात्माके प्रभावका वर्णन पूर्णतया करना सम्भव नहीं। समस्त ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ भी विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि प्रभावशाली तेजस्वी पदार्थ हैं, वे सब मिलकर भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका ही आभासमात्र हैं; क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्‌के संकल्पके एक अंशमें स्थित हैं।* उन भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जान जाता है, वह उसी क्षण उनको प्राप्त हो जाता है।

अतएव भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेके लिये गुण-प्रभाव-सहित उनके स्वरूपका निष्कामभावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर ध्यान करना चाहिये।

---

* गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

——::o::——

ईश्वरभक्ति, सदाचार और गीताकी महिमा

[एक व्याख्यान]

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

उपदेश और आदेश देनेका न मेरा अधिकार है और न मुझमें योग्यता ही है, किंतु आपलोगोंका कहना है, इसलिये मैं विनयके रूपमें कुछ कह देता हूँ। हमारे परम पूज्य मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी प्रजाके प्रति उपदेश और आदेश देते हुए जो कुछ कहा है, उसकी ओर हमें ध्यान देना चाहिये।

वे कहते हैं—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥

'हे सकल पुरवासीजनो ! मेरी वाणीको सुनो , मैं कुछ ममता (अभिमान) करके नहीं कहता हूँ।'

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥

'न तो मैं अनीतिकी बात कहूँगा और न प्रभुता की। आपलोग सुनें और सुनकर यदि आपको अच्छी लगे तो उसे आप काममें लायें।'

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

'हे भाई! यदि मैं कोई अनीतिकी बात कहूँ तो भयका त्याग करके मुझको मना कर देना।'

ध्यान देनेकी बात यह है कि वे साक्षात् भगवान् थे, सम्राट् थे और मर्यादा पुरुषोत्तम थे। उपदेश और आदेश देनेका उनका सब प्रकारसे अधिकार था; किंतु कितनी विनय और सरलतासे वे अपने प्रजाजनोंसे कह रहे हैं।

मैं तो जो कुछ भी आपकी सेवामें निवेदन करता हूँ, वह मेरी एक प्रार्थना है। आप यदि उचित समझें तो उसको काममें ला सकते हैं; आप स्वतन्त्र हैं। किंतु जो उसको काममें लायेंगे, मैं अपनेको उनका आभारी मानूँगा।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तो कहते हैं—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

'वही मेरा सेवक है, वही मेरा अतिशय प्यारा है, जो मेरे शासनको मानता है।' मैं इस प्रकार भी नहीं कह सकता। वे तो ईश्वर और सर्वशक्तिमान् थे, शासक थे; वे सब प्रकारसे यों कह सकते हैं। मैं न कोई शक्तिमान् हूँ, न ईश्वर हूँ, न तो कोई शासक ही हूँ। मैं तो प्रार्थना और विनयके रूपमें ही निवेदन कर सकता हूँ।

हमलोगोंको यह विचार करना चाहिये—यह मनुष्य-जीवन हमें किसलिये मिला है? यह आहार, निद्रा और मैथुनके लिये नहीं मिला है। भोजन, मैथुन और शयन तो पशुओंमें भी है। फिर हममें क्या विशेषता हुई? यह मनुष्यका शरीर भोगोंके लिये नहीं मिला है। यह मिला है— आत्माके कल्याणके लिये; किंतु जो मनुष्य-शरीर पाकर अपने जीवनको भोगोंमें लगाता है, वह अमृतके बदले विषका सेवन करता है—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

इन सब बातोंका विचार करके हमलोगोंको अपना समय बहुत ही उच्च काममें लगाना चाहिये। मनुष्यका जन्म बार-बार मिलनेका नहीं। ईश्वरने

हमलोगोंको मौका दिया है। उनकी बड़ी कृपा है। ऐसा सुअवसर पाकर हमको अपने मनुष्य-जीवनसे विशेष लाभ उठाना चाहिये। ऐसा न हो कि हमें आगे चलकर पश्चात्ताप करना पड़े। मनुष्य-शरीरको पाकर जो अपनी आत्माका कल्याण नहीं करेंगे, उनको आगे चलकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

'वे आगे जाकर सिर धुन-धुनकर पश्चात्ताप करेंगे। काल, कर्म और ईश्वरको झूठा दोष लगायेंगे।'

इसलिये हमलोगोंको अपने समयका उपयोग बहुत सावधानीके साथ करना चाहिये। प्रातःकाल और सायंकाल, जो उपासनाका समय है, नित्य-नियमसे उपासना करनी चाहिये। जिनके यज्ञोपवीत है, उनको संध्या और गायत्री-जप करना चाहिये। जिनके यज्ञोपवीत नहीं है, उनको अपने अधिकारके अनुसार भक्तिका साधन करना चाहिये। नित्यप्रति गीता और रामायणका स्वाध्याय भगवान्‌के नामका जप और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान तो अर्थ और भावसहित सभीको करना चाहिये।

हमलोग जो भजन-ध्यान और पूजा-पाठ करते हैं; उससे जितना लाभ होना चाहिये, उतना देखनेमें नहीं आता। इसका कारण यही है कि हम भजन-ध्यान और पाठ आदि अर्थ और भावसहित नहीं करते। हमलोगोंका भजन-ध्यान करते समय मन कहीं-का-कहीं चला जाता है, केवल बाहरी भजन-ध्यान होता है। न करनेकी अपेक्षा तो ऐसा करना भी अच्छा है, पर वास्तवमें वह विशेष मूल्यवान् नहीं!

नामका जप जो वाणीसे किया जाता है, उसकी अपेक्षा, जो श्वाससे किया जाता है, वह श्रेष्ठ है। जो मानसिक किया जाता है, वह उससे भी श्रेष्ठ है और वही मानसिक जप यदि अर्थ और ध्यानसहित किया जाय तो और भी श्रेष्ठ है।

जैसे श्रीपतञ्जलिजीने कहा है—

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(योग० १।२८)

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना करना।' गीतामें बतलाया है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
(८।१३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है।'

इस प्रकार करना चाहिये। इस प्रकारका जप यदि निष्कामभावसे किया जाय तो वह और भी विशेष मूल्यवान् हो जाता है। ऐसे ही गीताके विषयमें समझना चाहिये। जो मनुष्य प्रतिदिन गीताके १८ अध्यायोंके मूल श्लोकोंका पाठ बिना अर्थ समझे करता है, उसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है, जो अर्थ-भावसहित एक अध्यायका पाठ करता है एवं उससे भी वह पुरुष श्रेष्ठ है, जो एक श्लोकको भी धारण करता है।

हमलोगोंको अपना समय बहुत सावधानीके साथ बिताना चाहिये। हर समय भगवान्‌के नामका जप और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करते हुए ही सब काम करने चाहिये। अर्जुनके लिये भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
(गीता ८।७)

'इसलिये अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर।'

अर्जुन क्षत्रिय था; उसके लिये भगवान्‌ने युद्ध करनेकी आज्ञा दी है। इसी प्रकार सबको भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार शास्त्रोक्त ही सब कर्म करने चाहिये।

रात्रिमें शयनके समय मनमें जो संसारके संकल्पोंका प्रवाह बहता रहता है, वही संकल्पोंका प्रवाह स्वप्नके रूपमें स्वप्नका संसार बनकर प्रतीत होने लगता है। इसलिये बिछौनेपर शयन करनेके बाद जबतक हम जागते रहें, भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका स्मरण करते-करते शयन करना चाहिये।

इस प्रकार करते हुए ही शयन करनेसे अर्थात् भगवत्सम्बन्धी संकल्पोंका प्रवाह बहाते हुए ही शयन करनेसे रात्रिमें स्वप्न भी अच्छे ही आयेंगे और स्वाभाविक ही हमारा वह समय साधनके रूपमें परिणत हो जायगा।

ईश्वरकी हमलोगोंपर बड़ी भारी कृपा है। ईश्वरने हमलोगोंको बड़ा सुन्दर सुअवसर दिया है। ख्याल कीजिये, सारे ब्राह्माण्डमें यह मर्त्यलोक—मनुष्यलोक सबसे उत्तम है। इस मनुष्यलोकमें यानी पृथ्वीलोकमें भारतवर्ष सबसे उत्तम है। उस भारतवर्षमें हमलोगोंका जन्म हुआ। यह ईश्वरकी कितनी भारी कृपा है!

इसके अतिरिक्त संसारमें जितने भी प्रचलित धर्म माने जाते हैं, उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है, जो वैदिक सनातन धर्मसे पहलेका हो । यह सनातन धर्म सनातन है अनादि है। अन्यान्य जितने भी संसारमें धर्मके नामसे प्रचलित हुए हैं, वे सब पीछेके हैं। इस बातको सभी स्वीकार करते हैं। इस्लाम-धर्म जो हजरत मुहम्मदका चलाया हुआ है और जिसका धर्मग्रन्थ कुरानशरीफ है, करीब १४०० सालसे है। १४०० वर्षके पहले यह मत ही नहीं था। इसी प्रकार अबसे २००० वर्षके पहले न तो ईसा थे और न ईसाई मत ही था। आपको मानना होगा कि यह २००० वर्षके ही अंदरकी चीज है। बुद्धका जो सिद्धान्त है, जिसको हम बौद्धमत कहते हैं—आज गौतम बुद्धको करीब ३५०० वर्ष हुए—३५०० वर्ष पूर्व यह बौद्धमत भी नहीं था।

इन चार मतोंको छोड़कर और जितने छोटे-छोटे मत-मतान्तर हैं, उनकी तो गणना ही क्या करें; क्योंकि उनको माननेवाले अल्प-संख्यक हैं। ऐसा और कोई मत नहीं, जिसको करोड़ों आदमी भी मानते हों। हाँ, धर्म और ईश्वरको न माननेवाले तो आपको बहुसंख्यक आदमी मिल सकते हैं, पर उनसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं।

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि यह वैदिक सनातन-धर्म ही अनादि और नित्य है, इसीलिये इसका नाम 'सनातन' है। इस धर्ममें हमलोगोंकी उत्पत्ति हुई, यह ईश्वरकी कितनी बड़ी कृपा है।

इसके सिवा यह कलियुग अवगुणोंकी खान है; किंतु इसमें एक विशेष गुण यह है कि इसमें मनुष्य भगवान्‌की भक्ति करके परम पदको प्राप्त हो जाता है।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

कलियुगके समान कोई युग नहीं है, यदि कोई विश्वास करे। भगवान्‌के गुण गानेसे कलियुगमें बिना ही परिश्रम कल्याण हो जाता है। यह भी ईश्वरकी बड़ी कृपा है, जो उन्होंने ऐसा मौका हमलोगोंको दिया। प्रथम तो मनुष्यका शरीर भी मिलना बहुत कठिन। असंख्य कोटि जीव हैं—चौरासी लाख जिनकी जातियाँ हैं, उनमें मनुष्य भी एक जाति है। मनुष्यजातिकी संख्या अत्यन्त स्वल्प है। उन मनुष्योंमें ईश्वरने हमलोगोंको शामिल कर दिया। यह ईश्वरकी कितनी बड़ी कृपा है! इसपर समय-समयपर जो सत्सङ्ग मिल जाता है, यह भगवान्‌की और भी विशेष कृपा है। इस प्रकारका संयोग पाकर भी यदि हमारी आत्माका कल्याण न हो तो हमारे लिये लज्जाकी बात है।

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मदंमति आत्माहन गति जाइ ॥

'जो नर इस प्रकारके सङ्गको पाकर संसार-सागरसे नहीं तरता, वह निन्दाका पात्र है और मूर्ख है तथा आत्माकी हत्या करनेवालेकी जो दुर्गति होती है, वही उसकी होगी।'

इन सब बातोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको अपना समय उत्तरोत्तर उच्चकोटिके कार्यमें ही बिताना चाहिये अर्थात् अपनी आत्माकी उत्तरोत्तर उन्नति करनी चाहिये। भगवान्‌ने गीता अध्याय ६ श्लोक ५ में बताया है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।

भगवान् कहते हैं कि अपनी आत्माको आत्माके द्वारा उन्नत करना चाहिये। 'न अवसादयेत्'— अपने आपका अपने द्वारा पतन नहीं करना चाहिये। जिस कार्यको हम उत्तम-से-उत्तम समझते हैं, उसे उत्तरोत्तर बढ़ाना अपनी आत्माके द्वारा आत्माको उन्नत करना है और जिसको हम बुरा समझते हैं, उस कार्यको करना अपने द्वारा अपना पतन करना है।

सबसे उत्तम बात है भगवान्‌का हर समय स्मरण करना अर्थात् भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान हर समय करना—यह सर्वोत्तम है। इसकी

पुष्टिके लिये सत्सङ्ग करना, सत्सङ्ग न मिले तो स्वाध्याय करना, किंतु आसुरी सम्पदावालोंका सङ्ग तो कभी नहीं करना चाहिये। आसुरी सम्पदाका वर्णन गीतामें १६वें अध्यायके चौथेसे २१वें श्लोकतक किया गया है। उत्तम गुण और उत्तम आचरणका अमृतके समान समझकर सेवन करना चाहिये। इसका भी वर्णन गीतामें १६वें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक 'दैवी सम्पदा' के नामसे किया गया है। 'दैवी सम्पदाका सेवन करना'—यह अपने-आपके द्वारा अपनी आत्माको उन्नत करना और आसुरी-सम्पदाको धारण करना अपने द्वारा अपनी आत्माका पतन करना है।

अतः दुर्गुण, दुराचार और दुर्व्यसनोंको विषके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। दुर्गुण क्या है? काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, राग, द्वेष और जितने भी हृदयके बुरे भाव हैं, सब दुर्गुण हैं। दुराचार क्या हैं? इन्द्रियोंके आचरणोंमें जो बुरे आचरण हैं, दूषित कर्म हैं, जिन्हें हम पाप कहते हैं—जैसे चोरी करना, व्यभिचार करना, मांस खाना, मदिरा पीना, जुआ खेलना, हिंसा करना, दूसरोंके दोष देखना और उनकी आलोचना करना, झूठ बोलना, इत्यादि—इनका नाम दुराचार है। दुर्व्यसन क्या है?—बुरी आदत, फालतू बकवाद करना, फालतू चिन्तन करना, फालतू चेष्टा करना; जैसे चौपड़ खेलना, ताश खेलना, सिनेमा देखना, क्लबमें जाना, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, गाँजा पीना, कोकीन खाना आदि जो मादक वस्तुका सेवन है तथा और भी जो ऐसे व्यर्थके काम हैं, जिनसे न स्वार्थकी सिद्धि होती है और न परमार्थकी—वे सब दुर्व्यसन हैं।

सर्वोत्तम बात तो यही है कि अपना सारा समय परमार्थमें बिताना चाहिये। दूसरी बात यह है कि स्वार्थमें भी समय बिताया जाय तो परमार्थको भी ध्यानमें रखना चाहिये; किंतु झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करके जो रुपये कमाना और उससे भोग और आराम करना है, यह तो बिल्कुल ही मूर्खता है; क्योंकि जो भी कुछ ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि हैं, सब विनाशशील और क्षणभङ्गुर हैं। कोई भी चीज अपने साथ जानेवाली नहीं; यह शरीर भी अपने साथ जानेवाला नहीं, फिर औरोंकी तो बात ही क्या है! ऐसे थोड़ेसे जीवनके लिये हम अपना जीवन पापमय क्यों बनायें? ध्यान रखना चाहिये कि अन्याय करके हम जो कुछ धन कमायेंगे,

उसका बुरा फल हमींको भोगना पड़ेगा और वह धन भी हमारे साथ नहीं जायगा; क्योंकि प्रथम तो सरकार टैक्स (कर) के रूपमें ले लेगी, फिर चन्दे-चिट्ठेवाले ले जायँगे; फिर साझेदार भाई पाँती बँटा लेंगे; फिर अपने स्त्री, पुत्र आदि ले लेंगे। इसके बाद जो हमारे हिस्सेमें रहेगा, वह भी यहीं रह जायगा; रुपयेमें पाईभर भी हमारे साथ नहीं जायगा। ऐसी परिस्थितिमें झूठ, कपट, बेईमानी करके धन इकट्ठा करना महान् मूर्खता है।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर इस थोड़ेसे जीवनके लिये हमें क्यों अन्याय करना चाहिये ? हमें विश्वास करना चाहिये कि मरनेके बाद भी आत्मा है, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता। भगवान्ने गीतामें कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२।१२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य है। भगवान् कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

जब देहपात होनेके बाद भी आपका आत्मा रहेगा, तब आपको विचार करना चाहिये कि इस थोड़े-से जीवनके लिये हम अपने जीवनको कलुषित बनाकर यहाँसे क्यों विदा हों। यह मनुष्य-जीवन बहुत ही मूल्यवान् है। ऐसा अवसर आपको

बार-बार नहीं मिलेगा। ईश्वरकी कृपासे आपको यह मौका मिल गया है; अतः इसके एक-एक क्षणको मूल्यवान् समझकर जिस कामके लिये आप यहाँ आये हैं; उसे शीघ्र बना लेना चाहिये, जिससे फिर आपको कभी पश्चात्ताप न करना पड़े। अपने आत्माके कल्याणके लिये ही आपको यह मनुष्यका शरीर दिया गया है; इस बातको समझकर लाख काम छोड़कर सबसे पहले अपना सारा समय अपने आत्माके कल्याणके कामोंमें ही लगाना चाहिये।

एक परमात्मा और महात्माओंको छोड़कर कोई भी आपका हित करनेवाला साथी नहीं है। श्रीतुलसीकृत रामायणके उत्तरकाण्डमें श्रीरामचन्द्रजी महाराजने जब प्रजाको उपदेश दिया, तब उसके उत्तरमें प्रजा कहती है—

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

'हे प्रभो ! सब कोई स्वार्थके लिये ही मित्र हैं, स्वार्थको छोड़कर परमार्थी मित्र कोई भी नहीं है।'

'कोई नहीं है'—इसका यह अर्थ नहीं है कि बिल्कुल नहीं है। दो हैं। कौन ?

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

'हे प्रभु ! हे असुरारे ! हेतुरहित उपकार करनेवाले या तो आप हैं या आपका भक्त; तीसरा कोई नहीं।'

इस बातको ध्यानमें रखकर भगवान्का भजन, ध्यान, स्वाध्याय और सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये, जिससे अपने आत्माका शीघ्रातिशीघ्र कल्याण हो जाय।

इससे बढ़कर और सरल उपाय शास्त्रोंमें है ही नहीं। थोड़ा भी समय बाकी रह जायगा, तब भी आपका कल्याण हो सकता है, यदि भगवान्को याद करते हुए ही आपके प्राण निकलें, किंतु यदि आपके कल्याणका यह महत्त्वपूर्ण कार्य शेष रह जायगा, तो फिर आपका कोई भी उत्तराधिकारी उसकी पूर्ति नहीं कर सकेगा। जो काम आपके बिना दूसरेके द्वारा होना सम्भव नहीं है, उस कामको सबसे पहले करना चाहिये। सबसे जरूरी काम यह है कि आप जिस कामके लिये आये हैं, उस कामको कर लें। आपको मनुष्यका शरीर आत्माके कल्याणके लिये दिया गया है, न कि भोगके लिये।

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥

'हे भाई ! यह मनुष्यका तन यानी शरीर विषय-भोगोंके लिये नहीं है, तो क्या स्वर्गके लिये है ? नहीं, स्वर्गके लिये भी नहीं है। वह भी अन्तमें दुःख ही देनेवाला है।'

गीतामें कहा है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥
(९।२१)

'वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये सब काम छोड़कर पहले यह काम करना चाहिये, नहीं तो आगे चलकर आपको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा; क्योंकि यह मनुष्य-शरीरका समय बहुत ही दुर्लभ है। लाख रुपये खर्च करनेपर भी एक मिनटका समय आपको नहीं मिल सकता। ऐसे मूल्यवान् समयको यदि आप भोग और प्रमादमें बिता देंगे, तो मैं कह सकता हूँ कि आपके समान संसारमें कोई मूर्ख नहीं। देवता लोग भी इस मनुष्य-शरीरकी आकाङ्क्षा करते हैं; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें कल्याण हो सकता है, अन्य योनियोंमें नहीं । यदि किसी दूसरी योनिमें कहीं कल्याणकी बात आती है, तो वह अपवाद (छूट) है; एक विशेष बात है, नियम नहीं।

यदि आप अपना समय शरीर-पोषणके लिये लगाते हैं, तो वह आपका रास्ता गलत है; क्योंकि शरीरमें यदि पाँच सेर मांस अधिक हो गया तो क्या; और कम हो गया तो क्या ? आखिर होगा क्या ? खाक ही तो होगी। आपको विचार करना चाहिये कि शरीर नाशवान् है; शरीरके साथ आपका सम्बन्ध अज्ञानसे है, वास्तवमें नहीं। नाम और रूप—दोनों ही विनाशशील हैं। कुछ देरके लिये विचार करें—मुझको लोग 'जयदयाल' कहते हैं। जब मैं पैदा हुआ था, उस वक्त मेरा नाम जयदयाल नहीं था, फिर गर्भमें तो यह नाम हो ही कैसे सकता है ? गर्भमें तो पता ही नहीं था कि इसमें लड़का है या लड़की। उस समय घरवाले इच्छा करते तो मेरा नाम 'जयदयाल' नहीं रखकर 'महादयाल' रख सकते थे, तब आज मैं अपनेको 'महादयाल' कहता। इससे यह निश्चय हो गया कि मेरा नाम 'जयदयाल' नहीं।

अतः यदि कोई 'जयदयाल' की निन्दा करे और उससे मैं दुःखित होऊँ तथा कोई प्रशंसा करे और मैं उससे सुखी होऊँ तो यह मेरी मूर्खता है; क्योंकि स्तुति और निन्दाको सुनकर सुख-दुःख होता है तो इसमें अज्ञान ही हेतु है। यदि मुझे यथार्थ ज्ञान हो तो मेरी स्तुति और निन्दामें समता हो जानी चाहिये; क्योंकि भक्तिमान् पुरुषोंका लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२।१९)

'जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिर-बुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

जिसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, उसके भी निन्दा-स्तुति सम हो जाती है (गीता १४।२४)

जिस प्रकार यह 'जयदयाल' नाम मेरा नहीं है, उसी प्रकार यह शरीर भी मेरा नहीं है और न शरीर ही मैं हूँ। यदि शरीर मेरा होता तो मरनेके बाद यह मेरे साथ जाता एवं यदि शरीर मैं होता तो किसी कारण कटे हुए हाथ या पैरमें भी आत्माकी प्रतीति होती, किंतु उस कटे हुए अङ्गको हम अपनेसे पृथक् देखते हैं। जब कटे हुए अङ्गमें हमारी आत्माकी प्रतीति नहीं होती, तब शेष शरीरमें भी अपनी प्रतीति गलत है; क्योंकि कटे हुए अङ्गके सदृश ही तो हमारा शेष शरीर है अतएव यह शरीर भी मैं नहीं।

इस प्रकारका जिनको ज्ञान हो जाता है, वे नामरूपसे अपने आत्माको सर्वथा अलग समझकर परमपदको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये हरेक भाईको यह विचार करना चाहिये कि 'नाम और रूपसे मैं अलग हूँ। यह दृश्य है, मैं द्रष्टा हूँ; यह अनित्य है, मैं नित्य हूँ; यह विनाशशील है, मैं अविनाशी हूँ; यह दुःखरूप है, मैं आनन्दस्वरूप हूँ;यह विकारी है, मैं निर्विकार हूँ; यह व्यक्त है, मैं अव्यक्त हूँ तथा यह एकदेशीय है, मैं देश-कालसे रहित हूँ।'

गीतामें इसका आदेश स्थान-स्थानपर दिया है। इसलिये मेरी यह प्रार्थना है

कि गीताका अनुशीलन अर्थ और भावसहित करना चाहिये यानी गीतामें प्रवेश करके उसका अध्ययन करना चाहिये। गीताका भाव बड़ा गम्भीर है। जैसे समुद्रकी थाह नहीं, वैसे ही गीताके भावोंकी थाह नहीं।

आपलोग किसी अंशमें यह मानते होंगे कि यह गीताका जाननेवाला है; पर जब मैं ख्याल करता हूँ, तब मुझे यही मालूम होता है कि मैं इसका शतांश भी नहीं जानता। एक जन्ममें नहीं, कई जन्मोंतक मैं गीताका ही अध्ययन करता रहूँ तो भी उसके भावोंकी समाप्ति नहीं। मेरी आयु समाप्त हो सकती है, पर गीताके भावोंकी समाप्ति नहीं हो सकती।

इसलिये प्रत्येक भाईको अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये। मनुष्य-जन्म पाकर जिसका जीवन गीतामय है, उसीका जीवन धन्य है। जिनका सारा जीवन गीतामय होता है, उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे दूसरे मनुष्य पवित्र हो जाते हैं।

गीता बहुत ही उच्चकोटिका ग्रन्थ है। गीताकी संस्कृत बहुत ही सरल, सुन्दर और मधुर है। एक श्लोकको भी आप भावसहित धारण कर लें, तो आपके आत्माका कल्याण हो सकता है। गीतामें ऐसे सैकड़ों श्लोक हैं, जिनमेंसे एक श्लोकके अनुसार जीवन बनानेपर आत्माका उद्धार हो सकता है।

गीताको हम गङ्गासे बढ़कर कहें तो अनुचित न होगा; क्योंकि गङ्गामें नहानेवाला मनुष्य तो स्वयं ही मुक्त होता है—यह बात शास्त्रोंमें लिखी है; किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं तो मुक्त हो ही जाता है, दूसरोंका भी उद्धार कर सकता है।

गीताका अच्छी प्रकार अध्ययन करनेवालेको अपने आत्माके कल्याणके लिये अन्य शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मैं अन्य शास्त्रोंकी अवहेलना करता हूँ। गीता एक ऐसा ग्रन्थ है कि उसे हमारे शास्त्रोंमें सबसे बढ़कर भी कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि श्रीवेदव्यासजीने स्वयं कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा०, भीष्म० ४३।१)

'गीताका गायन अच्छी प्रकार करना चाहिये; गीताका अध्ययन अच्छी प्रकार करना चाहिये, गीताका मनन अच्छी प्रकारसे करना चाहिये', यही है—'गीता सुगीता कर्तव्या।' फिर अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह गीता स्वयं भगवान् कमलनाभके मुख-कमलसे निकली है। अन्य जितने भी शास्त्र हैं, वे ऋषियोंके मुखसे निकले हैं। वेद ब्रह्माके मुखसे प्रकट हुए हैं; परंतु गीता तो स्वयं भगवान्‌के मुखकमलसे प्रकट हुई है। इसलिये हम उसको सर्वोपरि कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

गीताको हम गायत्रीसे भी बढ़कर कह सकते हैं। गायत्रीके जपसे जपनेवालेका कल्याण होता है, किंतु गीताका अर्थ और भावसहित अच्छी प्रकार अध्ययन करके धारण कर लेनेपर वह दूसरोंका भी कल्याण कर सकता है। इसलिये हम गीताको गायत्रीसे भी बढ़कर कह सकते हैं।

यदि मनुष्यका जन्म पाकर किसीने गीताका अभ्यास नहीं किया, गीताका अध्ययन नहीं किया, गीताका मनन नहीं किया, गीताके अनुसार अपना जीवन नहीं बनाया तो मैं समझता हूँ कि उसका जन्म व्यर्थ है। हमको ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि हमारी वाणीमें गीता, हमारे हृदयमें गीता, हमारे कानोंमें गीता, हमारे कण्ठमें गीता, हमारे रोम-रोममें गीता और हमारे जीवनमें गीता भरी हो—वह गीतामय हो। जो ऐसा है, उसीके लिये हम कह सकते हैं कि उसका जीवन धन्य है, उसके माता-पिता धन्य हैं।

ऐसा पुरुष संसारमें गीताका प्रचार करके अपना ही नहीं, हजारों-लाखों व्यक्तियोंका उद्धार कर सकता है। आज तुलसीदासजी नहीं हैं; किंतु उन्होंने रामायणकी रचना करके संसारका बड़ा भारी उपकार किया है। उससे हजारोंका उद्धार हो रहा है और जबतक वह रहेगी, उद्धार होता रहेगा।

इसी प्रकार जो मनुष्य गीताका अच्छी प्रकार अनुशीलन करके उसके अनुसार अपना जीवन बना लेता है, अपने जीवनको गीताके प्रचारमें लगा देता है, उस पुरुषके द्वारा ही वस्तुतः संसारमें गीताके भावोंका प्रचार होता है। उसके द्वारा भविष्यमें भी कितनोंका उद्धार होता रहेगा, कहा नहीं जा सकता। भगवान्‌ने गीताके प्रचारकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया है कि

'जो गीता-शास्त्रका मेरे भक्तोंमें प्रचार करता है, इसके अर्थ और भावको धारण करता है, वह मेरी भक्तिके द्वारा मुझे प्राप्त होता है। उसके समान मेरा प्रिय कार्य करनेवाला न कोई हुआ, न हो सकता है और न होगा।' यही भाव भगवान्‌ने गीताके अठारहवें अध्यायके ६८, ६९वें श्लोकोंमें दिखलाया है।* इस बातको ख्यालमें रखकर अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये।

मैंने जिस दिन यह श्लोक पढ़ा और इसका अर्थ कुछ समझा, तभीसे मेरे हृदयमें यह भाव आया कि अपने जीवनको गीतामें लगाना चाहिये। मैं अभीतक अपने जीवनको गीतामय बना नहीं सका, किंतु इस बातको मैं बहुत ही उत्तम समझता हूँ। इसलिये सबसे प्रार्थना करनेका मेरा अधिकार है कि आपको अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये; फिर अपने घरमें, अपने प्रान्तमें, अपने देशमें, सारी त्रिलोकीमें गीताका खूब जोरोंसे प्रचार करना चाहिये।

——::०::——

---

*य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
(गीता १८। ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

श्रद्धा-प्रेम और साधनमें तत्परताकी आवश्यकता

वास्तवमें प्रेमके आस्पद तो एक भगवान् ही हैं। महात्माओंमें प्रेमकी अपेक्षा श्रद्धा आवश्यक है। ईश्वरमें प्रेम-श्रद्धा दोनोंकी आवश्यकता है; क्योंकि ईश्वरका स्वरूप अलौकिक, दिव्य, चेतन है; महात्माओंका शरीर जड है, भौतिक है। ईश्वरके स्वरूपमें तो प्रेम होने और उसके दर्शन होनेसे कल्याण हो जाता है, पर महात्माके शरीरमात्रमें प्रेम होनेसे मुक्ति नहीं हो सकती। महात्मामें श्रद्धा होनी चाहिये। श्रद्धाका रूप क्या है ? महात्मा जो कहें उसका पालन करे, वही श्रद्धा है। महात्माके शरीरकी सेवा-पूजा करना भी उत्तम है; किंतु असली महात्मालोग सेवा-पूजा नहीं कराते हैं। वे आराम तथा मान-बड़ाईसे दूर रहते हैं।

भगवान्‌के तो स्वरूप, लीला, धाम, नाम, गुण किसीमें भी प्रेम होनेसे उद्धार हो जाता है, अतः भगवान् प्रेम करनेके योग्य हैं। भगवान्‌के सिवा संसार, शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, घर, मान, बड़ाई आदिमें जो आसक्ति है, वही खतरेकी चीज है। शास्त्रमें, परलोकमें, महात्मामें, परमात्मामें, सबमें श्रद्धा करनी चाहिये। श्रद्धाके सब पात्र हैं, पर प्रेम करने योग्य तो केवल परमात्मा ही हैं। संसारके सब प्राणियोंसे उनके हितके लिये जो निष्काम प्रेम है, वह भगवान्‌में ही है।

महात्माके पास अगर पचास वर्ष रहें और उनकी आज्ञाका पालन न करें तो कल्याण नहीं हो सकता। उनका अनुकरण और उनकी आज्ञाका पालन दोनों कल्याणकारी है। यही गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

(१३ । २५)

परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् 'जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इसे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

अभिप्राय यह है कि महात्मा पुरुषके द्वारा कहे वचनोंको सुनकर जो उनके अनुसार साधन करते हैं, पालन करते हैं, वे दत्तचित्त, श्रुतिपरायण पुरुष संसार-सागरको तर जाते हैं। सुननेके परायण होना क्या है ? जैसे मृग वीणाको सुनकर इतना मुग्ध हो जाता है कि चाहे उसे पकड़ लो, मार डालो, उसे अपने शरीरका ख्याल— ध्यान नहीं रहता। इसी प्रकार महात्मा जो बतायें, उसे सुननेमें मन लगा दे, फिर उसे समझे और तदनुसार आचरण करे। सुनते तो बहुत हैं, पर लाभ तभी होता है, जब उसका धारण और पालन किया जाता है। सुनकर धारण न होनेका कारण है—श्रद्धाकी कमी। शास्त्रकी, महात्माकी बात सुनकर उसपर जिसको 'इत्थंभूत' विश्वास हो जाय कि बस, यही करना है—चाहे मरें या जीयें तो उसका कल्याण हो जाता है। स्वधर्ममें मरना भी कल्याणकारक है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' (गीता ३ । ३५) इसलिये इसमें श्रद्धाकी आवश्यकता है। जितनी अधिक श्रद्धा होती है, उतनी ही अधिक तेजीसे शान्तिरूप सिद्धि प्राप्त होती है। गीतामें कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४ । ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा

ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

श्रद्धावान् ज्ञान प्राप्त करता है। कैसा श्रद्धावान्? जो साधनमें तत्पर हो। यहाँ यह विशेषण क्यों दिया? इसीलिये कि जिस कार्यमें जितनी साधनकी तत्परता है, उतनी ही उसमें श्रद्धा है। श्रद्धाकी कसौटी है—तत्परता। जैसे लोभी पुरुष लाभकी वस्तुकी ओर सब प्रकारसे तत्पर होकर लग जाता है, इसी तरह कल्याणकामी मनुष्यको जब यह दृढ़ विश्वास—निश्चय हो जाय कि इस साधनसे कल्याण हो जायगा, तब वह फिर साधनमें कमी नहीं रखता। श्रद्धालु पुरुषको ज्ञान मिलता है, ज्ञानसे परम शान्ति मिलती है, पर जहाँ तत्परता नहीं है, वहाँ श्रद्धा नहीं है। फिर इसका विशेषण दिया 'संयतेन्द्रियः' अर्थात् जिसके इन्द्रिय-मन वशमें हैं। जिसके इन्द्रिय-मन वशमें नहीं हैं, वह पूरी तत्परतासे साधन नहीं कर रहा है। इसलिये हमें ईश्वर और महापुरुषोंके वचनोंपर विशेष श्रद्धा करनी चाहिये।

मृत्यु आनेपर एक क्षणका भी अवसर लाख रुपये देनेपर भी नहीं मिल सकता। न रोनेसे काम बनता है, न सिफारिश चलती है। ऐसी स्थितिमें कर्तव्य यह है कि जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो, चैन न लें। किसीसे बात करनेका भी अवकाश न दें। साधनमें थोड़ी भी कमी रह गयी और बिना भगवत्-प्राप्तिके जाना पड़ा तो पता नहीं, फिर क्या दशा होगी अर्थात् किस योनिमें जन्म होगा। मनुष्यसे इतर सभी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं। इस मनुष्ययोनिमें ही परमात्माकी प्राप्ति सहज होती है। अतः हम क्यों दूसरे जन्मको गुंजाइश दें। इसी जन्ममें काम बना लेना चाहिये, नहीं तो बहुत खतरा है। तत्परतासे साधन करनेपर इसी जन्ममें कल्याण हो सकता है। इसपर एक कहानी है।

किसी गाँवमें एक उच्चकोटिके महात्मा थे। उनके पास लोग जाया करते थे। उस गाँवके राजाके पास भी यह समाचार पहुँचा। तब लोगोंकी प्रेरणासे एक दिन वह भी वहाँ गया। महात्मा पहलेसे ही यह जानते थे कि 'यह राजा बड़ा कामी और भोगी है। अतः इसका सुधार हो जाय तो इसके साथ प्रजाको भी लाभ हो।' राजा आया। कुशल पूछनेपर राजाने प्रार्थना

की—'महात्मन्! कोई ऐसी दवा दीजिये, जिससे कितनी ही स्त्रियोंके साथ सहवास करनेपर भी मुझे थकावट न आये।' महात्माने अपनी कुटियासे एक बोतल मँगायी। उसमेंसे दो बूँद दवा राजाको दी और शेष सारी स्वयं पी गये। राजा घरपर गया तथा रात्रिमें काम चेतन होनेपर सब रानियोंको तृप्त कर दिया; पर स्वयं तृप्त नहीं हुआ। उसका काम वैसे ही जाग्रत् रहा। तीन दिन बाद महात्माके पास फिर गया और बोला—'आपकी दवा बड़ा काम करती है। दो बूँद दवा और दीजिये।' महात्माने और दे दी। इस प्रकार वह दो-तीन महीनेतक हर तीसरे दिन दो बूँद दवा ले लेता और खूब विषय-भोग करता। महात्मा भी बोतलकी शेष बची सारी दवा उसके सामने स्वयं पी जाते। एक दिन राजाने कहा—'ऐसी दवा दीजिये, जिससे रोज-रोज न आना पड़े, सदाके लिये काम हो जाय।' महात्माने उसे पूरी बोतल पिला दी। जब राजाने पी ली तब महात्मा बोले—'मुझसे बहुत बड़ी गलती हो गयी।' राजा बोला—'क्या?' महात्माने कहा—'क्या बताऊँ, तुम तीन दिनके बाद मर जाओगे।' राजा बोला —'क्या मैं मर जाऊँगा?' महात्मा बोले— 'हाँ।' राजाने पूछा—'बचनेका कोई उपाय भी है?' महात्माने बहुत सोच-विचारकर कहा—'है, पर बहुत कठिन है।' तब राजा बोला—'कितना ही कठिन हो, मैं उसे कर लूँगा, आप बताइये।' महात्माने कहा—'बस, अबसे लेकर मरणतक भगवान्‌का नाम-रूप न भूलो।' राजाने कहा —'ठीक है। मैं पालन करूँगा।' घरपर जाकर वह अलग एकान्त महलमें बैठ गया। डुग्गी पिटवा दी कि 'कोई मेरे पास न आये, जो आयेगा उसे मृत्युदण्ड होगा।' वह परमात्माके भजन-ध्यानमें मस्त हो गया। न खाना याद रहा न पीना, न मल-मूत्रका त्याग ही। भगवान्‌के ध्यानसे अहङ्कारका नाश हो गया। समाधि लग गयी। सात दिन हो गये, समाधि नहीं टूटी। इधर बाहरके लोगोंने देखा—तीन दिनके बाद मरनेका समय था, सात दिन हो गये, कोई खबर नहीं। कपाट खोलकर भी देखा समाधि लगी हुई है। कुछ हो-हल्ला होनेपर राजाकी भी समाधि टूटी। राजाने कहा—'तीन दिनके पहले दरवाजा क्यों खोला?' कहा गया—'महाराज! सात दिन हो गये।' महात्माने कहा था कि 'तीन दिनमें मर जाओगे' मैं कैसे नहीं मरा?—यह सोचकर वह फिर महात्माके पास गया। सब

बातें कहीं। तब महात्माने पूछा—'क्या अभी तुम्हारेमें 'मैं' है ?' कहा—'नहीं।' तब महात्मा बोले—'मैं अर्थात् जो अहङ्कार था, वह मर गया। शरीरके मरनेकी तो कोई बात नहीं है।' फिर राजाने पूछा—'आप प्रतिदिन पूरी बोतल दवा पी जाते हैं। आपपर उसका कोई असर नहीं होता। मुझपर तो दो बूँदसे ही इतना असर हो जाता था।' महात्मा बोले—'अभी सात दिन पहले तुमने भी तो पूरी बोतल पी ली थी। तुमपर क्यों नहीं असर हुआ ?' राजाने कहा—'महाराज! मुझे तो तीन दिनपर मौत सामने दीखने लगी, इससे स्त्री-पुत्र आदि कुछ भी याद नहीं आये।' महात्मा बोले—'बस, यही बात है। मुझे तो प्रतिक्षण मौत दिखायी देती है, फिर मुझपर कैसे असर होता ?'

इस प्रकार हम भी यदि समयको अमूल्य और मृत्युको अत्यन्त समीप समझें तो थोड़े समयमें ही हमारा कल्याण हो सकता है। जैसे राजा इतना बड़ा कामी था, किंतु उसके लगन लगनेसे सात दिनोंमें ही उसका कल्याण हो गया।

लगन लगनेका यह कारण था कि उसे विश्वास हो गया था कि 'मेरी तीन दिनों बाद मृत्यु हो जायगी।' अतः वह खान-पानको छोड़कर ध्रुवजीकी तरह ध्यानमें मस्त हो गया। इसी प्रकार हमलोग भी मृत्युको अत्यन्त समीप और समयको अमूल्य समझकर रात-दिन परमात्माके ध्यानमें लग जायँ तो हमारा कल्याण भी शीघ्र हो सकता है। समय बहुत अल्प है, उसे बहुत कीमती समझना चाहिये। इस समय हमारा कल्याण नहीं हुआ तो फिर आगे बहुत खतरा है। परमात्माके सिवा हमारा कोई भी रक्षक नहीं है। हमलोग अनाथके समान मारे जायँगे; इस प्रकार समझकर मृत्युको समीप देखकर परमात्माके ध्यानमें मस्त हो जाना चाहिये—यही कल्याणका मार्ग है।

प्रश्न—कोई ऐसा मनुष्य हो, जिसमें बुद्धि, विवेक, ज्ञान नहीं है—क्या उसका भी उद्धार हो सकता है ?

उत्तर—हो सकता है। कैसे ? सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे, उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे, साधन करनेसे।

प्रश्न—मृत्यु अत्यन्त समीप आ गयी हो और तब फिर चेत हो तो कल्याण हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—हो सकता है। अत्यन्त तत्पर होनेसे शीघ्र ही कल्याण हो सकता है।

प्रश्न—कोई अत्यन्त दुराचारी है, कामी है, भोगी है, व्यसनी है—उसका भी उद्धार हो सकता है या नहीं?

उत्तर—हो सकता है। बहुत शीघ्र हो सकता है। जैसे राजाका हो गया। भगवान् भी गीतामें कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९। ३०-३२)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

पापीसे भी पापीका उद्धार हो जाता है। पर अनन्यमन होना चाहिये। अनन्यभावसे भजना चाहिये। जैसे राजाने भजा, जैसे प्रह्लाद एकनिष्ठ भक्त थे, जैसे पतिव्रता स्त्री पतिपरायणा होती है; उसी प्रकार अव्यभिचारिणी भक्ति होनी चाहिये। परमात्माके सिवा किसीकी इच्छा न हो, उसके सिवा किसीमें निष्ठा न हो, निरन्तर उसीको भजे तो फिर मनुष्य शीघ्र ही महात्मा बन जाता है; देर नहीं लगती। पर भजन एकनिष्ठभावसे निरन्तर होना चाहिये। जब ऐसे महान् पापियोंका उद्धार हो जाता है, तब फिर पुण्यवान् पुरुषोंकी तो बात ही क्या है। यदि कहा जाय कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती सो यह ठीक है, परंतु भगवान्की कृपासे हो सकती

है। जो निरन्तर भजता है, उसे भगवान् स्वयं बुद्धियोग दे देते हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

गीतामें नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवालोंकी बड़ी महत्ता दिखायी है। भगवान्ने कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२।७)

'अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

इसलिये तुम—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२।८)

'मुझमें ही मनको लगाओ और मुझमें ही बुद्धिको लगाओ। इसके बाद तुम मुझमें निवास करोगे। अर्थात् मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

इससे यह निर्णय हुआ कि चाहे मनुष्य कैसा ही मूर्ख हो, पर अनन्य भक्तिके प्रभावसे भगवान् उसे ज्ञान दे देते हैं। चाहे मनुष्य कैसा ही पापी हो, भक्तिके प्रभावसे उसका भी उद्धार हो जाता है। चाहे मृत्युका समय कितना ही निकट आ गया हो, उसका भी भगवान्की भक्तिसे उद्धार हो जाता है। भगवान्की भक्ति भगवान्में प्रेम होनेपर होती है; भगवान्में प्रेम भगवान्की भक्ति करनेसे होता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इस बातको सोचकर मृत्युको अत्यन्त समीप और समयको

अत्यन्त कीमती समझकर खूब जोरसे भक्तिमें लग जाना चाहिये। मनुष्य एक क्षण भी भगवान्‌को न भूले; क्योंकि आयुका एक क्षण लाख रुपये खर्च करनेसे भी नहीं मिल सकता। फिर बाँग मार-मारकर रोयेंगे तो भी सुनवायी नहीं होगी, न सिफारिश चलेगी। मृत्यु आ जायगी तब मरना ही पड़ेगा। कोई भी उपाय नहीं कि किसी भी प्रकार दो-चार घड़ी भी जीवन रह जाय। मृत्युका कोई भरोसा भी नहीं है कि वह कब आ जाय। मृत्यु आती है तो पहले खबर नहीं देती कि मैं कल आऊँगी। अतः मृत्युका विश्वास न करे। हर समय मृत्युको अत्यन्त निकट समझे। आजका दिन निकल गया तो कलका शायद ही निकले। कलका निकल गया तो फिर उसके आगेका शायद ही निकले। इस प्रकार समझकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये तत्परताके साथ प्रयत्नशील हो जायँ। निश्चय कर लें कि परमात्माको आज ही प्राप्त करके छोड़ेंगे, नहीं तो मर मिटेंगे। सब कामोंको ठुकराकर सबसे पहले यह काम करना है; क्योंकि हम आज मर गये तो हमारा वैसे ही इस धन, कुटुम्ब, पुत्र, ऐश्वर्य किसीसे भी किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहेगा—जैसे हमारे पिता-पितामहका नहीं रहा। तथा इससे पूर्व हम कहाँ थे, कौन थे, क्या जाति थी, क्या स्थिति थी, हमारा क्या ऐश्वर्य था—कुछ भी पता नहीं है। इसी प्रकार आगे भी पता नहीं रहेगा। अतः रुपये आदिके संग्रहमें समय बिताना सरासर मूर्खता है। पूर्व-जन्मोंमें तो व्यर्थ बिताया, इस जन्ममें तो इन चीजोंके लिये समय व्यर्थ न गँवायें। इनकी तो क्या कहें, यह शरीर भी तो हमारे साथ नहीं जायगा। इस बातको समझकर सबके मोहको छोड़ देना चाहिये। वही धन, शरीर, पुत्र, स्त्री हमारे हैं जो हमारी आत्माके कल्याणमें सहायक हों। वही सम्पत्ति हमारी है, जो आत्माके कल्याणमें मदद करे, नहीं तो विपत्ति है। इस प्रकार विचारकर आत्माके कल्याणके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करें। भगवान्‌को कभी न भूलें, फिर शरीर चाहे कल मरे या आज मरे। शरीरके भी मरनेकी चिन्ता हम क्यों करें? क्योंकि वास्तवमें मरेंगे तभी जब मरनेका समय आयेगा। इसपर भी एक कहानी है—

एक व्यक्ति मारवाड़का रहनेवाला था; परन्तु रहता था बाहर। वह बीस वर्षके बाद सपरिवार अपने घर गया। उसकी हवेली इतने वर्षोंसे बंद थी। हवेली खोली। सफाई की। रातमें सोया तो कई प्रेत आये। बोले 'यहाँसे निकलो।' मालिक

बोला—'यह मेरी हवेली है।' वे बोले—'नहीं, हम यहाँ रहते हैं, भाग जाओ।' कहा—'रातभर सोने दो, हम कल चले जायँगे।' दूसरे दिन फिर सो गया। फिर प्रेत आये तो फिर कहा—'दो चार दिन और रहने दो, मकानका प्रबन्ध करके चले जायँगे।' इस प्रकार वह टालमटोल करता रहा। एक दिन घरके मालिकने प्रेतोंसे पूछा—'आप दिनमें कहाँ जाते हैं ?' बोले—'हम यमराजके पास जाते हैं।' तो उसने कहा कि 'हमारा भी एक काम करना—उनसे पूछ आना कि हमलोगोंकी आयु कितनी है ?' प्रेतोंने इसे स्वीकार किया। दूसरे दिन जब प्रेत आये, तब पूछनेपर सबकी आयु भिन्न-भिन्न बतायी। तब वह बोला, 'कृपया हमारा एक काम और कर दो। यमराजके पास आप जाते हैं, उनसे प्रार्थना कर दो कि 'हमलोगोंकी आयुमें या तो वे एक-एक दिन घटा दें अथवा एक-एक दिन बढ़ा दें।' कहा— 'इसमें क्या बात है ?' जाकर यमराजसे प्रार्थना की। यमराज बोले—'इसमें तो न तिल घट सकता, न राई बढ़ सकती है। यह हमारी सामर्थ्यके बाहरकी बात है।' प्रेतोंने आकर यमराजकी कही सारी बात ज्यों-की-त्यों सुनायी। उसके बाद फिर प्रेतोंने उन्हें घरसे निकलनेके लिये कहा तो वह फिर पहलेकी भाँति टालमटोल करने लगा। तब प्रेतोंने उसे डाँटा कि 'अगर नहीं जाओगे तो हम तुम्हें मार डालेंगे।' वह बोला, 'वाह ! जब आयु समाप्त हुए बिना यमराजकी भी मारनेकी ताकत नहीं, तब तुम्हारी क्या ताकत है जो हमारी आयु समाप्त होनेके पूर्व ही मार डालोगे ?' तब वे समझ गये और स्वयं घर छोड़कर चले गये।

अतः हमें मृत्युके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। जब आयु समाप्त होगी, तभी मरेंगे। न एक दिन बढ़ सकता है, न एक दिन घट सकता है। किंतु जबतक शरीर है, अपने आत्म-कल्याणके लिये भगवान्‌को हर समय याद रखना चाहिये। ऐसा न हो कि बिना कल्याण हुए ही मौत आ जाय और हमें पछताना पड़े। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

अतः यदि मनुष्य-शरीर पाकर भी अपने आत्माका उद्धार नहीं किया तो फिर पछताना पड़ेगा। हमें मनुष्य-शरीर मिला हुआ है तथा परमात्मा, श्रुति, स्मृति,

तुलसीदासजी, कबीरदासजी आदि संत सब चेतावनी दे रहे हैं।

कबीरदासजी कहते हैं—

कबिरा नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखहु आय॥

श्रीभगवान् गीतामें कह रहे हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।' फिर कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९।३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

ये सब बातें आपलोग वर्षोंसे सुनते आ रहे हैं। पर जिस प्रकारसे उन्नति होनी चाहिये, वैसी कम देखनेमें आती है।बहुत-से हमारे मित्र हुए; कई धनी थे, कई गरीब थे, पर वे सब चले गये। बड़े भी चले गये, बराबरके भी चले गये, छोटे भी चले गये, हम भी चले जायँगे। युक्ति और शास्त्रसे भी समझाते हैं, पर समझमें नहीं आ रहा है। महाभारतमें भी यक्षके प्रश्नपर युधिष्ठिरने यही बताया—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(वनपर्व ३।।३।११६)

'इस संसारमें दिन-प्रतिदिन प्राणी यमलोक जा रहे हैं—मर रहे हैं, फिर भी बचे हुए मनुष्य सदा जीना चाहते हैं—इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ?'

बहुतोंको समझाते हैं, हम मित्रोंसे कहते हैं कि 'सावधान हो' तो कोई कहता है कि 'ऋण चुक जाय तब ठीक रहे।' कोई कहता है—'और सब ठीक है, लड़कोंका विवाह हो जाय तो ठीक रहे। फिर शान्तिसे भजन करें।' कोई कहते हैं,

'और सब ठीक है, लड़के भी होशियार हैं, पर जरा इनकमटेक्सका मामला और सलटा दें तो ठीक रहे।' यह हमारे मित्रोंका हाल है। बहुत-से मर गये, बाकी मरेंगे ही। एक भी ऐसा नजर नहीं आता, जिसके लिये यह कहा जाय कि उसने मृत्युका इन्तजाम कर लिया है। इसीलिये सबसे कहते हैं—'समय थोड़ा रहा है, तत्परतासे साधन करो।' तो 'हाँ, हाँ करते हैं।' करेंगे, ऐसा बोलते हैं। बहुत-से ऐसे बोलते-बोलते चले भी गये। अब किसे कैसे समझायें ? जीते समझते नहीं, मरनेपर समझानेका उपाय नहीं। धन-कुटुम्ब आदिकी चिन्तावाले बहुत-से चिन्ता करते-करते मर गये। न चिन्ता मिटी, न आत्म-कल्याण ही हुआ। अब भी बहुतोंको कहते हैं। पर बात समझमें नहीं आती है। या तो हमारा दोष है अथवा सुननेवालोंका, भगवान्‌का तो है ही नहीं। उनकी तो बड़ी कृपा है, उनकी कृपाका तो प्रवाह बह रहा है। इतनी भारी कृपा है कि हम उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। स्वयं भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५। २९)

'मेरा भक्त मुझको तत्त्वसे सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

भगवान् हेतुरहित दयालु हैं। यही बात रामायणमें शिवजी कहते हैं—

उमा राम सम हितु जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु कोउ नाहीं ॥

यह मनुष्य-शरीर हमें भगवान्‌की बड़ी कृपासे मिला है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

इस प्रकार उनकी दया सर्वत्र ओतप्रोत समझें। भगवान्‌को अपना परम सुहृद् समझें। भगवान्‌के समान कौन प्रेमी और दयालु है ? उनके शरण हो जानेसे परम शान्ति मिल सकती है। अनिच्छा-परेच्छासे जो भी सुख-दुःख प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानना चाहिये ? ऐसा माननेसे किसी तरहके दुःखका अनुभव नहीं हो सकता और परम शान्ति मिल सकती है।

——::o::——

सिद्धान्त

१—जैसे जल, पानी, अम्बु, नीर, अप, वाटर आदि सब एक जलके ही विभिन्न नाम हैं, वैसे ही एक ही परमात्माके ॐ, राम, कृष्ण, हरि, गोविन्द, वासुदेव, ईश्वर, अल्लाह, खुदा, गॉड— इत्यादि अनेकों नाम हैं। वास्तवमें वस्तु एक ही है। यह बात नहीं है कि हिंदुओंके ईश्वर दूसरे हों और मुसलमानों तथा ईसाइयोंके दूसरे। इसी तरह सभीके विषयमें समझना चाहिये। कई लोग धर्मको मानते हैं, पर ईश्वरको नहीं मानते और कई ईश्वर तथा धर्म दोनोंको ही नहीं मानते; किंतु उनके न माननेपर भी ईश्वर तो सभीके लिये हैं, चाहे उन्हें कोई माने या न माने। वे सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी परमात्मा सबके लिये समान भावसे ही उनके शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुःख आदि फलका विधान करते हैं।

२—जैसे एक जलके ही परमाणु, बादल, भाप, कुहरा, बूँद, ओले और बरफ आदि अनेक रूप हैं, वैसे ही एक परमात्माके ही व्यक्त-अव्यक्त, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज-चतुर्भुज, विष्णु-विराट्, राम-कृष्ण, शिव-शक्ति आदि अनेक रूप हैं।

३—मनुष्यकी जिस नाम और जिस रूपमें श्रद्धा, रुचि, विश्वास है, उसके लिये वही नाम और वही रूप विशेष लाभदायक होता है।

४—उपर्युक्त नाम-रूपकी उपासना यदि सकामभावसे यानी इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये की जाती है तो उससे भोगोंकी प्राप्ति हो सकती है और यदि रोग-संकटादि दुःखोंकी निवृत्तिके लिये की जाती है तो दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है। पर यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि यदि ईश्वर फल देनेमें हित समझते हैं तो फल देते हैं, हित नहीं समझते तो नहीं भी देते। किंतु यदि वही उपासना निष्कामभावसे की जाती है तो अन्तःकरणकी शुद्धि होकर आत्माका उद्धार हो जाता है।

५—हिंदू, बौद्ध, जैन, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि कोई भी क्यों न हो, उन सभीके लिये वास्तविक सर्वोत्तम परमार्थ वस्तु तो एक ही है, उसमें सबका (मनुष्यमात्रका) समान अधिकार है; क्योंकि सब साधनोंका सबसे बढ़कर अन्तिम फल एक ही है। उसीको परमात्माकी प्राप्ति, परम गति, परम शान्तिकी प्राप्ति, अव्यक्त अक्षरकी प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, अमृतकी प्राप्ति, ब्रह्मकी प्राप्ति, भगवद्भावकी प्राप्ति आदि नामोंसे गीतादि शास्त्रोंमें कहा है और उसीको लोग आत्माका उद्धार, आत्माका कल्याण, मोक्ष, चतुर्विध मुक्ति, सब दुःखोंका अत्यन्त अभाव, केवल चिति-शक्ति, मोक्ष-शिला, सातवाँ आसमान आदि नामोंसे कहते हैं। साधकको प्रथम अपने श्रद्धा, विश्वास, सिद्धान्त और मान्यताके अनुसार उत्तम-से-उत्तम पदकी प्राप्ति होती है, किंतु इसके अनन्तर सर्वोत्तम अन्तिम स्थिति सबकी एक ही हो जाती है। यह बात नहीं है कि परमात्माकी प्राप्तिकी अन्तिम अवस्था हिंदुओंके लिये कोई अलग हो, ईसाइयोंके लिये अलग हो और मुसलमानोंके लिये उससे भिन्न हो। हाँ, साधककी नीयत शुद्ध होनी चाहिये; उसमें ममता, अहंकार, स्वार्थ, विषमता, राग, द्वेष और ईर्ष्या आदि विकारोंका सर्वथा अभाव अवश्य होना चाहिये।

६—वाणीद्वारा जो कुछ कहा जाता है, मनद्वारा जो कुछ मनन किया जाता है और बुद्धिके द्वारा जो कुछ निश्चय किया जाता है, इन सबसे वह परम पदकी प्राप्ति निराली ही है। वह केवल चेतन, अचिन्त्य और अलक्ष्य होनेसे किसी भी मन-इन्द्रियका विषय नहीं है। इसलिये जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक मनुष्य उसको किसी भी प्रकारसे नहीं समझ सकता; क्योंकि समझमें आनेवाले

पदार्थसे वह अत्यन्त विलक्षण है। वहाँ न ज्ञान है; न अज्ञान, न बन्ध है, न मोक्ष; उसे न व्यक्त ही कह सकते हैं, न अव्यक्त ही; न वह सगुण है, न निर्गुण ही; न वह साकार है, न निराकार ही और न वह द्वैत है, न अद्वैत ही। क्योंकि ऊपर लिखे हुए शब्दोंके जो अर्थ हैं, सब बुद्धिद्वारा समझमें आ सकते हैं, किंतु वास्तवमें वह परमात्मा बुद्धिकी समझसे परे और अत्यन्त विलक्षण है।

७—उपर्युक्त मुक्तिके विषयमें कोई कहते हैं—'इस देशमें मुक्ति नहीं होती;' कोई कहते हैं—'इस कालमें मुक्ति नहीं होती;' कोई कहते हैं—'गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती;' कोई कहते हैं 'स्त्रीजातिकी मुक्ति नहीं होती'—ये सभी कथन एकदेशीय, अनुदार और अयुक्त हैं। उपर्युक्त परम पदकी प्राप्ति तो सभी देशों, सभी कालोंमें और सभी मनुष्योंकी हो सकती है। तर्ककी कसौटीपर कसने एवं निरपेक्षभावसे उदारताकी दृष्टिसे देखनेपर यही सिद्धान्त अतर्क्य, सर्वोत्तम और परम लाभप्रद सिद्ध होता है।

एक भाई इस देश और इस कालमें एवं मानवमात्रका मुक्तिमें अधिकार नहीं समझता। मान लीजिये, यदि उसकी बात सत्य भी हो तो भी इस देश-कालमें और मानवमात्रकी मुक्ति माननेवालेके लिये कोई भी हानि नहीं है; क्योंकि इस देश-कालमें यदि मुक्ति होती ही नहीं तो वह तो मानने और न माननेवाले दोनोंके लिये ही समान है; किंतु यदि सब देश और सब कालमें तथा मनुष्यमात्रकी मुक्ति होती है तो इस पक्षमें इस देश-कालमें और मनुष्यमात्रकी मुक्ति न माननेवालेके लिये महान् हानि है। माननेवाला यदि अपने श्रद्धा-विश्वासके अनुसार प्रयत्न करता है तो उसकी मुक्ति हो सकती है; किंतु जो मानता ही नहीं, वह प्रयत्न ही क्या करेगा और इस हालतमें मुक्ति होते हुए भी वह मुक्तिसे वञ्चित रह जायगा।

वास्तवमें अज्ञानके नाशसे मुक्ति होती है और ज्ञानसे अज्ञानका नाश होता है। उस ज्ञानकी प्राप्ति ईश्वरकी शरण और दयासे तथा ज्ञानी महात्माओंके सङ्ग, शरण और कृपासे एवं श्रद्धा, स्वाध्याय और साधनसे होती है, जिनमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। अतएव यह सिद्धान्त सर्वोत्तम, लाभप्रद और अतर्क्य है।

८—बहुत-से भाई ऐसा मानते हैं कि 'जीवन्मुक्त महात्माओंमें भी

प्रारब्धवेगसे काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुण और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदि दुराचार घट सकते हैं।' किंतु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। जिनको ज्ञानकी प्राप्ति तो हुई नहीं और न परमात्माके स्वरूपका अनुभव ही हुआ तथा जो भूलसे ऐसा मान बैठे हैं कि हमें ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी है, वे ही लोग अपनेमें घटनेवाले दुर्गुण-दुराचारोंको देखकर जीवन्मुक्त महात्माओंमें भी दुर्गुण-दुराचारोंका होना मानते हैं और मायाके लेशरूप प्रारब्धके कारण उनमें काम-क्रोधादि दुर्गुणों और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदि दुराचारोंका होना बतलाते हैं; पर उनका यह कथन न शास्त्रसङ्गत है और न युक्तिसङ्गत। जब मुक्त पुरुषमें दुर्गुण, दुराचार ही घटते हैं, तब फिर ऐसी मुक्तिसे ही क्या लाभ है ? दुराचारोंके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने काम और क्रोधको हेतु बतलाया है, न कि प्रारब्धको।

जब अर्जुनने प्रश्न किया कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३।३६)

'कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुए की भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ?'

इसपर भगवान्‌ने यही कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

यहाँ भगवान्‌ने पापोंके होनेमें रजोगुणसे उत्पन्न कामको कारण बतलाया और कामसे ही क्रोध आदिकी उत्पत्ति बतलायी है तथा कामके नाशसे इन सबका नाश होता है; किंतु काम-क्रोध आदिके होनेमें प्रारब्ध कारण नहीं है; क्योंकि भगवान्‌ने कामका कारण आसक्तिको बतलाया है (सङ्गात् संजायते कामः २।६२) न कि प्रारब्धको। प्रारब्ध कारण होता तो काम-क्रोधादिमूलक आसक्तिकी निवृत्ति सम्भव

ही नहीं होती और परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उस पुरुषमें आसक्तिका सर्वथा अभाव बतलाया है।

यथा—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २।५९)

'इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

जब आसक्तिरूप मूलका ही नाश हो जाता है; तब उससे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि शाखा-पत्र कैसे रह सकते हैं? इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद अहंता-ममता, राग-द्वेष, संशय-भ्रम, क्लेश-कर्म और दुर्गुण-दुराचारोंकी गन्धमात्र भी नहीं रहती।

क्योंकि श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोपनिषद् २।२।८)

'उस निर्गुण-सगुणस्वरूप परमात्माको तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् इस साधकके हृदयकी गाँठ खुल जाती है, उसके सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

गीतामें भी कहा है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(५।२६)

'काम-क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।'

अतः युक्तियोंसे तथा शास्त्रसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीवन्मुक्त

महात्माओंमें भी दुर्गुण-दुराचार लेशमात्र होते हैं—ऐसी मान्यता सर्वथा निराधार है।

९—कितने ही लोग ब्रह्मके निर्गुण निराकार स्वरूपकी अभेदरूपसे उपासना करते हैं, कितने ही भेदरूपसे; वे उपासक सगुणसाकारको हेय मानकर उसकी निन्दा करते हैं। वैसे ही दूसरे कितने ही सगुण-निराकार या सगुण-साकारकी भेदरूपसे उपासना करते हैं और निर्गुण-निराकारकी अभेदोपासनाकी निन्दा करते हैं। इस प्रकार अभेदोपासक भेदोपासकोंको और उनके उपास्यदेवको कोसते हैं तथा भेदोपासक अभेदोपासकों और उनके उपास्यको। किंतु वास्तवमें जब मनुष्य परमात्माके यथार्थ तत्त्वको जान जाता है, उसे सत्य वस्तु ज्ञात हो जाती है, तब वह परमात्माके किसी भी स्वरूपकी निन्दा कैसे कर सकता है ? उपनिषद्में भी कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईशावास्य० ६)

'परंतु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता। सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे ?'

वास्तवमें विचार करनेपर मालूम होता है कि निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, व्यक्त-अव्यक्त सब मिलकर एक समग्र परमात्माका ही स्वरूप है। किसी भी स्वरूपकी निन्दा अर्थान्तरसे परमात्माके ही स्वरूपकी निन्दा है। जो परमात्माके तत्त्वका ज्ञाता है, उससे अपने परमात्माके किसी भी स्वरूपकी निन्दा हो ही कैसे सकती है ? इससे यही समझमें आता है कि परमात्माके स्वरूपकी या किसी अङ्गकी कोई निन्दा करता है तो वास्तवमें उसने परमात्माके तत्त्व और रहस्यको समझा ही नहीं; क्योंकि पतिव्रता साध्वी स्त्री अपने पतिके किसी भी स्वरूप या अङ्गकी निन्दा कैसे कर सकती है ? पतिका हाथ, पैर, मुँह, कान कोई भी क्यों न हो, उसके लिये तो सभी आनन्ददायक होते हैं। इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये परमात्माके सभी स्वरूप आनन्ददायक होते हैं।

कोई शिवभक्त होकर विष्णुकी निन्दा करे तो उससे शिव प्रसन्न नहीं होते और विष्णुभक्त होकर शिवकी निन्दा करे तो उससे विष्णु प्रसन्न नहीं होते।

क्योंकि सच्चिदानन्द परमात्मा ही शिव और विष्णुके रूपमें प्रकट होते हैं, वस्तुतः एक ही तत्त्व है। यदि व्यवहारकी दृष्टिसे भेद माना जाय तो शिवके उपास्य हैं विष्णु और विष्णुके उपास्य हैं शिव; फिर इस सिद्धान्तसे भी शिव और विष्णु परस्पर एक-दूसरेकी निन्दा करनेवालेसे कैसे प्रसन्न हो सकते हैं? इससे यह बात सिद्ध हुई कि परमात्माके किसी भी स्वरूपकी किसी प्रकार भी निन्दा नहीं बन सकती।

१०—परमात्माके निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार आदि स्वरूपोंकी जो उपासना है, वह सभी उत्तम और श्रेष्ठ है, क्योंकि सभीका लक्ष्य परमात्माकी ओर होनेसे सभीको यथार्थमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, किंतु तर्ककी कसौटीपर कसनेसे साधनकालका कोई-सा भी स्वरूप वास्तविक स्वरूप सिद्ध नहीं होता; क्योंकि साधन-समयके माने हुए स्वरूपसे परमात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है।

जैसे कि एक पुरुष तो श्रीराम और श्रीकृष्णका ध्यान करता है, दूसरा एक सच्चिदानन्द ब्रह्मके निर्गुण-निराकार स्वरूपका ध्यान करता है, दोनों प्रकारके साधकोंको ही अभी परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई है, अतः वे शास्त्र और आचार्यके बतलाये हुए मार्गके अनुसार अपनी समझसे परमात्माके स्वरूपको लक्ष्य बनाकर उनकी उपासना करते हैं। इसलिये सगुण-साकारकी उपासना करनेवालोंके लक्ष्यसे भी वास्तविक श्रीराम-श्रीकृष्णका स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है और निर्गुण-निराकारके उपासकके लक्ष्यसे भी सच्चिदानन्द परमात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है; किंतु श्रद्धापूर्वक उपासना करनेके कारण शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति परमात्माकी प्राप्ति सभीको हो जाती है, इसलिये सभीकी उपासना यथार्थ है।

अतएव सगुण-साकारोपासक यदि निर्गुण-निराकारोपासकको निम्नश्रेणीका माने और निर्गुण-निराकारोपासक सगुण-साकारोपासकको निम्नश्रेणीका माने तो वे दोनों ही गलतीपर हैं, क्योंकि तर्ककी कसौटीपर कसनेसे सभी गलत ठहर जाते हैं, किंतु श्रद्धापूर्वक उपासना करनेपर सबका परिणाम परमात्माकी प्राप्ति होनेसे सभी ठीक हैं।

११—इसी प्रकार जो एक सम्प्रदायवाले दूसरे सम्प्रदायके मार्गको निम्नश्रेणीका अथवा हेय बतलाते हैं सो ठीक नहीं है, क्योंकि जितने भी शास्त्रोक्त सम्प्रदाय हैं, तर्ककी कसौटीपर कसनेसे परस्पर एक-दूसरेकी दृष्टिसे सभीमें कुछ-न-कुछ दोष कायम किये जा सकते हैं, किंतु सबकी पद्धति भिन्न-भिन्न होनेपर भी सभी आचार्योंकी नीयत और भाव उत्तम होने तथा सभीका लक्ष्य शास्त्रानुकूल और आत्यन्तिक श्रेय (कल्याण) की ओर होने एवं सबका फल परमात्माकी प्राप्ति होनेसे सभी श्रेष्ठ हैं।

१२—कोई एक साधक निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी अभेदभावसे उपासना करता है, किंतु भगवान्‌के सगुण-साकारके तत्त्वको न समझनेके कारण उसको हेयबुद्धिसे देखता है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञानके सिद्धान्तके अनुसार भी सगुण और निर्गुण सभी एक ब्रह्मका ही स्वरूप है, इसलिये उसको भी भेदरूपसे सगुणकी उपासनाके द्वारा साधन करके फिर निर्गुण-निराकारकी अभेदोपासनासे अमृत-रूप ब्रह्मकी प्राप्ति करनी चाहिये।

इसी तरह दूसरा कोई साधक सगुण-साकार श्रीराम-श्रीकृष्ण आदिमेंसे किसीकी भेदभावसे उपासना करता है; किंतु निर्गुण-निराकार ब्रह्मके तत्त्वको न समझनेके कारण उसकी परवाह नहीं करता तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि निर्गुण-निराकारके तत्त्वको समझकर जो सगुण-साकारकी उपासना करता है, वही सबसे श्रेष्ठ है; इसलिये सगुण-साकारोपासकको निर्गुण-निराकारका तत्त्व समझकर ही सगुण-साकारकी भेदरूपसे उपासना करनी चाहिये।

भगवान् कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

(गीता ७।२४)

'बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको न जानते हुए मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं।'

१३—जो साधक कर्म और उपासनाकी अवहेलना करके केवल निर्गुणको

उपासनाकी बातें करता है, वह ठीक नहीं करता। किसी कविने कहा है—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं कर्म दिये छिटकाय।
कर्महीन सो मूढ़ नर सहज नरक महँ जाय॥

एवं जो साधक सगुण-साकारका भजन-ध्यान, पूजा-पाठ, कीर्तन-वन्दन आदि करता है, किंतु भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको न जाननेके कारण संध्या-गायत्री, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन, दान, तप, पञ्चमहायज्ञादि, नित्य-नैमित्तिक और वर्णोचित कर्मोंकी अवहेलना कर देता है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि वह भगवान्‌की भक्ति तो करता है, पर भगवदाज्ञारूप शास्त्रोक्त कर्मकी अवहेलना करता है; इस कारण उसे परमात्माकी प्राप्ति होनी कठिन है; क्योंकि भगवान्‌की भक्तिमें भगवान्‌की आज्ञाका पालन प्रधान है। जो भगवान्‌की आज्ञाका पालन करता है, वही उनका सच्चा सेवक और प्रेमी है! तुलसीकृत रामायणके उत्तरकाण्डमें स्वयं भगवान् श्रीरामने प्रजाके प्रति कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

गीतामें भी कहा है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥

(३। ३०-३२)

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर। जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुकरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं परंतु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ।'

१४—कञ्चन, कामिनी, भोग, आराम, मान, बड़ाई आदिमें फँसे हुए मनुष्योंको उपर्युक्त परमपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, मांसभक्षण, मदिरापान और जीव-हिंसा आदि पापकर्म करते हैं, उनको तो वह मिल ही कैसे सकता है? किंतु जिनमें काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष, कपट-अहंकार, ममता आदि किञ्चित् भी दुर्गुण घटते हैं, उनको भी मिलना कठिन है।

१५—शास्त्रोंमें भोग, आराम, मान, बड़ाई आदिको विषके तुल्य एवं विषयभोग और आरामके त्यागको तथा अपमान, निन्दा आदिको अमृतके तुल्य बतलाया गया है। इस बातको श्रेष्ठ आदर्श पुरुष ही चरितार्थ कर सकते हैं। श्रेष्ठ पुरुषोंसे ही इसकी आशा की जा सकती है, भोग और आरामके किङ्कर, मान-बड़ाईमें फँसे हुए मनुष्योंसे कदापि नहीं। शास्त्रोंका उपर्युक्त वर्णन केवल कथन-मात्र ही नहीं है, वरं आदर्श और आचरणीय है।

अतः जो दम्भी मनुष्य अपनेको ईश्वरका अवतार, ज्ञानी, महात्मा और सिद्ध योगी बतलाकर अपने चरणरज और उच्छिष्टको प्रसाद और अपने चरणोदकको चरणामृतका रूप देकर लोगोंमें वितरण करते हैं, लोगोंसे अपने शरीरकी और अपने चित्र (फोटो) की पूजा करवाते हैं तथा अपने नाम और गुणोंका कीर्तन करवाते हैं, वे अपने-आपको और अन्य लोगोंको भी पतनके गर्तमें डालते हैं। इन्हींके कारण संसारमें नास्तिकताकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा धर्म और ईश्वरके विरोधमें बोलनेकी किसीमें भी सामर्थ्य नहीं है। जो वास्तवमें श्रेष्ठ उच्चकोटिके पुरुष होते हैं, वे तो भोग, आराम, मान-बड़ाईको विषके तुल्य समझकर इनसे सर्वथा दूर रहते हैं। उनके द्वारा इनके लिये किसीसे प्रेरणा या समर्थन करना तो दूर रहा, कोई दूसरे लोग उनके साथ ऐसा व्यवहार करें तो वे उसे भी स्वीकार नहीं करते, वरं उसे अपनेपर लाञ्छन मानते हैं तथा हृदय और व्यवहारसे कड़ाईके साथ उनका विरोध करते हैं। उनका इस प्रकार विरोध करना उनके लिये आदर्श है। ऐसे ही पुरुषोंके व्यवहार, आचरण और उपदेशोंसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। भगवान्ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गीता ३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

१६—आजकल जो अर्थोपार्जनके लिये भगवान्‌की लीलाका नाट्य किया जाता है, वह तो नकली लीला है। असली लीला तो यह है कि वस्तुमात्र ही भगवान्‌का स्वरूप है और चेष्टामात्र ही भगवान्‌की लीला है। ऐसा समझकर मनुष्यको क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये; क्योंकि 'वासुदेवः सर्वम्' के सिद्धान्तके अनुसार जब सब कुछ वासुदेव ही है, तब उनके द्वारा होनेवाली सभी चेष्टाएँ भगवान्‌की लीला हैं। जो मनुष्य इसका तत्त्व-रहस्य अच्छी तरह समझ जाता है, उसको पदार्थमात्रमें भगवान्‌का स्वरूप और चेष्टामात्रमें भगवान्‌की लीलाका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और परम शान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति होती रहती है।

१७—बहुत-से लोग मुझसे प्रश्न करते हैं कि कहीं-कहीं शास्त्रोंमें मांसभक्षण, मदिरापान, द्यूत-क्रीड़ा, झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदि पापकर्मोंके प्रोत्साहनकी बातें भी विधिरूपसे और उदाहरण वाक्योंमें आ जाया करती हैं, सो ये क्षेपक हैं, या इनका अर्थ दूसरा है अथवा उस समय ऐसी ही प्रणाली थी ? इसमें आपकी मान्यता क्या है ?' इसके उत्तरमें मैं यही कहता हूँ कि इन वाक्योंको क्षेपक कहकर शास्त्रोंपर दोषारोपण नहीं किया जा सकता; क्योंकि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ तथा इनका कोई दूसरा ही अर्थ हो तो भी मुझे मालूम नहीं एवं पूर्वकालमें ऋषि-मुनियोंमें ऐसी दोषयुक्त प्रणाली थी—यह बात नहीं मानी जा सकती। इसलिये उपर्युक्त वचनोंको संदेहास्पद होनेसे मैं काममें न लाना ही सब प्रकारसे उत्तम समझता हूँ; क्योंकि विधि और उदाहरण-वाक्योंसे निषेध-वाक्य बलवान् होते हैं तथा शास्त्रोंमें जगह-जगह उपर्युक्त मांसभक्षण आदिका घोर निषेध मिलता है। इसलिए शास्त्रोंके जिन वचनोंका अर्थ अपनी बुद्धिकी समझमें ठीक न आवे,

उनको अपनी बुद्धिकी मन्दता स्वीकार करके वहीं छोड़ देना चाहिये और शास्त्रोंके संदेहरहित लाभप्रद वचनोंके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये, इसीमें अपना कल्याण है।

१८—भगवत्प्राप्तिके बहुत-से स्वतन्त्र साधन हैं, वे प्रायः सभी योगनिष्ठा और सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत आ जाते हैं। योगनिष्ठा उसका नाम है जिसमें जीव, ईश्वर और प्रकृति—इन तीनों पदार्थोंको अनादि और नित्य मानकर निष्कामभावसे कर्म और भेदभावसे उपासना की जाती है तथा सांख्यनिष्ठामें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही अनादि और नित्य मानकर अभेदभावसे उपासना की जाती है। योगनिष्ठाकी दृष्टिसे जो कर्म किये जाते हैं, उनमें फल और आसक्तिका त्याग किया जाता है। (गीता १८।९) तथा सांख्यनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म किये नहीं जाते, साधकके द्वारा कर्म होते हैं, उनमें फल, आसक्ति और अहङ्कारका अभाव रहता है (गीता १८।२३)।

बहुत-से लोग प्रथम कर्मयोग, फिर उपासना और उसके बाद ज्ञानयोगका साधन बतलाते हैं तथा इस प्रकार कर्मयोगसे मलका, उपासनासे विक्षेपका और ज्ञानयोगसे आवरणका नाश मानते हैं। उनका यह मानना भी शास्त्रसम्मत और युक्तिसङ्गत है; किंतु यही क्रम है, दूसरा नहीं—ऐसी बात नहीं है। ये तीनों स्वतन्त्र साधन भी बतलाये गये हैं (देखिये गीता १३।२४)

केवल कर्मयोगसे भी अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, यह बात भगवान्ने गीताके दूसरे अध्यायके ५१वें; तीसरेके १९वें; चौथेके ३८वें; पाँचवेंके ११वें, १२वें आदि अनेक श्लोकोंमें बतलायी है।

इसी तरह केवल भक्तियोग (ईश्वरशरणागति) से भी भगवत्कृपासे स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, यह बात योगदर्शनके प्रथम पादके २३वें सूत्र (ईश्वरप्रणिधानाद्वा) में बतलायी है तथा गीतामें भी छठे अध्यायके ४७वें; आठवेंके ५वें; दसवेंके ८वें, ९वें, १०वें ११वें; अठारहवेंके ६२वें, ६५वें आदि श्लोकोंमें बतलायी गयी है।

इसी प्रकार केवल ज्ञानयोगसे भी स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्माकी प्राप्ति होती है, यह बात गीतामें भी चौथे अध्यायके २४वें, २५वें; पाँचवेंके २४वें; छठेके २७वें,

२८वें; तेरहवेंके ३०वें आदि श्लोकोमें बतलायी गयी है।

जब केवल कर्मयोगसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है, तब कर्मयोगके साथ भगवान्‌की भक्तिका समावेश होनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, इसकी तो बात ही क्या है ? गीतामें तीसरे अध्यायके ३०वें, ३१वें; आठवेंके ७वें; अठारहवेंके ५६वें आदि श्लोकोंमें यह बात बतलायी गयी है।

इसी तरह योग दर्शन, गीता आदि शास्त्रोंमें केवल एक-एक साधनसे स्वतन्त्रतापूर्वक आत्माका कल्याण होना बतलाया है। श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।
(योग० २।२८-२९)

'योगके अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे अशुद्धिका नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।'

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ (योगके) अङ्ग हैं।'

गीतामें भी चौथे अध्यायके २४वें श्लोकसे ३०वें तक एक-एक साधनसे स्वतन्त्रतापूर्वक परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

१९—उपर्युक्त साधनोंको गीतामें योग और सांख्य—इन दो निष्ठाओंके अन्तर्गत माना है। योगनिष्ठाके दो भेद हैं—(१) कर्मप्रधान योगनिष्ठा और (२) भक्तिप्रधान योगनिष्ठा। जहाँ केवल योगनिष्ठाका वर्णन आता है, वहाँ भक्तिका प्रत्यक्षमें कोई सम्बन्ध नहीं देखा जाता—जैसे गीता अध्याय २ श्लोक ४७ से ५१ तक और जहाँ भक्तिप्रधान योगनिष्ठाका वर्णन है, उसे मदर्पण, मदर्थ, मदाश्रय आदि अनेक नामोंसे कहा है—जैसे गीता ९।२७; १२।१०; १८।५६; तथा जहाँ केवल भक्ति होती है, उसे भक्तियोग, शरणागति, अनन्यभक्ति आदि नामोंसे कहा है—जैसे गीता १३।१०; १४।२६; ९।३४; ७।१४; ११।५४।

२०—सांख्यनिष्ठाके भी दो भेद हैं—(१) विचारप्रधान सांख्यनिष्ठा और

और (२) उपासनाप्रधान सांख्यनिष्ठा। जहाँ विचारप्रधान सांख्यनिष्ठाका वर्णन है, वहाँ कर्तापनका अभाव दिखलाया गया है तथा प्रकृति और प्रकृतिके कार्यको ही कर्ता माना गया है—जैसे गीता ३।२८; ५।८-९; १३।२९; १४।१९; १८।१७; तथा जहाँ उपासनाप्रधान सांख्यनिष्ठाका वर्णन है, वहाँ ध्यान और ज्ञानकी प्रधानता रहती है—जैसे गीता ५।१७, १८, २४; ६।२४-२५; १८।५१से ५५।

२१—गीतादि शास्त्रोंको देखनेसे यह मालूम पड़ता है कि समताको विशेष स्थान दिया गया है। न तो समताके बिना किसी भी साधनका मूल्य है और न किसी साधनकी सिद्धि होती है। किसी भी निष्ठाके अनुसार साधन किया जाय, बिना समताके साधनकी सिद्धि ही नहीं होती। सांख्य और योग—दोनों ही निष्ठाओंके साधन समतापर ही निर्भर करते हैं। जहाँ सांख्य और योगका वर्णन आया है, वहाँ समतासे ही उनके लक्षण किये गये हैं। जैसे—

१—सांख्यके साधनमें समता

भगवान् कहते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २।१५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

यहाँ सुख-दुःखमें समता बतलाकर साधकको ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी बतलाया गया है।

२—योगके साधनमें समता

योगनिष्ठाका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कर्मफलमें समता होनेसे ही उसकी 'योग' संज्ञा बतलायी है। भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व ही योग कहलाता है।'

सांख्य या योग—किसी भी निष्ठाको लक्ष्यमें रखकर साधन किया जाय, भगवान्ने समबुद्धिसे कर्म करनेकी ही आज्ञा दी है। वे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

इससे यह बात सिद्ध होती है कि योग और सांख्य—दोनों ही साधनोंमें समताकी आवश्यकता है। समता होनेसे ही दोनों निष्ठाओंकी सिद्धि होती है। जहाँ समता नहीं, वहाँ योग योग नहीं है और सांख्य सांख्य नहीं है।

साधकको किसी भी साधनके द्वारा जब परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब वह चाहे योगी हो, चाहे भक्त और चाहे ज्ञानी, समता ही उसकी कसौटी है। भगवान्ने परमात्माको प्राप्त योगीके लक्षण कहते हुए समताको ही विशेष आदर दिया है। वे कहते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(गीता ६।८-९)

'जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और

सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

इसी प्रकार भक्तिद्वारा परमात्माको प्राप्त पुरुषोंके लक्षण कहते हुए भी समताको ही प्रधानता दी है। वे कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १८-१९)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है; जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील है और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

गुणातीत महात्माके लक्षण कहते हुए भी भगवान्‌ने समताकी ही विशेषता बतलायी है। वे कहते हैं—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

अतः इससे यह बात सिद्ध हो गयी की समताके बिना कोई भी महापुरुष, योगी, भक्त, ज्ञानी, महात्मा नहीं माना जा सकता। समता ही सबसे श्रेष्ठ साधन, सर्वोत्तम गुण और सब साधनों, साधकों और सिद्धोंकी कसौटी है।

२२—तैत्तिरीयोपनिषद्‌की शिक्षावल्लीके ग्यारहवें अनुवाकमें कहा है कि 'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।' इससे तथा अन्य शास्त्रवचनोंसे यह सिद्ध होता है कि माता-पिताकी सेवासे बालकोंका, गुरुकी सेवासे शिष्यका, अतिथिकी सेवासे गृहस्थका, पतिकी सेवासे स्त्रीका तथा स्वामीकी सेवासे भृत्य (सेवक) का कल्याण हो जाता है। इसमें यह शङ्का होती है कि उपर्युक्त माता, पिता, पति आदि सेव्य व्यक्तियोंके स्वयं मुक्त न होते हुए भी केवल उनकी सेवासे ही सेवकका कल्याण कैसे हो सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि सेवासे राग-द्वेषका नाश होकर समता आ जाती है और समता ही सब साधनोंका फल है; क्योंकि सेवकको उनकी सेवा करनेमें अपनी इच्छाका सर्वथा त्याग करना पड़ता है। जो बात अपने मनके प्रतिकूल है; किंतु स्वामीके मनके अनुकूल है तो उसे बिना अपनी इच्छाके भी करना पड़ता है और जो बात अपने मनके अनुकूल है, किंतु स्वामीके मनके प्रतिकूल है तो उसे अपनी अनुकूलताका त्याग करना पड़ता है। इस प्रकार अपनी अनुकूलता और प्रतिकूलतापर बार-बार आघात पहुँचता है, जिससे अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिका नाश हो जाता है। अनुकूलतामें ही राग और हर्ष तथा प्रतिकूलतामें ही द्वेष और शोक होता है एवं अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तिके नाशसे ही राग-द्वेष और हर्ष-शोकका समूल विनाश होता है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंका अत्यन्त अभाव होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर समता और ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

२३—संसारमें चार पदार्थ माने जाते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—उनमें अर्थ और काममें तो प्रारब्ध प्रधान है तथा धर्म और मोक्षमें पुरुषार्थ; क्योंकि प्रारब्धके बिना प्रयत्न करनेपर भी अर्थ और कामकी सिद्धि नहीं होती, किंतु धर्म और मोक्ष क्रियमाण होनेसे प्रयत्नसाध्य हैं, प्रारब्ध कर्मके फल नहीं; सारांश यह है कि ये प्रारब्धकर्मके बलपर अपने-आप सिद्ध होनेवाले नहीं हैं।

शास्त्रविहित कामोंके अनुष्ठानका नाम 'धर्म' है। वह धर्म यदि निष्कामभावसे पालन किया जाय तो मुक्तिदायक होता है और वही यदि सकामभावसे किया जाय तो अर्थ और कामकी सिद्धि करनेवाला होता है। 'अर्थ' का अभिप्राय है धन (रुपये) और धनसे प्राप्त होनेवाले पदार्थ। इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिकी अभिलाषाको 'काम' कहते हैं। इसके कई भेद होते हैं। उनमें मुख्य चार भेद समझने चाहिये—तृष्णा, इच्छा, स्पृहा और वासना। स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई आदिके होते हुए भी उनकी वृद्धिकी कामनाको 'तृष्णा' कहते हैं। जिस वस्तुका अभाव हो, उसकी पूर्तिकी कामनाका नाम 'इच्छा' है। अभाव होनेपर भी जिसके बिना जीवननिर्वाह न हो सके, उन अत्यन्त आवश्यकतावाली वस्तुकी कामनाका नाम 'स्पृहा' है तथा जो कुछ प्राप्त है उसके बने रहने और जीवनके नित्य बने रहनेकी कामनाका नाम 'वासना' है। ये चारों 'काम' के ही भेद हैं। निष्कामकर्म, ईश्वरभक्ति और परमात्मज्ञानके द्वारा समस्त दुःखोंका अत्यन्त अभाव और परमानन्दकी प्राप्ति होनेका नाम 'मोक्ष' है। इसीको परम गति, परमात्माकी प्राप्ति, मुक्ति आदि नामोंसे कहा है।

२४—कोई प्रारब्धको बलवान् बताते हैं और कोई पुरुषार्थको, किंतु वास्तवमें अपने-अपने स्थानपर ये दोनों ही बलवान् हैं। अभिप्राय यह है कि अर्थ और काममें तो प्रारब्ध बलवान् है तथा धर्म और मोक्षके विषयमें पुरुषार्थ; क्योंकि पुरुषार्थ किये बिना अपने-आप न तो धर्मका पालन हो सकता है और न मोक्षकी सिद्धि ही।

किये हुए पुण्य और पापरूप संचित कर्मोंमेंसे जिस कर्मके अंशका फलभोग प्रारम्भ हो जाता है, उसका नाम 'प्रारब्ध' है। इस पुण्य-पापके फलरूप प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है— अनिच्छासे, परेच्छासे और स्वेच्छासे। अकस्मात् दैवेच्छासे धन आदिका प्राप्त होना या रोग, संकट, मृत्यु आदिका प्राप्त होना अनिच्छा-प्रारब्धभोग है। परेच्छासे-दूसरोंकी इच्छासे धन आदिका प्राप्त होना या संकट, मृत्यु आदिका प्राप्त होना परेच्छा-प्रारब्धभोग है। अपनी इच्छासे किये हुए प्रयत्नद्वारा अर्थ और कामका सिद्ध होना या इसके विपरीत अर्थ और भोगका ह्रास होना—यह स्वेच्छा-प्रारब्धभोग है।

इसपर यह जिज्ञासा होती है कि पूर्वसंचित कर्मोंसे एक अंशका ही प्रारब्ध बनता है या इस जन्ममें किये हुए नवीन कर्मका भी प्रारब्ध बन सकता है तो इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि इस वर्तमानकालमें एक क्षण पूर्व किये हुए कर्म भी संचितमें सम्मिलित हो जाते हैं। इस कारण वे भी प्रारब्ध बन सकते हैं। यदि कहें कि कोई मनुष्य अर्थ और कामको अपने प्रयत्न (पुरुषार्थ) से प्राप्त करना चाहे तो हो सकता है या नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि हो भी सकता है और नहीं भी। जैसे कोई आदमी आमके वृक्षकी एक टहनीमें जामुनकी कलम लगा देता है और यदि उसका प्रयत्न सिद्ध हो जाय यानी जामुनकी टहनी उससे जुड़ जाय तो उस आमके वृक्षकी उस टहनीपर भी जामुन लग सकते हैं, इसी तरह कोई मनुष्य इसी जन्ममें पुत्र, धन आदिकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित यज्ञ, तप आदिका अनुष्ठान करता है और उसका वह शास्त्रविहित कर्म सिद्ध हो जाता है तो उसके पूर्वके प्रारब्धमें न लिखे हुए पुत्र, धन आदि भी इस नये प्रारब्धसे प्राप्त हो सकते हैं, किंतु यदि शास्त्रोक्त प्रयत्न सिद्ध नहीं होता तो नहीं भी होते तथा मनमाने किये हुए प्रयत्नसे प्रारब्धका परिर्वतन कभी नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र भी है, पर फल भोगनेमें बिलकुल नहीं।

अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित प्रयत्नका नाम 'पुरुषार्थ' है तथा मोक्षकी सिद्धिके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम 'परमपुरुषार्थ' है, किंतु शास्त्रविपरीत प्रयत्नका नाम 'पाप' और व्यर्थ चेष्टाका नाम 'प्रमाद' है।

अतएव मनुष्यको परमपुरुषार्थकी सिद्धिके लिये कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि साधन करने चाहिये।

२५—अर्थ-त्यागके प्रयोगके कई भेद हैं। उनमें चार प्रधान हैं—पूर्वका ऋण चुकाना, दहेज देना, दान करना और ऋण देना।

जैसे किसीकी अत्यन्त गरीब घरमें ब्याही हुई एक लड़की है और उसके लड़केका विवाह है; किंतु उसके पास धन नहीं है, केवल उस लड़कीके पाँच सौ रुपये पिताके पास जमा हैं। लड़केके विवाहमें दो हजार रुपयोंकी आवश्यकता है। इसलिये वह अपने पितासे प्रार्थना करती है कि यह विवाह दो हजार रुपयोंके बिना नहीं हो सकता, चाहे जिस शर्तसे आप रुपये देनेकी कृपा करें। इसपर उसके पिताने

पाँच सौ रुपये तो उसके जमा थे, वे दे दिये और पाँच सौ रुपये नानाके नाते दहेजके रूपमें दे दिये तथा पाँच सौ रुपये गरीब होनेके नाते उसे सहायताके रूपमें दे दिये एवं पाँच सौ रुपये ऋणके रूपमें दिये—इस प्रकार कुल दो हजार रुपये दे दिये। इन दो हजार रुपयोंमें से पाँच सौ तो जो उसके जमा थे, वे दे दिये गए; उनका भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहा, क्योंकि वह पूर्वका ऋण चुकाया गया। इसी प्रकार पाँच सौ जो दहेजके रूपमें दिये गये, उनपर पुत्रीके नाते उसका जन्मसिद्ध हक था, अतः उनका भी भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहा तथा पाँच सौ रुपये जो सहायताके रूपमें दिये गये, उनका भी भविष्यमें लड़कीसे कोई लेन-देन नहीं है, पर यदि वे रुपये सकामभावसे दिये गये हैं तो उससे कामनाकी सिद्धि हो सकती है और यदि वे निष्कामभावसे दिये गये तो उससे उसके अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है। शेष पाँच सौ जो ऋणके रूपमें दिये गये, वे लड़कीसे लेने हैं; यदि वे इस जन्ममें वापस मिल जायँगे तो उनका भी लेन-देन समाप्त हो जायगा, अन्यथा उनका लेन-देन आगे भावी जन्ममें भी चलेगा; किंतु ऋणदाता पिताका यह अधिकार है कि वह अपने हृदयसे यदि उनका त्याग कर दे तो उन रुपयोंका भी लेन-देन समाप्त हो सकता है; पर यह ऋण लेनेवालेके अधिकारकी बात नहीं है। ऋणदाता सकामभावसे इनका त्याग करे तो उसकी कामनाकी सिद्धि हो सकती है और निष्कामभावसे त्याग करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है।

इसी प्रकार किसीको भी मनुष्य जो कुछ देता है, उसके चार भेद समझ लेने चाहिये। जैसे कोई मनुष्य किसी राजाको भूमिकर, आयकर (टैक्स) आदि देता है तो वह ऋण चुकानेके समान है, उसका भविष्यमें कोई लेन-देन नहीं रहता ।

मनुष्य भोग, आराम और यशके लिये जो धन खर्च करता है, वह यदि न्याययुक्त है तो परिणाममें भोग, आराम और यश देकर समाप्त हो जाता है और यदि अन्याययुक्त है तो दाता पापका भागी होता है।

जो द्रव्य डाकू आदिको मृत्युभयसे दिया जाता है, उसका फल दाताको कुछ नहीं होता, किंतु डाकू आदि पापके भागी होते हैं।

जो मनुष्य मरते समय अपने उत्तराधिकारियोंको धन, ऐश्वर्य आदि छोड़कर चला जाता है अर्थात् उससे उनका वियोग हो जाता है तो वह पूर्वजन्मके

पावनेदारोंका ऋण चुकानेके समान है, अतः उससे उस मृतकको कोई फल नहीं मिलता। किंतु जो मनुष्य आत्मकल्याणके लिये विवेक और वैराग्यपूर्वक धन-ऐश्वर्यादिका स्वेच्छासे त्याग कर देता है, उसका उसे सात्त्विकत्यागकी भाँति अन्तःकरणकी शुद्धिरूप फल मिलता है। इसलिये मनुष्यको धनका उपयोग विवेक-वैराग्यपूर्वक निष्कामभावसे ही करना चाहिये।

२६-मनुष्य-जीवनका समय बहुत ही अमूल्य है। इसलिये जो शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माकी प्राप्तिके इच्छुक हैं उनको तो सारा समय उत्तम-से-उत्तम साधनोंमें लगाना चाहिये अर्थात् नित्य-निरन्तर परमात्माको याद रखते हुए ही अपना सारा-का-सारा समय परमात्मामें ही लगा देना चाहिए। जो मनुष्य सब-का-सब समय परमात्माके समर्पण करनेमें असमर्थ हैं, उनको अपने समयका अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार यथायोग्य उपयोग करना चाहिये। अपने समयका उपयोग किस प्रकार किया जाय, इसकी सामान्य विधि यह है—

दिन-रातमें चौबीस घंटे होते हैं। उनमेंसे छः घंटे सोनेके लिये, कम-से-कम छः घंटे एकान्तमें बैठकर केवल भजन-ध्यानादि साधनके लिये, छः घंटे जीविकाके लिये और बाकी छः घंटे शौच-स्नान, आहार-विहार, स्वास्थ्यरक्षा आदिके लिये लगाने चाहिये। इसका प्रकार यह है—

रात्रिमें १० बजेसे प्रातः ४ बजेतक शयन करना चाहिये। सोते समय मनसे जप, ध्यान या गीतापाठ करते हुए ही सोना चाहिये; क्योंकि इस प्रकार करनेसे स्वप्न अच्छे आते हैं और शयनका समय भी उपयोगमें आ जाता है । प्रातः ४ बजेसे ५ तक शौचस्नान, व्यायाम-आसन करके ५ से ८ तक आत्मकल्याणके लिये पवित्र और एकान्त देशमें बैठकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अपने अधिकारके अनुसार अर्थको ख्यालमें रखते हुए संध्या, गायत्री, होम, भगवान्के नामका जप, स्वरूपका ध्यान, भगवान्की पूजा, स्तोत्रपाठ, स्तुति-प्रार्थना, वेद, गीता, रामायण आदि शास्त्रोंका स्वाध्याय आदि साधन निष्कामभावसे करने चाहिये। ८ से १० तक पर्यटन, स्वास्थ्यरक्षा, गृहकार्य और भोजनादि करना चाहिये; भोजन शुद्ध, सात्त्विक और लघु होना चाहिये। १० से ४ तक वर्णधर्मके अनुसार जीविकोपार्जन करना चाहिये, परमात्माको निरन्तर याद रखते हुए शुद्ध और न्याययुक्त जीविकाके कर्म करने चाहिये। ४ से ५ तक पर्यटन, शौच-स्नान करना चाहिये।

५ से ८ तक आत्मकल्याणके लिये संध्या-गायत्री आदि सब साधन प्रातःकालकी तरह ही करने चाहिये। फिर रात्रिको ८ से १० तक भोजन करना एवं घरके सब एकत्र होकर आत्मकल्याण, व्यवहार और व्यापारके सुधार तथा समाज और देशकी उन्नतिके लिये बातचीत करनी चाहिये।

इस दिनचर्याको देश, काल, परिस्थिति तथा अपनी सुविधाके अनुसार यथायोग्य घटा-बढ़ा सकते हैं; किंतु परमात्माकी स्मृति हर समय रखते हुए ही सब कार्य निःस्वार्थभावसे करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

परंतु ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासियोंको न तो जीविकाके लिये छः घंटोंकी तथा न आहार-विहार और स्वास्थ्यरक्षादिके लिये ही छः घंटोंकी आवश्यकता है। अतः उन्हें छः घंटे शयनमें और छः घंटे साधनमें लगानेके अतिरिक्त शौच-स्नान, आहार-विहार और स्वास्थ्यरक्षा आदिके लिये चार घंटोंमें ही काम चलाकर बाकी ८ घंटोंका समय बचाकर ब्रह्मचारियोंको तो गुरुसेवापूर्वक विद्याभ्यासमें, वानप्रस्थियोंको तपस्यामें और संन्यासियोंको आत्मकल्याणके लिये जप-ध्यानादिके साधनमें लगाना चाहिये।

२७-कई मनुष्य संदिग्धरूपमें प्रश्न किया करते हैं, उनके प्रश्नोंका निर्णयात्मक उत्तर निश्चितरूपसे दे देना चाहिये। जैसे—

प्रश्न—विवाह करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—यदि स्वास्थ्य ठीक हो तो विवाह अवश्य करना चाहिये; परंतु चालीस वर्षकी उम्रके बाद नहीं।

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—संन्यास लेनेका यह समय नहीं है।

प्रश्न—दुःख पड़नेपर आत्महत्या करनी चाहिये कि नहीं?

उत्तर—भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी आत्महत्याका तो कभी विचार भी मनमें नहीं लाना चाहिये।

प्रश्न—गाली देनेवालेको बदलेमें गाली देनी चाहिये कि नहीं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—अपनेपर अत्याचार करनेवालेका प्रतीकार करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—अत्याचारका बदला अत्याचारसे नहीं देना चाहिये, आत्मरक्षाके लिये न्याययुक्त प्रतीकार किया जा सकता है।

कोई बीमार आदमी प्रश्न करे तो उसे इस प्रकार उत्तर देना चाहिये—

प्रश्न—आज स्वास्थ्य ठीक नहीं है; खाना चाहिये कि नहीं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—जल पीना चाहिये कि नहीं ?

उत्तर—पी सकते हैं।

प्रश्न—स्नान करना चाहिये कि नहीं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—शौच या लघुशङ्काके लिये किस समय जाना चाहिये ?

उत्तर—इनके वेगको क्षणमात्रके लिये भी कभी नहीं रोकना चाहिये, तुरंत चले जाना चाहिये।

प्रश्न—निद्रा कितनी लेनी चाहिये ?

उत्तर—उचित निद्रा लेनी चाहिये।

२८—सभी बालक-बालिकाओंको दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और विलासिताका त्याग करके नित्य माता, पिता, स्वामी और बड़ोंकी आज्ञाका पालन, सेवा और नमस्कार, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, व्यायाम, ईश्वरभक्ति और सद्‌गुण-सदाचारके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसके साथ ही बालकोंको अपने-अपने वर्णानुसार जीविकाके लिये अध्यापनकला, युद्धकौशल, खेती, पशुपालन, व्यापार, शिल्प आदि कला-कौशलके काम भी यथासाध्य सीखने चाहिये एवं बालिकाओंको सिलाई, कताई आदि कारीगरी तथा रसोई बनाना, पीसना आदि सभी गृहकार्य भी सीखने चाहिये।

२९—स्त्रियोंको भगवान्‌को याद रखते हुए निःस्वार्थभावसे घरमें सबकी सेवा करना, सबके साथ प्रेम रखना और समताका व्यवहार करना, स्वावलम्बी बनना, बालकोंको उत्तम शिक्षा देना, सादा भोजन, सादगीसे रहन-सहन और खर्च कम लगाना, रुपयोंका हिसाब-किताब रखना, घरसे बाहर स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं घूमना, धूर्त, ठग और कुटनी स्त्रियोंसे बचकर रहना, सत्य, प्रिय और मितभाषण

करना, खेल-तमाशा, मादक-वस्तु, नाटक-सिनेमा आदि दुर्व्यसन और दुर्गुण-दुराचारोंका तथा आलस्य-प्रमादका त्याग करना, रोना, रूठना और लड़ाई-झगड़ा नहीं करना एवं हाड़, दाँत, सींग, लाखकी चूड़ी, चमड़ा तथा नील और मिलके वस्त्र आदि अपवित्र वस्तुओंका सर्वथा त्याग करना—इन बातोंपर विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये।

३०—विधवा स्त्रियोंको काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि दुर्गुणोंका, झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि दुराचारोंका, आलस्य, प्रमाद , खेल-तमाशा, ताश-चौपड़, नाटक-सिनेमा, मादक वस्तु आदि दुर्व्यसनोंका तथा ऐश-आराम, शृङ्गार-शौकीनी, स्वाद, तेल-फुलेल, इत्र-सेंट आदि विलासिताका सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा विषयी, पामर, कुलटा और कुटनी स्त्रियोंके और पुरुषमात्रके संसर्गसे दूर रहना चाहिये। एकान्तमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक जप, ध्यान और स्वाध्यायका अनुष्ठान, ज्ञान, वैराग्य, तप, सदाचार, शौचाचार, परोपकार, मन-इन्द्रियोंका संयम तथा निःस्वार्थभावसे प्रेम और विनयपूर्वक सबके साथ उत्तम बर्ताव और सबका सेवा-सत्कार करना चाहिये।

३१—पुरुषोंको स्त्री, पुरुष और बालकोंको शिक्षा तथा उन्नतिके उद्देश्यसे नित्यप्रति रात्रिमें सबको एकत्र करके गीता, भागवत, रामायण, महाभारत आदि शास्त्रोंका प्रवचन और विवेचन करना, अपनी सामाजिक, व्यावहारिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये नित्यप्रति एकान्तमें विचार करना, अपने व्यापार और आचरणके सुधारके लिये ईश्वरको नित्य-निरन्तर याद रखते हुए ही स्वार्थका त्याग करके सबके साथ विनय और प्रेमपूर्वक व्यवहार करना, दुखी, अनाथ, पूज्य और गुरुजनोंकी सेवा तथा निष्कामभावसे प्राणिमात्रके हितका चिन्तन और उनकी उन्नतिकी चेष्टा करते हुए उनकी सेवा करना एवं आलस्य-प्रमाद, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, दुर्व्यवहार और विलासिताको विषके समान समझकर त्याग करना तथा आत्मोद्धारके लिये बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा, भक्ति, सद्गुण-सदाचारको अमृतके समान समझकर उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनी चाहिये।

पुरुषोंको अपना कर्तव्य समझकर विधवा स्त्रियोंकी सेवा-शुश्रूषा,उनकी रक्षा, उनके रुपयोंका व्याज उपजाना और उनकी जीविका का प्रवन्ध विशेषरूपसे करना

चाहिये तथा उनकी भक्ति, जप, तप, वैराग्य, सद्गुण-सदाचारके साधनमें सहायता करना और उनको किसी प्रकार भी कष्ट न हो—इसपर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि विधवा स्त्रीकी दुराशिषसे यह लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।

३२—मनुष्यको नील, लाख, सींग, हाड़, चर्बी और चर्बी-मिश्रित पदार्थ, चमड़ा, मांस, मदिरा, लहसुन, प्याज, डाक्टरी दवाइयाँ और मिलका कपड़ा—इनको न तो कभी काममें लाना और न इनका व्यापार ही करना चाहिये तथा खान-भट्ठा, सट्टा-फाटका, लौह, काठ, रेशम-टसर, जुआ, नाटक-सिनेमा आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिये।

३३—मनुष्यको दो बातोंको सदा याद रखना चाहिये और दो बातोंको सर्वथा भूल जाना चाहिये।

सदा याद रखनेकी दो बातें ये हैं—१—दूसरोंके द्वारा किया गया अपना उपकार और २- अपने द्वारा किया गया किसीका अपकार; क्योंकि दूसरेके द्वारा किये गये उपकारको याद रखनेसे कृतघ्नताका दोष नहीं आता तथा मनुष्य प्रत्युपकार करके ऋणसे मुक्त हो सकता है एवं अपने द्वारा किये गये किसीके अपकारको याद रखनेसे पश्चात्ताप होकर जिसका अपकार किया गया है, उसके प्रति विनय, क्षमा-प्रार्थना और सेवा करनेसे मनुष्य अपराधसे मुक्त हो सकता है।

सर्वथा भूल जानेकी दो बातें ये हैं—१— दूसरोंके द्वारा किया हुआ अपकार और २—अपने द्वारा किया हुआ उपकार, क्योंकि दूसरोंके द्वारा किये हुए अपकारको याद रखनेसे प्रतिहिंसाकी भावनाके कारण उसका अनिष्ट किये जानेकी सम्भावना है, इससे अपना पतन होता है और अपने द्वारा किया हुआ उपकार याद रहनेसे वह कभी प्रकट भी किया जा सकता है, जिससे जिसका उपकार किया गया है, उसे दुःख और लज्जा होती है, अपनेमें अभिमान-अहंकारकी वृद्धि होती है एवं वह किया हुआ उपकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अपनी सब प्रकारसे हानि है।

३४—किसीको अपने अनुकूल बनानेके लिये मनुष्यको दो प्रयोग करने चाहिये। ये दो सर्वमोहन मन्त्र हैं—१—स्वार्थका त्याग करके उसकी सेवा करना और २—उसके दोषोंकी ओर ध्यान न देकर उसके सद्गुण-सदाचारोंकी स्तुति करना। ये दो ऐसे सर्वमोहन मन्त्र हैं कि इनसे ईश्वर, महात्मा, ऋषि, मुनि,

देवता तथा मनुष्य सब अनुकूल हो जाते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है, दुष्ट और वैरी भी मित्र बन जाते हैं।

३५—वैराग्य, उपरति और संयम—ये एक-दूसरेसे भिन्न हैं तथा इन तीनोंका ही इन्द्रिय, मन और विषयोंसे सम्बन्ध है।

संसारके विषय, कर्म, इन्द्रिय और मन आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिके अभावका नाम 'वैराग्य' है तथा उस रागका अत्यन्त अभाव हो जाना 'परम वैराग्य' है।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंकी ओरसे इन्द्रियों और मनकी वृत्तियोंका हट जाना 'उपरति' है तथा उनसे मन-इन्द्रियोंका सर्वथा सम्बन्धविच्छेद हो जाना 'परम उपरति' है।

इन्द्रियोंका और मनका सर्वथा साधकके वशमें हो जाना इन्द्रियोंका और मनका संयम कहलाता है; इनमें इन्द्रियोंके संयमको 'दम' और मनके संयमको 'शम' कहते हैं।

इन तीनोंमें वैराग्य प्रधान है; क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होनेसे मन और इन्द्रियोंकी वृत्ति उनसे स्वाभाविक ही हट जाती है तथा मन और इन्द्रियोंका वशमें होना भी सहज है। एवं वैराग्य होनेपर परमात्माकी प्राप्तिके साधन भी सुगम हो जाते हैं, जिससे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। किंतु बिना वैराग्यके केवल उपरति और संयमसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि योगी लोग सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये भी इन्द्रियोंकी और मनकी पदार्थोंमें एकाग्रता और संयम करते हैं, किंतु विषयोंमें आसक्तिके कारण परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं।

३६—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, सत्पुरुषोंका सङ्ग, उनकी आज्ञाका पालन, उनके आचरणोंका अनुकरण, सत्-शास्त्रोंका अर्थ और भावसहित स्वाध्याय, चराचर भूतोंको परमात्माका स्वरूप समझकर उनकी सेवा, परमात्माके नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, भगवान्‌में अनन्य प्रेम, भगवान्‌की पूजा, भगवान्‌के गुण-प्रभाव-लीलाका मनन, ईश्वर-शास्त्र-महापुरुष और परलोकमें अतिशय विश्वास, परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तथा भगवद्भावोंका

प्रचार—इन सब साधनोंमेंसे किसी भी एकका रहस्य समझकर श्रद्धा, भक्ति और विवेक-वैराग्यपूर्वक निष्कामभावसे अनुष्ठान किया जाय तो वह एक ही साधन अति शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करा सकता है।

३७—भगवान्‌के नामका जप वाणीकी अपेक्षा श्वाससे करना उत्तम है और श्वासकी अपेक्षा मनसे करना उत्तम है तथा वह भी यदि गुप्त रक्खा जाय अर्थात् प्रकाश न किया जाय तो और भी उत्तम है। उससे भी उत्तम वह है, जो अर्थ और भावसहित किया जाय एवं वही जप श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभावपूर्वक नित्य-निरन्तर करनेपर तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेमें समर्थ है।

३८— श्रद्धा और प्रेमपूर्वक की हुई पूजासे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(९।२६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

मन्दिरोंमें प्रतिष्ठापित पाषाण और धातु आदिसे बनी मूर्तिकी पूजाकी अपेक्षा अपने-अपने घरोंमें भगवान्‌की पाषाण और धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटकी पूजा करना उत्तम है, क्योंकि मन्दिरोंमें तो पण्डा-पुजारी, महन्त आदि ही पूजा करते, भोग लगाते और आरती करते हैं, हमलोग तो दूरसे केवल दर्शनमात्र ही कर सकते हैं तथा उनमें किसी-किसीके चरित्र भी अच्छे नहीं होते एवं अपने घरमें तो हम स्वेच्छानुसार अपने हाथसे भगवान्‌की मूर्तिकी पूजा कर सकते हैं, भोग लगा सकते हैं और आरती कर सकते हैं। अतः हमें अपने घरमें मूर्ति स्थापित करके उसकी स्वयं ही अपने बाल-बच्चे, स्त्री तथा बन्धु-बान्धवोंसहित श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निःस्वार्थभावसे पूजा करनी चाहिये।

इससे भी उत्तम वह मानसपूजा है, जो अपने शरीररूपी मन्दिरके अंदर हृदयाकाशमें या अपने सम्मुख बाह्याकाशमें मनसे ही भगवान्‌की मूर्तिकी स्थापना करके मनसे ही की जाती है अर्थात् मनसे ही भगवान्‌को पत्र-पुष्प-चन्दनादि चढ़ाये जायँ, भोग लगाया जाय, आरती एवं स्तुति-प्रार्थना आदि की जाय। क्योंकि पाषाण और धातुकी मूर्ति या चित्रपट आदिकी पूजा करते समय मन इधर-उधर चला जाता है, किंतु मानसिक पूजामें तो सारा कार्य मनसे ही होता है। मनके इधर-उधर चले जानेपर सारा काम बंद हो जाता है, इसलिये मनकी वृत्तियाँ पूजामें अवश्य लगानी पड़ती हैं। जो काम मनसे होता है, वही मूल्यवान् है और वह गुप्त भी रह सकता है; क्योंकि बिना बतलाये उसे कोई जान भी नहीं सकता। इससे मनुष्य सहज ही मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और दिखाऊपनसे भी बच सकता है।

परंतु दान, तप, होम, श्राद्ध, तर्पण, तीर्थ, व्रत, संध्या, बलिवैश्वदेव, माता-पिता, गुरु, अतिथि आदिकी सेवा, सधवा स्त्रियोंके लिये पतिसेवा आदि कर्म केवल मनसे करना विशेष लाभदायक नहीं है; क्योंकि इनको केवल मनसे करनेसे किसीका विशेष हित नहीं हो सकता। अतःइनको तो मन, तन, धन, और वाणीसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे ही करना चाहिये, किंतु जन्म और मरणाशौच, यात्रा, असमर्थता और आपत्तिकालमें इनको भी अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये यथोचित मानसिक कर सकते हैं।

इससे भी मूल्यवान् वह है,जो चराचर सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको साक्षात् परमात्माका स्वरूप समझकर मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवारूप पूजा की जाय, क्योंकि इसमें सर्वदेशीय भगवद्भावना होनेके कारण भगवान्‌की स्मृति सदा-सर्वदा नित्य निरन्तर रह सकती है।

परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि समस्त प्राणियोंकी सेवा करनेवालोंको उपर्युक्त दान, होम, श्राद्ध, तीर्थ, व्रत, गुरुजनोंकी सेवा आदि शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये। यथायोग्य इनका भी अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये।

इन उपर्युक्त पूजाओंको श्रद्धा-भक्ति-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करनेपर अति शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

३९—शास्त्रोंमें कहीं भक्तिको, कहीं ज्ञानको , कहीं योगको, कहीं तपको, कहीं गङ्गा-यमुना आदि तीर्थोंको, कहीं एकादशी आदि व्रत-उपवासको, कहीं सेवा-पूजाको, कहीं निवृत्तिमार्गको, कहीं प्रवृत्तिमार्गको तथा कहीं सत्सङ्ग और स्वाध्यायको ही सर्वोपरि बतलाया गया है अर्थात् भक्तिके प्रकरणमें बतलाया गया है कि उसके समान यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि कुछ भी नहीं है, जिसने एक क्षणमात्र भी परमात्माका ध्यान कर लिया, उसने सब कुछ कर लिया। इसी प्रकार ज्ञान आदिके प्रकरणमें बतलाया गया है।

इन सब प्रकरणोंको देखनेपर परस्पर एक-दूसरेसे विरोध तथा एककी दूसरेकी अपेक्षा श्रेष्ठता एवं उनकी महिमाकी अतिशयता भी प्रतीत होती है, किंतु इसका रहस्य यह है कि शास्त्रोंमें इनकी जो कुछ महिमा बतलायी गयी है, वह अतिशयोक्ति नहीं है; बल्कि उससे भी अधिक महिमा है; क्योंकि जो कुछ कहा जाता है, वह वाणीसे ही कहा जाता है और वाणी परिमितका ही वर्णन कर सकती है। पर वास्तवमें इनकी महिमा अपार और अपरिमित है, इसलिये जो कुछ कहा गया, वह अल्प ही है तथा इनमें जो परस्पर विरोध-सा प्रतीत होता है वह विरोध नहीं है; क्योंकि जिस विषयका जो प्रकरण होता है, उसको उसके उपासकके लिये सर्वोपरि बतलाना उचित ही है। ईश्वरभक्तके लिये भक्तिको सर्वोपरि बतलानेका यही उद्देश्य है कि वह अपनी चित्तवृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर भक्तिके ही परायण हो जाय; नहीं तो एकनिष्ठ भक्ति कैसे हो सकेगी और बिना एकनिष्ठ भक्ति हुए भक्तिका पूर्णतया फल शीघ्र मिलना सम्भव नहीं। भक्तिकी अपेक्षा अन्य साधनोंको न्यून बतलाना दूसरोंकी निन्दाके उद्देश्यसे नहीं है, किंतु भक्तिकी प्रशंसाके लक्ष्यसे ही है तथा यह प्रशंसा न तो मिथ्या है और न अतिशयोक्ति ही है।

इसी प्रकार ज्ञान, योग, तप, तीर्थ, व्रत आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। ज्ञानके साधकके लिये ज्ञान, योगके साधकके लिये योग, तपस्या करनेवालेके लिये तप, तीर्थ करनेवालेके लिये तीर्थ और व्रत करनेवालेके लिये

व्रत ही सर्वोपरि है। जिस साधनकी जो स्तुति की जाती है, वह उससे श्रद्धा-प्रेम और निष्ठा बढ़ानेके लिये ही की जाती है। साधकके लिये उसके साधनमें श्रद्धा-प्रेम और निष्ठा बढ़ानेकी आवश्यकता है और उसके लिये वह उचित भी है। जो जिस साधनको करता है, उसको सर्वोपरि मानकर ही करना चाहिये; क्योंकि सर्वोपरि मानकर करनेसे ही वह साङ्गोपाङ्ग होता है और साङ्गोपाङ्ग होनेसे ही कार्यकी सिद्धि शीघ्र होती है।

४०—श्रीविष्णुपुराणमें श्रीविष्णुको ही सर्वोपरि बतलाया गया और कहा कि संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय श्रीविष्णुसे ही होते हैं। वही साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं, वही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और सर्वश्रेष्ठ हैं, उनसे बढ़कर और कोई नहीं है। इसी प्रकार शिवपुराणमें श्रीशिवको, देवीभागवतमें श्रीदेवीको, गणेशपुराणमें श्रीगणेशको तथा सूर्यपुराणमें श्रीसूर्यको ही सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्,सर्वाधार, पूर्णब्रह्म परमात्मा कहा गया है। इसी प्रकार अन्य सब पुराणोंमें भी इसी तरहका वर्णन आता है। इससे एक-दूसरेमें परस्पर विरोध, एक-दूसरेकी अपेक्षा परस्पर श्रेष्ठता तथा उसकी महिमाकी अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। इसका भाव यह है कि जैसे सतीशिरोमणि पार्वतीके लिये केवल एक श्रीशिव ही सर्वोपरि हैं, उनसे बढ़कर और कोई नहीं और भगवती लक्ष्मीके लिये केवल एक श्रीविष्णु ही सबसे बढ़कर हैं, इसी तरह सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माको लक्ष्यमें रखकर, सभी उपासकोंको परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति हो जाय, इस दृष्टिसे महर्षि वेदव्यासजीने एक-एक देवताको प्रधानता देकर पुराणोंकी रचना की है। प्रत्येक पुराणके अधिष्ठाता देवताके नाम और रूप परमात्माके ही नाम-रूप हैं—यह भलीभाँति समझ लेनेपर उपर्युक्त शङ्का रह नहीं सकती। किसी भी देवताका उपासक क्यों न हो, उस उपासकको पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप सर्वोपरि फल मिलना चाहिये—यह पुराणरचयिताका उद्देश्य बहुत ही उत्तम और तात्त्विक है। प्रत्येक पुराणमें उसीको सर्वोपरि बतलानेका प्रयोजन दूसरेकी निन्दामें नहीं है, किंतु उसकी प्रशंसामें है और उसकी प्रशंसा उस उपासककी उस पुराण और देवतामें श्रद्धापूर्वक एकनिष्ठ भक्ति करानेके उद्देश्यसे ही है और यह उचित भी है। इस प्रकार होनेसे ही साधकका अनुष्ठान साङ्गोपाङ्ग

होकर उसे पूर्ण ब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है।

जितने भी पुराण-उपपुराण हैं, उनके अधिष्ठाता देवताका नाम और रूप (आकृति) भिन्न होते हुए भी लक्ष्य एक पूर्णब्रह्म परमात्माकी ओर रखा गया है; क्योंकि गुण, प्रभाव, लक्षण, महिमा और स्तुति—प्रार्थनाका वर्णन करते हुए प्रत्येक देवताको ब्रह्मका रूप दिया गया है, इसीलिये एक-दूसरे देवताकी स्तुति परस्पर प्रायः मिलती-जुलती आती है, तो स्तुति पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही घटती है। पुराणोंमें जो पुराणोंके अधिष्ठातृ-देवताकी प्रशंसा एवं स्तुति की गयी है, वह अतिशयोक्ति नहीं है, क्योंकि परमात्माकी महिमा अतिशय, अपार और अपरिमित होनेसे उस अधिष्ठाता देवताको परमात्माका रूप देनेपर जितनी भी उसकी महिमा बतलायी जाय, वह अल्प ही है। वाणीके द्वारा जो कुछ कहा जाता है, वह परिमित ही है। अतएव वास्तवमें वाणीद्वारा परमात्माकी महिमा कोई किसी प्रकार भी वर्णन नहीं कर सकता।

आशय यह है कि जो भक्त जिस देवताकी उपासना करता है, उस उपासकको अपने उपास्यदेवको सर्वोपरि पूर्णब्रह्म परमात्मा मानकर उपासना करनी चाहिये। इस प्रकारकी दृष्टि रखकर उपासना करनेसे ही सर्वोपरि सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि सभी नाम और सभी रूप परमात्माके ही होनेसे वह उपासना परमात्माकी ही उपासना है। अतः परमात्माको लक्ष्य करके किसी भी नाम और रूपकी उपासना की जाय, उसका फल एक पूर्णब्रह्म परमात्माकी ही प्राप्ति होती है। इसलिये मनुष्यको अपने इष्टदेवको पूर्णब्रह्म परमात्मा समझकर उसके नामका जप और स्वरूपका ध्यान नित्य-निरन्तर करना चाहिये।

——::o::——

समताकी महिमा

शास्त्रोंमें साधनकालसे लेकर सिद्धिकालपर्यन्त समताकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग—सभीमें समता अवश्य होनी चाहिये। समता ही परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिकी कसौटी है। परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद तो सम्पूर्ण पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंमें सर्वत्र स्वाभाविक ही पूर्णतया समता आ जाती है और साधनकालमें भी जिस साधकमें जितनी समता अधिक है वह उतना ही परमात्माके समीप पहुँचा हुआ है। जिसमें जितनी विषमता है, वह उतना ही दूर है। या यों कहिये, जिस साधकमें जितना राग-द्वेष कम है, उतना ही वह परमात्माके समीप है और जितना राग-द्वेष अधिक है, उतना ही वह परमात्मासे दूर है। इस विषयका गीतामें विशेषरूपसे प्रतिपादन किया गया है। जबतक राग-द्वेष वर्तमान हैं, तबतक कोई भी न तो योगी है, न भक्त है और न ज्ञानी ही है। राग-द्वेषके अभावसे ही कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगकी सिद्धि होती है। कर्मयोगकी सिद्धिके लिये भगवान्‌ने गीतामें स्थितप्रज्ञके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(२।६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

भक्तियोगमें भी राग-द्वेषसे रहित होनेकी बात कही है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

(७।२७-२८)

'हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा (राग) और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं, परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेष-जनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं।'

एवं ज्ञानयोगीके लिये भी भगवान्‌ने राग-द्वेषके त्यागकी बात कही है—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

(गीता १८।५०-५१)

'जो ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य-सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ। विशुद्ध-बुद्धिसे युक्त पुरुष शब्दादि विषयोंका त्याग करके और सात्त्विक धारणा-शक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके तथा राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके (ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है)।'

इतना ही नहीं, जबतक राग-द्वेष विद्यमान हैं, तबतक कोई भी साधन सिद्ध नहीं होता। इसलिये इन दोनोंके अधीन न होनेके लिये भगवान् विशेष जोर देकर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(३। ३४)

'इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।'

क्योंकि जबतक राग-द्वेष है, तबतक विषमता है और जबतक विषमता है, तबतक मनुष्य परमात्मासे बहुत दूर है; अतः परमात्माकी प्राप्तिमें आरम्भसे लेकर अन्ततक समताकी आवश्यकता है। कोई भी साधन क्यों न हो, बिना समताके उस साधनकी सिद्धि नहीं हो सकती। कर्मयोगका साधन बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(२। ४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर; समत्व ही योग कहलाता है।'

भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें भी समताका उल्लेख किया है

(१२।१८-२०) और भक्तियोगके साधकोंके लिये इन्हीं गुणोंके सेवनकी बात कहकर उस साधकको भगवान्‌ने अपना अतिशय प्रिय बतलाया है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(१२।२०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम-प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसी प्रकार ज्ञानयोग (सांख्ययोग) के साधनमें भी समताकी आवश्यकता सिद्ध की है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(२।१५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(१२।३-४)

'परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

साधन करते-करते जब साधकमें समस्त पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंके प्रति पूर्ण समता आ जाती है, तभी वह सिद्ध माना जाता है। पूर्णतया समता आये बिना कोई भी सिद्ध योगी, सिद्ध भक्त या सिद्ध ज्ञानी नहीं समझा

जा सकता।

जहाँ भगवान्‌ने उच्चकोटिके योगीके लक्षण बतलाये हैं, वहाँ सर्वत्र उसकी समता दिखलायी है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६।७-९)

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसा कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

यहाँ शीत-उष्ण, लोष्ट, अश्म, काञ्चन, 'पदार्थ' हैं, सुख-दुःख 'भाव' हैं; मान-अपमान 'क्रिया' हैं और सुहृद्, मित्र, वैरी आदि 'प्राणी' हैं।

जो भक्तिके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं; उनमें भी इसी प्रकार पूर्णतया समता आ जाती है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

(१२।१८)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है (वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है)।

यहाँ शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं, मान-अपमान 'क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

इसी प्रकार जो ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं, उन गुणातीत पुरुषोंमें भी पूर्णतया समता आ जाती है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(१४। २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपने निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

यहाँ भी सुख-दुःख भाव हैं, लोष्ट, अश्म, काञ्चन 'पदार्थ' हैं; निन्दा-स्तुति, मान-अपमान 'क्रिया' हैं, शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं और प्रिय-अप्रिय—ये पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणी सभीके वाचक हैं।

यहाँ दिखलाना यह है कि कर्मयोगी, भक्तियोगी, ज्ञानयोगी—सभी सिद्धोंमें सर्वत्र पूर्ण समता आ जाती है अर्थात् इन सभी-की-सभी पदार्थ,क्रिया,भाव और प्राणियोंमें पूर्णतया समता हो जाती है।

इस संसारमें बहुत-से महापुरुष हुए हैं। उनमें कितने ही तो कर्मयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए हैं, जैसे जनकादि (गीता ३। २०) कितने ही भक्तियोगके द्वारा—जैसे अम्बरीष आदि और कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा—जैसे शुकदेव आदि। इनके चरित्र शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। ज्ञानयोगके द्वारा प्राप्त हुए महापुरुषोंमें जडभरत एक बहुत ही उच्चकोटिके महापुरुष हुए हैं, उनकी जीवनी संसारमें प्रसिद्ध है। ज्ञानयोगके द्वारा गुणातीत पुरुषके जो लक्षण गीता अध्याय १४में २२ से २५ तकके श्लोकोंमें बतलाये गये हैं, वे महात्मा जडभरतमें अक्षरशः पाये जाते थे। श्रीमद्भागवतमें इनकी कथा विस्तारसे आती है। यहाँ संक्षेपमें लिखी जाती है—

आङ्गिरस गोत्रमें उत्पन्न एक सद्गुणसम्पन्न सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण थे। उन्हींके यहाँ जडभरतका जन्म हुआ था। ये 'भरत' नामसे प्रसिद्ध थे, लोकमें जडवत् विचरा करते थे, इसलिये लोग इनको 'जड भरत' कहते थे। कुछ बड़े होनेपर इनके पिताने इनका शास्त्रानुसार उपनयन-संस्कार भी करा दिया। उन्होंने इनको विद्या पढ़ानेकी बहुत चेष्टा की, किंतु ये जान-बूझकर पढ़ना नहीं चाहते थे, इसलिये घरवाले इन्हें पढ़ा नहीं सके। वेद पढ़ानेकी बात तो दूर रही, केवल एक गायत्री मन्त्र भी नहीं पढ़ा सके। थोड़े दिनों बाद इनके पिता परलोक सिधार गये, तब इनकी माता इनको अपनी सौतको सौंपकर अपने पतिके साथ सती हो गयीं! उसके बाद इनकी बड़ी माताके पुत्रोंने इनको पढ़ानेका आग्रह छोड़ दिया और इनकी उपेक्षा-सी कर दी।

तदनन्तर जडभरत उन्मत्तकी भाँति रहने लगे। इन्हें मानापमानका कुछ भी विचार नहीं था। लोग इन्हें पागल, मूर्ख और बधिर कहते तो ये उसे स्वीकार कर लेते थे। कोई भी इनसे काम कराना चाहते तो उनके इच्छानुसार कर दिया करते और उसके बदलेमें जो कुछ भी अच्छा-बुरा भोजन मिल जाता वही खा लिया करते। इन्हें स्वतः सिद्ध केवल विज्ञानानन्दस्वरूप आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी थी; इसलिए मानापमान, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे होने वाले सुख-दुःख आदिमें इन्हें देहाभिमानकी स्फूर्ति नहीं होती थी। ये सरदी, गरमी, वर्षा और आँधीके समय साँड़के समान नंगे पड़े रहते। इनके सम्पूर्ण अङ्ग स्थूल और पुष्ट थे। इनका ब्रह्मतेज पृथ्वीपर लोटने, उबटन न मलने और स्नान न करनेके कारण शरीरपर धूलि जम जानेसे धूलिसे ढके हुए महामूल्य मणिके समान छिपा हुआ था। ये अपनी कमरमें मैला-कुचैला कपड़ा बाँधे रहते थे, इनका यज्ञोपवीत भी बहुत मैला हो गया था। इसलिये अज्ञानी लोग इन्हें 'यह कोई द्विज है,' 'यह अधम ब्राह्मण है' इस प्रकार कहकर तिरस्कार किया करते थे; किंतु ये इसकी कोई परवा न करके स्वच्छन्द विचरा करते थे।

इस तरह दूसरोंकी मजदूरी करके पेट पालते देख इनके भाइयोंने इनको खेतकी क्यारियाँ ठीक करनेमें लगा दिया तो ये उस कार्यको भी करने लगे। परंतु इन्हें इस बातका कुछ भी ध्यान नहीं था कि उन क्यारियोंकी भूमि समतल है या

ऊँची-नीची अथवा वह छोटी है या बड़ी। इनके भाई इन्हें चावलकी कनी, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा बरतनोंमें लगी हुई अनाजकी खुरचन आदि जो कुछ भी दे देते उसीको ये अमृतके समान समझकर खा लिया करते थे।

एक समय डाकुओंके एक सरदारने पुत्रकी कामनासे भद्रकालीको मनुष्यकी बलि देनेका निश्चय किया। दैववश उसके नौकरोंने आङ्गिरसगोत्रीय ब्रह्मकुमार जडभरतको इसके लिये पकड़ लिया और रस्सियोंसे बाँधकर इन्हें देवीके मन्दिरपर ले आए। फिर रस्सी खोलकर इन्हें विधिपूर्वक स्नान करा वस्त्राभूषण पहनाये और नाना प्रकारके चन्दन, माला, तिलक आदि लगाकर विभूषित किया। इसके बाद भोजन कराकर बलिदानके उद्देश्यसे धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अंकुर, फल और नैवेद्य आदि सामग्रीके सहित पूजा करके गान, स्तुति और मृदङ्ग-ढोल आदिका महान् शब्द करते हुए इनको भद्रकालीके सामने नीचा सिर कराकर बैठा दिया। तदनन्तर दस्युराजके तामसी पुरोहितने उस नर-पशुके रुधिरसे देवीको तृप्त करनेके लिये देवी-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित एक तेज तलवार उठायी। इन साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हुए, वैरहीन, समस्त प्राणियोंके सुहृद् ब्रह्मर्षिकुमार जडभरतकी बलि देते देखकर देवी भद्रकालीके शरीरमें जडभरतके दुःसह ब्रह्मतेजसे दाह होने लगा और वे एकाएक मूर्तिमेंसे प्रकट हो गयीं। उन्होंने पुरोहितके हाथसे अभिमन्त्रित तलवारको छीन लिया और उसीसे उन सारे मनुष्यघातक पापियोंके सिर उड़ा दिये। सच है, महापुरुषोंके प्रति किया हुआ अत्याचाररूप अपराध इसी प्रकार ज्यों-का-त्यों अपने ही ऊपर पड़ता है। उस समय देहाभिमानशून्य, समस्त प्राणियोंके सुहृद्, वैरहीन, भगवत्- शरणापन्न, महात्मा जडभरतको अपने सिर कटनेका अवसर आनेपर भी किसी प्रकारकी व्याकुलता नहीं हुई—वस्तुतः इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

एक बार सिन्धुसौवीर देशके राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये कपिलदेवजीके आश्रमपर जा रहे थे। रास्तेमें इक्षुमती नदीके किनारे पहुँचनेपर एक कहारकी और आवश्यकता पड़ी। तब कहारोंके जमादारने जडभरतको पालकी ढोनेयोग्य हृष्ट-पुष्ट और जवान देखकर बलात्कारसे पालकीमें लगा दिया। महात्मा भरतजी बिना कुछ प्रतीकार किये चुपचाप पालकी ढोने लगे।

कोई जीव पैरोंतले न दब जाय, इस बातका ख्याल करके वे धरतीको देखते हुए पग धर रहे थे। इससे दूसरे कहारोंके साथ उनकी चालका मेल नहीं बैठा। पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी; अंदर बैठे राजाको धक्के-से लगने लगे। तब राजाने कहा—'अरे कहारो! अच्छी तरह चलो, पालकीको इस प्रकार ऊँची-नीची क्यों करते हो?' इसपर कहारोंने कहा कि 'हम तो ठीक चल रहे हैं; यह जो नया कहार है, यही ठीक नहीं चलता, इसीके कारण पालकी ऊँची-नीची हो रही है।'

इसपर राजाको क्रोध आ गया। उन्होंने जडभरतको ठीक चलनेके लिये कहा; किंतु जडभरतने मानो कुछ सुना ही नहीं। अपनी उसी चालसे चलते रहे। राजाने पुनः क्रोधपूर्वक कहा—'अरे, क्या तू जीता ही मर गया? तू जानता नहीं, मैं तेरा स्वामी हूँ? तू मेरा निरादर करके इस प्रकार मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है! अच्छा, मैं तेरा अभी इलाज किये देता हूँ। तब तेरे होश ठिकाने आ जायँगे।'

राजा रहूगण वैसे बुद्धिमान् तथा सत्-हृदयके पुरुष थे; परंतु क्रोध और अभिमानवश उन्होंने बहुत-सी अनाप-शनाप बातें कहीं और जडभरतका बड़ा तिरस्कार किया। किंतु राजाका ऐसा कपट-व्यवहार देखकर भी सभी प्राणियोंके सुहृद् ब्रह्मभूत जडभरतके मनमें कुछ भी विकार नहीं हुआ। वे मुसकराते हुए बोले—'राजन्! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह ठीक ही है, किंतु मेरा इस शरीरसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मुझे न तो भार ढोनेका क्लेश है और न मार्ग चलनेका परिश्रम ही। स्थूलता, कृशता, आधि-व्याधि, भूख-प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक—ये सब देहाभिमानी जीवमें रहते हैं, मुझमें तो इनका लेश भी नहीं है। राजन्! तुमने जो जीने-मरनेकी बात कही, सो जितने भी विकारी पदार्थ हैं, उन सभीमें नियमितरूपसे ये दोनों बातें देखी जाती हैं, क्योंकि वे सभी आदि-अन्तवाले हैं। राजन्! जहाँ स्वामी-सेवकभाव स्थिर हो, वहीं आज्ञापालनादिका नियम भी लागू हो सकता है। तुम्हारे और मेरे बीचमें तो यह सम्बन्ध है नहीं। परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो किसे स्वामी कहें और किसे सेवक? फिर भी यदि तुम्हें स्वामित्वका अभिमान है तो कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ? राजन्! मैं तो उन्मत्त और जड़के समान अपनी ही स्थितिमें रहता हूँ, फिर मेरा

इलाज करके तुम्हें क्या हाथ लगेगा ? यदि मैं वास्तवमें जड और प्रमादी ही हूँ तो भी मुझे शिक्षा देना पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ ही है।'

इस प्रकार कहकर जडभरत मौन हो गये। उनका अज्ञान सर्वथा नष्ट हो चुका था, इसलिये वे परम शान्त हो गये थे। उन्होंने भोगद्वारा प्रारब्धका क्षय करनेके लिये फिर पालकी उठा ली, किंतु राजा रहूगण उनके हृदयग्रन्थिका छेदन करनेवाले शास्त्रसम्मत उपदेशको सुनकर उत्तम श्रद्धाके कारण तत्काल पालकीसे उतर पड़े और उनके चरणोंपर सिर रखकर अपना अपराध क्षमा कराते हुए बोले—'देव ! आपने द्विजोंका चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रक्खा है; बतलाइये, इस प्रकार गुप्तरूपसे विचरनेवाले आप कौन हैं ? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतोंमेंसे कोई हैं ? आपका जन्म कहाँ हुआ है और यहाँ कैसे पधारे हैं ? मैं तो योगेश्वर भगवान् कपिलसे यह पूछने जा रहा था कि इस लोकमें एकमात्र शरण लेने योग्य कौन हैं ? आप वे कपिलमुनि ही तो नहीं हैं ?'

इसपर जडभरतजीने अपना परिचय देते हुए कहा—'मैं पूर्वजन्ममें 'भरत' नामका राजा था। मैं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण विषयोंसे विरक्त होकर भगवान्‌की आराधनामें ही लगा रहता था, तो भी एक मृगमें मेरी आसक्ति हो जानेसे मुझे परमार्थसे भ्रष्ट होकर दूसरे जन्ममें मृग बनना पड़ा। किंतु भगवान्‌की आराधनाके प्रभावसे उस मृगयोनिमें भी मेरी पूर्वजन्मकी स्मृति लुप्त नहीं हुई। इसीलिये अब इस ब्राह्मणयोनिमें मैं जन-संसर्गसे डरकर सर्वदा असङ्गभावसे गुप्तरूपमें ही विचरता रहता हूँ। मनुष्यको विरक्त महापुरुषोंके सत्सङ्गसे प्राप्त ज्ञानरूप तलवारके द्वारा इस लोकमें ही अपने मोह-बन्धनको काट डालना चाहिये, फिर श्रीहरिकी लीलाओंके कथन और श्रवणसे भगवत्स्मृति बनी रहनेके कारण वह सुगमतासे ही संसारमार्गको पार करके भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। रहूगण ! तुम भी इस संसार-मार्गमें भटक रहे हो; इसलिये अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद् हो जाओ और विषयोंमें अनासक्त होकर भगवत्सेवासे तीक्ष्ण किये हुए ज्ञानके द्वारा इस मार्गको पार कर लो।'

इस तरह उन परम प्रभावशाली स्वाभाविक दयालु ब्रह्मर्षिपुत्र जडभरतजीने अनेकों युक्तियोंद्वारा शङ्का-समाधान करते हुए सिन्धु-नरेश रहूगणको आत्मतत्त्वका

उपदेश किया। तब राजा रहूगणने दीनभावसे उनके चरणोंकी वन्दना की। महात्मा भरतजीके सत्सङ्गसे उनको भी परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया। फिर महात्मा जडभरतजी परिपूर्ण समुद्रके समान शान्तचित्त और उपरतेन्द्रिय होकर पृथ्वीपर विचरने लगे।

महात्मा जडभरतके इतिहासमें गुणातीत महापुरुषके लक्षण अक्षरशः घटते हैं। यहाँ केवल गीताके चौदहवें अध्यायमें वर्णित २४वें, २५वें श्लोकोंके भावोंका इनके जीवनमें दिग्दर्शन कराया जाता है।

देवी भद्रकालीके सामने जडभरतजीकी बलि देनेके लिये जब पुरोहित तलवारसे इन्हें मारने लगा, तब तो इन्हें कोई दुःख नहीं हुआ और देवीने प्रकट होकर इनपर अत्याचार करनेवालोंको मार डाला, तब इनको कोई प्रसन्नता नहीं हुई। ये अपने आत्मस्वरूपमें स्थित थे और इनको सुख-दुःख सभी समान थे। जब-जब इन्हें सुख-दुःखका अवसर प्राप्त हुआ, तब-ही-तब ये अपने आत्मामें अटल स्थित रहे और सुख-दुःखादि विकारोंसे विचलित नहीं हुए, क्योंकि ये 'समदुःखसुखः स्वस्थः' थे।

दूसरे लोग इनसे काम करवाकर जो कुछ दे दिया करते, उसीको लेकर ये संतुष्ट हो जाया करते थे। इनके लिये पत्थर, मिट्टी और सोना सब समान था, क्योंकि ये 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' थे।

राजा रहूगणने इनके साथ पहले अप्रिय (प्रतिकूल) व्यवहार किया और फिर इनको पहचान लेनेपर प्रिय (अनुकूल) व्यवहार किया। किन्तु महात्मा जडभरतजीको न तो प्रतिकूल व्यवहारसे शोक हुआ और न अनुकूलसे हर्ष ही। ये आत्मज्ञानको प्राप्त कर चुके थे, इसलिये सर्वथा निर्विकार, सम और स्थिरचित्त रहे; क्योंकि ये 'तुल्यप्रियाप्रियो धीरः' थे।

राजा रहूगणने पहले इनकी बहुत प्रकार निन्दा की और पहचान लेनेपर इनकी बड़ी स्तुति की; किंतु महात्मा जडभरतके चित्तमें उस निन्दासे तो कोई दुःख नहीं हुआ और स्तुतिसे कोई प्रसन्नता नहीं हुई; क्योंकि ये 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' थे।

दस्युराजके नौकर पहले जडभरतजीको रस्सियोंसे बाँधकर देवीके मन्दिरमें ले गये और बादमें बलि देनेके लिये इनको वस्त्राभूषण पहनाकर धूप, दीप, नैवेद्य आदिसे इनकी पूजा की, किंतु रस्सी आदिसे बाँधनेके अपमानसे तो इनको

कोई दुःख नहीं हुआ तथा वस्त्राभूषण और धूप-दीप आदिके द्वारा पूजा-सम्मान करनेपर कोई सुख नहीं हुआ; क्योंकि ये तो 'मानापमानयोस्तुल्यः' थे।

दस्युराजने इनको बलि देनेका निश्चय करके वैरीका काम किया और देवी भद्रकालीने इनके प्राण बचानेके लिये बलि देनेवाले शत्रुओंको मारकर मित्रका काम किया। किंतु जडभरत न तो मारनेवालोंपर रुष्ट हुए और न बचानेवाली देवीपर प्रसन्न ही हुए; क्योंकि ये 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' थे।

इसके अतिरिक्त, जडभरतजीद्वारा जो कोई भी क्रिया होती थी, उसमें अभिमानका लेशमात्र भी नहीं रहता था। इनके भाई इन्हें खेतकी रखवालीके लिये या खेतोंकी क्यारियोंकी भूमि समतल करनेके लिये लगा देते थे तो ये निरभिमानतापूर्वक उनके इच्छानुसार किया करते थे और इसी प्रकार दूसरे लोग भी जो काम कराते उनके इच्छानुसार कर दिया करते थे। इतना ही क्यों , दस्युराजके नौकर जब इन्हें बाँधकर ले गये तब भी इन्होंने कोई आपत्ति नहीं की और राजाके आदमी पकड़कर ले गये तथा बलात् पालकीमें लगा दिया। तब भी ये निरभिमानतापूर्वक पालकीको ही बड़ी प्रसन्नतासे ढोने लगे। इनकी क्रियामें कहीं भी किञ्चिन्मात्र भी कर्तापनका अभिमान नहीं था, क्योंकि ये 'सर्वारम्भपरित्यागी' थे।

गीताके चौदहवें अध्यायमें भगवान्ने 'गुणातीतः स उच्यते' (१४।२५) कहकर जो गुणातीतके लक्षण बतलाये हैं, वे सभी महात्मा जडभरतजीमें अक्षरशः घटते थे। ऊपर जो चौदहवें अध्यायके २४वें और २५वें श्लोकोंके भावोंका इनके जीवनमें दिग्दर्शन कराया गया है, इसी प्रकार २२वें और २३वें श्लोकोंमें वर्णित लक्षण भी इनमें घटा लेने चाहिये।

इस उपाख्यानपर निवृत्तिप्रिय ज्ञानमार्गी साधकोंको विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये। उन्हें गुणातीत अवस्था प्राप्त करनेके लिये महात्मा जडभरतजीको आदर्श मानकर उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये।

कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदि साधन करनेवाले सभी कल्याणकामी भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि समस्त पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंसे पूर्णतया समता प्राप्त करनेके लिये प्रारम्भसे ही समभावको लक्ष्यमें रखते हुए राग-द्वेषसे रहित हो तत्परतापूर्वक साधनकी चेष्टा करनी चाहिये।

——::०::——

आत्मा और परमात्माका रहस्य एवं सिद्धान्त

प्रश्न—आत्मा और परमात्मा एक हैं या इनमें कुछ अन्तर है ?

उत्तर—यह बहुत ही तात्त्विक और रहस्यकी बात है। वास्तवमें इस विषयमें कुछ भी कहना नहीं बनता। फिर भी इस सम्बन्धमें सभी आचार्योंने अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार अपने अलग-अलग सिद्धान्त प्रकट किये हैं। भक्तिसिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा अलग-अलग हैं; परमात्मा तो जीव और जीव परमात्मा नहीं बन सकता। जातिसे एक होकर भी स्वरूपसे भिन्न-भिन्न हैं। अद्वैतसिद्धान्तसे जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। घटाकाश और महाकाशकी तरह जीवात्मा और परमात्मा शरीरकी उपाधिके कारण पृथक्-पृथक् दीखते हैं, वास्तवमें एक ही हैं। यहाँ महाकाशकी-ज्यों परमात्मा और घटाकाशकी-ज्यों जीवात्माको समझना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने जीवात्माको अपना अंश बतलाया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(१५।७)

'इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही इन प्रकृतिमें

स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

जिस प्रकार जीवात्माके सम्बन्धमें विभिन्न आचार्योंके अपने अलग-अलग मत हैं, उसी प्रकार ईश्वरके सम्बन्धमें भी आचार्योंकी अलग-अलग मान्यताएँ हैं; परन्तु वास्तवमें जो बात है उसको जबतक साधक परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर लेता, तबतक नहीं समझ सकता। संसारमें जितने भी शास्त्रानुकूल मत-मतान्तर तथा सम्प्रदाय हैं, उन सभीका कथन युक्तिसङ्गत और शास्त्रसम्मत है। वेदों तथा उपनिषदोंमें भी इस सम्बन्धमें अलग-अलग मत प्रकट किये गये हैं। कोई भेदका * प्रतिपादन करते हैं तो कोई अभेदका † । इसी प्रकार गीतामें भी कहीं जीव ईश्वरको भिन्न बतलाया है (देखिये गीता, पंद्रहवें

---

* मुण्डकोपनिषद्में बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(३।१।१)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) पर रहते हैं; उन दोनोंमें एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।'

श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥
(४।१०)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये; उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारणकार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।'

† ईशावास्योपनिषद्में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

अध्यायका सातवाँ श्लोक और अठारहवें अध्यायका इकसठवाँ श्लोक) एवं कहीं जीव-ईश्वरकी एकताका प्रतिपादन किया गया है (देखिये गीता, तेरहवें अध्यायका तीसवाँ श्लोक और अठारहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)। भगवान्‌ने गीतामें जो दो निष्ठाएँ बतलायी हैं; इन दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत प्रायः सभी मत-मतान्तर आ जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(६-७)

'परंतु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता—सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे?'

'जिस स्थितिमें आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सब प्राणी आत्मा ही हो जाते हैं, उस स्थितिमें फिर एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस महापुरुषको कहाँ मोह और कहाँ शोक है। अर्थात् सबमें एक विज्ञान आनन्दमय परब्रह्म परमात्माका अनुभव करनेवाले महात्माके शोक-मोह आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।'

माण्डूक्योपनिषद्‌के दूसरे मन्त्रमें बतलाया है—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

'क्योंकि यह सब-का-सब जगत् परब्रह्म परमात्मा है तथा जो यह चार चरणोंवाला आत्मा है, वह आत्मा भी परब्रह्म परमात्मा है।'

बृहदारण्यकोपनिषद्‌में भी कहा है—

तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदँ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाँ स भवति। (१।४।१०)

'उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सब हो जाता है। उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।'

छान्दोग्योपनिषद्‌में भी कहा है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।
(३।१४।१)

'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है; इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय उस ब्रह्मसे ही है। इस प्रकार समझकर शान्तचित्त हुआ उपासना करे।'

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(३।३)

'हे निष्पाप ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।'

अर्थात् एक भेद और दूसरी अभेद-उपासना है।

भेद-उपासनाको भक्तिमार्ग कहते हैं, इसमें जीवको उपासक और परमात्माको उपास्य समझा जाता है। भेद-उपासनाके भी कई भेद हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारके साधक भगवान्‌के श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, श्रीविष्णु आदि विभिन्न स्वरूपोंकी उपासना करते हैं। ये सभी साधक अपने-अपने उपास्यदेवको पूर्ण ब्रह्म परमात्मा मानते हैं और परमात्माके सब लक्षण उनमें समझते हैं तथा उनके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका होना भी मानते हैं। जिस प्रकार एक ही जलको लोग नीर, अप्, तोय, अम्बु, पानी, वाटर आदि विभिन्न नामोंसे कहते हैं, उसी प्रकार श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु, श्रीशिव, श्रीदुर्गा, श्रीगणेश, श्रीसूर्य, श्रीहरि, परमेश्वर, ॐ, गॉड, अल्लाह, खुदा—ये सब एक परमात्माके ही वाचक हैं। वस्तुतत्त्व एक ही है, विभिन्न सम्प्रदायके लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे उसकी उपासना करते हैं। इसी प्रकार विभिन्न उपासक उस परमात्माके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी उपासना करते हैं। कोई साकारकी उपासना करते हैं कोई निराकारकी। साकारमें भी कोई द्विभुज तो कोई चतुर्भुजकी; और कोई अनेकभुज परमेश्वरकी ही उपासना करते हैं। उस एक ही परमात्माको कोई पुँलिङ्ग, कोई स्त्रीलिङ्ग और कोई नपुंसकलिङ्ग मानकर उपासना करते हैं। सभी सम्प्रदायके लोग अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार भगवान्‌के भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी

एवं—

सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्। (६।२।१)

'हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् (ब्रह्म) ही था।'

श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं, किंतु उपासकों या साधकोंके द्वारा जो कुछ भी वर्णन किया जाता है, वह सब मिलकर भी उस परमात्माके स्वरूपके एक अंशका भी वर्णन नहीं होता। वास्तवमें उस परमात्माके पूर्ण स्वरूपका वर्णन कोई कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह अनिर्वचनीयस्वरूप है। बिना प्राप्त किये परमात्माके वास्तविक स्वरूपको कोई भी नहीं जान सकता। उसे तो प्राप्त होनेपर ही समझा जा सकता है। वह मन और वाणीका विषय नहीं है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(तैत्तिरीय॰ २।९।१)

'मनसहित वाणी आदि इन्द्रियाँ जिस परमात्माके पास न पहुँचकर लौट आती हैं।'

मान लीजिये, कुछ साधक भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं, पर वे साधक भगवान् श्रीकृष्णके भी अलग-अलग स्वरूपोंकी ही उपासना करते हैं। एक मनुष्य भगवान्की बाल्यावस्थाका यानी तीन वर्षकी आयुवाले लड्डूगोपालजीके स्वरूपका ध्यान करता है, तो एक दूसरा साधक ग्यारह वर्षकी आयुवाले मुरलीधर श्रीकृष्णका ध्यान करता है और एक तीसरा मनुष्य प्रौढ़ावस्थाके पार्थ-सारथि श्रीकृष्णका ध्यान करता है—ये तीनों ही एक ही भगवान् श्रीकृष्णके तीन तरहके स्वरूपका ध्यान करते हैं। इनमें भी कई अवान्तर भेद और होते हैं। मान लीजिये, ग्यारह वर्षकी आयुवाले मुरलीधारी स्वरूपका एक हजार साधक ध्यान करते हों, वे सभी साधक चित्रकार हों और उन्हें अपने इष्टदेवके स्वरूपका चित्र बनानेको कहा जाय तो सभीके चित्रोंमें कुछ-न-कुछ भिन्नता होगी यानी वे एक हजार प्रकारके चित्र होंगे, क्योंकि सभी अपने-अपने भावके अनुसार भगवान्के स्वरूपको ध्यानमें रखकर उनकी उपासना करते हैं, इसलिये उनके चित्र भी एक-दूसरेसे भिन्न होंगे। वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्णका असली स्वरूप कैसा है ? इसको कोई भी साधक नहीं जान सकता, जबतक कि भगवान्का साक्षात्कार न कर लिया जाय। इसी प्रकार भक्तोंके उपासनाके भाव भी अनेक हैं। कोई स्वामी-सेवकभावसे उपासना करते हैं, तो अन्य कोई वात्सल्य, सख्य, माधुर्य आदि अलग-अलग भावोंसे उपासना करते हैं। माता

यशोदाका भगवान् श्रीकृष्णमें वात्सल्यभाव है, हनुमान्‌जीका श्रीरामके प्रति दास्यभाव है तथा सुग्रीवका सख्यभाव है; एवं श्रीराममें सीताजीका और श्रीकृष्णमें रुक्मिणीजीका माधुर्यभाव है। इस प्रकार भेद-उपासना अनेक तरहके भावोंसे की जाती है।

इसी प्रकार निर्गुण-निराकार परमात्माकी अभेद-उपासनाके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। अभेद-उपासनामें साधनकालमें जीवात्मा और परमात्मामें भेद प्रतीत होता है किंतु वास्तवमें भेद नहीं है। घटाकाश और महाकाशकी भाँति शरीरकी ही उपाधिके कारण जीवात्मा और परमात्मा पृथक्-पृथक् दीखते हैं; किंतु वास्तवमें एक ही हैं। इस प्रकारकी अभिन्नताकी मान्यतापूर्वक की जानेवाली उपासनाको अभेदोपासना कहते हैं। इसमें भी कई प्रकारके भावोंके भेद होते हैं। एक ही 'सच्चिदानन्दघन'के उच्चारणसे विभिन्न साधकोंके मन-बुद्धिमें अलग-अलग भाव और स्वरूपका निश्चय होता है। किसीका भी भाव एक-दूसरेके साथ सर्वथा नहीं मिल सकता। परंतु इस नामके उच्चारण करनेपर साधकोंके मनमें जो भी भाव और स्वरूप पैदा होता है, उसीको लक्ष्य मानकर साधक अपने साधनकी सिद्धिके लिये ध्यान करता है और उसके फलस्वरूप परमात्माको प्राप्त करता है; किंतु वास्तवमें तर्ककी दृष्टिसे विचारा जाय तो किसी भी साधकका लक्ष्य यथार्थ नहीं कहा जा सकता। परंतु श्रद्धापूर्वक उपासनाकी दृष्टिसे सभीका लक्ष्य यथार्थ है; क्योंकि उसका परिणाम परमात्माका साक्षात्कार करानेवाला है। वास्तविक स्वरूपका ज्ञान तो साधकको जब साधन करते-करते परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तभी होता है। भेदोपासनामें भी बिना भगवत्साक्षात्कार हुए वास्तविक स्वरूपका पता नहीं लग सकता।

इसके लिये हम परमेश्वरसे इस प्रकार कह सकते हैं कि 'या तो आपको प्रथम ही साधकको असली स्वरूपका दर्शन देकर इस प्रकारका नियम बतला देना चाहिये कि इतने वर्षोंतक मेरे इस स्वरूपका ध्यान करनेसे मेरी प्राप्ति होगी, अथवा आपको अपना असली छायाचित्र भेज देना उचित है ताकि यह पता लग जाय कि आपका वास्तविक स्वरूप यही है, अथवा अपने यथार्थ स्वरूपका ज्ञान साधकको करा देना चाहिये कि मेरा वास्तविक स्वरूप यह है। ऐसा न करनेपर

तो जो साधक आप (भगवान्)का लक्ष्य करके आपके नामपर आपके जिस किसी स्वरूपका ध्यान करता है, उसीके लिये आपको बाध्य होकर यह मानना पड़ेगा कि यह मेरे असली स्वरूपका ही ध्यान कर रहा है।' वस्तुतः भक्तोंकी भावनाके अनुसार परमेश्वर ऐसा ही मानते हैं और इस न्यायसे भगवान्के नामपर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनके किसी भी स्वरूपको लक्ष्य करके साधन करनेवालेको भगवत्प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि आचार्यों एवं शास्त्रोंके बतलाये हुए मार्गोंके अनुसार साधन करनेके सिवा साधकके लिये अन्य कोई उपाय भी नहीं है। अतः शास्त्रोंमें विश्वास रखकर तदनुसार उपासना करनी चाहिये। वास्तवमें परमात्माके भेद-अभेद, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण आदि किसी भी स्वरूपका शास्त्रोंमें पढ़कर, आचार्यों और संत-महात्माओंके द्वारा सुनकर या गीताके आधारपर जो लक्ष्य बनाया जाता है, उसकी अपेक्षा वह परमात्माका स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। परमात्माका साक्षात्कार किये बिना साधनावस्थामें किसी भी उपायके द्वारा किसी तरह भी उसके वास्तविक स्वरूपको कोई समझ ही नहीं सकता। परंतु उपाय क्या किया जाय? उसके लिये भगवान् कहते हैं कि जो मेरे नामपर व्यक्त-अव्यक्त, भेद-अभेद, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, जिस किसी भी स्वरूपको लक्ष्य बनाकर मेरा ध्यान करेगा, उस साधकको उसके भावके अनुसार मेरे स्वरूपकी प्राप्ति निश्चय होगी, यह बात भगवान्के 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (गीता ४। ११) वचनसे भी ध्वनित होती है।

इस समस्त कथनका सार यह है कि भक्तिके सिद्धान्तसे जीव अंश है और परमात्मा अंशी—इस प्रकार एक जातिके होकर भी वे स्वरूपसे भिन्न माने गये हैं। अद्वैतके सिद्धान्तसे आत्मा और परमात्मा एक ही माने गये हैं; भ्रमसे ही वे अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वास्तवमें एक ही हैं। साधकको अपनी मान्यताको सिद्धान्तका ही रूप देना चाहिये, क्योंकि सिद्धान्तका रूप दिये बिना उच्चकोटिकी साधना नहीं हो सकती। वास्तवमें साधकोंके द्वारा साधनके लिये माने जानेवाले सभी सिद्धान्त मान्यता ही हैं, असली सिद्धान्त (असली वस्तु) एक ही है, जो मन-वाणीका विषय ही नहीं है और केवल परमात्मप्राप्ति होनेपर ही अनुभवमें आ

सकता है। इसके सिवा उसको समझनेका कोई उपाय भी नहीं है। साधक भेद या अभेद जिस-किसी भी मान्यताके अनुसार परमात्माके स्वरूपको मनसे लक्ष्य करके उपासना करता है, प्रथम उसीके अनुसार ही साधकको परमात्माकी प्राप्ति होती है। फिर, उसके लक्ष्य और मान्यताके अनुसार परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके बाद परमात्माके असली तत्त्व और असली स्वरूपका ज्ञान साधकको हो जाता है, जिसे अमृत कहते हैं। वह वाणीका विषय नहीं है। वह अचिन्त्य है। उसे बुद्धि भी ग्रहण नहीं कर सकती। परमात्माकी शक्ति पाकर बुद्धि जिस स्वरूपका निर्णय करती है, वह परमात्माका बुद्धिविशिष्ट स्वरूप ही है; क्योंकि इन्द्रिय और अन्तःकरण उस वास्तविक स्वरूपकी थाह नहीं पा सकते। जिस प्रकार शीशेमें आकाशका प्रतिबिम्ब पूर्णतया आ ही नहीं सकता—क्योंकि आकाश अनन्त है और शीशा अल्प है, उसी प्रकार परमात्मा अनन्त हैं और बुद्धि अल्प है; अतः उनका वह वास्तविक स्वरूप बुद्धिगम्य नहीं है।

भक्तिमार्गके आचार्य—श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि सभीके मतोंमें भक्तिमार्गके प्रकारमें एक दूसरेसे कुछ-न-कुछ भेद मिलता ही है। फिर भी सभी आचार्योंने सिद्धान्ततः जीवात्मा और परमात्माको अलग-अलग ही माना है एवं अद्वैतके आचार्य—श्रीशङ्कराचार्य आदिके मतमें भी जीवात्मा और परमात्माकी एकताके सम्बन्धमें एक-दूसरेकी अपेक्षासे प्रकारभेद मिलते हैं, किंतु अन्तमें सभीने जीवात्मा और परमात्माको एक ही माना है। वास्तवमें जीवात्मा और परमात्मामें भेद है भी और नहीं भी। जिन साधकोंकी श्रद्धा भक्तिमार्गमें है, उनके लिये परमात्मा और जीवात्मामें भेद है और अद्वैतके साधकोंकी दृष्टिमें अभेद है। वास्तवमें ये दो प्रकारके साधनके मार्ग हैं। इन दोनों प्रकारके साधनोंका फल एक ही होता है। परमात्मा भेद और अभेद-दोनोंसे विलक्षण है और दोनों स्वरूपवाला भी है। इसलिये दोनों ही साधन ठीक हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि तो फिर वास्तवमें सत्य क्या है, तो इसका उत्तर यह है कि इसके यथार्थ स्वरूपको साधक परमात्माका साक्षात्कार करनेपर ही समझ सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह भेद-अभेदसे विलक्षण है। वह मन-वाणीसे समझने-समझानेकी चीज नहीं है। अतः जिस साधकको भेद और अभेद—इन

दो मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें विशेष श्रद्धा और रुचि हो, उसे उसीके अनुसार साधन करते रहना चाहिये; क्योंकि उसके लिये वही विशेष लाभप्रद है। दोनों ही मार्ग शास्त्रसम्मत, युक्तियुक्त एवं परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं। इन साधनोंसे परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके बाद वास्तविक पदार्थ क्या है, यह स्वतः समझमें आ जाता है।

वास्तवमें इस अलौकिक विलक्षण अकथनीय तत्त्वका शास्त्रों तथा आचार्योंके द्वारा पूर्णतया तो वर्णन हो ही नहीं सकता। शास्त्रों और आचार्योंने जो कुछ भी कहा है, वह सभी साधन है एवं निश्चितरूपसे परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। किंतु ये सब साधन जिस लक्ष्य (परमार्थ) तक साधकको पहुँचाते हैं, वह लक्ष्य मन-वाणीका विषय नहीं है; वह तो अनुभवगम्य है; परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेके बाद ही समझमें आता है। शास्त्रों तथा आचार्योंने भेद और अभेद—दोनों ही उपासनाओंको माना है और दोनोंको ही उच्च कोटिके साधन बतलाया है। हम सभी सम्प्रदायोंका आदर करते हैं और उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह सभी परमार्थमें हेतु होनेके कारण शाखाचन्द्रन्यायकी तरह सत्य है। इन सभी साधनोंके परिणामस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होनेपर जो अनुभव होता है, वह सबसे अलौकिक और विलक्षण है। वही वास्तविक स्वरूप है। आचार्यों और शास्त्रोंने जो कुछ भी बतलाया है, उसको इस न्यायसे ठीक समझ लिया जाता है कि साधक यदि श्रद्धाविश्वासपूर्वक उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार आचरण करे तो उसके फलस्वरूप उसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है।

अब शाखाचन्द्रन्याय क्या है; यह समझाया जाता है। मान लीजिये, आकाशमें द्वितीयाका चन्द्रमा उदय हुआ है। उसको एक आदमीने तो देख पाया है और एक दूसरे आदमीको वह नहीं दीख रहा है। तब जिसको चन्द्रमा दृष्टिगोचर हो रहा है वह अङ्गुल्यानिर्देशसे दूसरेको बतलाता है कि 'वह देखो' उस वृक्षकी शाखाके एक हाथ ऊपर चन्द्रमा है।' जब वह मनुष्य उसके बतलाये हुए निर्देशके अनुसार दृष्टिपात करता है, तब उसे भी चन्द्रमा दृष्टिगोचर हो जाता है। परंतु वास्तवमें क्या चन्द्रमा उस पेड़से एक हाथ ही ऊपर है?

कभी नहीं। इसी प्रकार वह एक दूसरे भाईको बतलाता है कि 'देखो चन्द्रमा इस मकानके कोनेसे सटा हुआ है।' उसके कथनानुसार चेष्टा करनेसे उसे भी चन्द्रमाका दर्शन हो जाता है; परंतु वास्तवमें क्या चन्द्रमा उस मकानसे सटा हुआ है ? कभी नहीं। इसी प्रकार वह एक तीसरे भाईको कहता है कि 'देखो, उस उड़ते हुए पक्षीके दोनों पंजोंके बीचमें चन्द्रमाके दर्शन करो तो वह भाई उस पक्षीके पंजोंमेंसे देखता है और उसे चन्द्रमा दीख जाता है। किंतु क्या वास्तवमें चन्द्रमा उस पक्षीके पंजोंके बीचमें है ? कभी नहीं। इससे यह समझना चाहिये कि यद्यपि शब्दोंका अर्थ तो गलत है; परंतु उससे कार्य-सिद्धि यथार्थमें हो जाती है। इसी प्रकार शास्त्रकथित तथा आचार्योंद्वारा प्रतिपादित सभी साधन तर्ककी कसौटीपर कसनेसे दोषयुक्त सिद्ध होते हुए भी परिणाममें परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे यथार्थ हैं। जिस प्रकार चन्द्रदर्शनके उत्सुक मनुष्यको चन्द्रमाके दर्शन करानेवालेकी बात मानकर तदनुसार चेष्टा करनेसे चन्द्रमाके दर्शन हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌के दर्शनोत्सुक व्यक्तिको भी शास्त्रों या आचार्योंके कथनानुसार श्रद्धापूर्वक साधन करनेपर भगवत्साक्षात्कार हो सकता है। जिस प्रकार अङ्गुल्यानिर्देशसे बतलानेवाला मनुष्य केवल इतना ही निर्देश करा सकता है कि चन्द्रमा अमुक पेड़से एक हाथ ऊँचा या अमुक मकानके कोनेसे सटा हुआ है, उसी प्रकार आचार्य तथा शास्त्रादि भी भेद-अभेदकी उपासनाद्वारा परमात्माका लक्ष्य करा सकते हैं; किंतु यह बात निश्चित है कि जबतक मनुष्य परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेता तबतक वह यह नहीं समझ सकता कि वास्तवमें परमात्माका स्वरूप कैसा है।

अब इसको एक और उदाहरणद्वारा स्पष्ट किया जाता है। थोड़ी देरके लिये मान लें कि पृथ्वीलोकका कोई एक मनुष्य पृथ्वीके भीतर पाताललोकमें चला गया, जहाँ चारों ओर केवल अँधेरा-ही-अँधेरा है, जहाँ अग्नि और बिजलीकी रोशनीसे ही सब काम चलता है, जहाँ दिन-रात कभी होते ही नहीं और सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि कुछ नहीं है। उसने वहाँके रहनेवालोंसे पूछा कि 'यहाँ कभी दिन होता है या नहीं ?' इससे वहाँके रहनेवालोंको बड़ा कौतूहल हुआ कि दिन क्या वस्तु है ? तब उसने बतलाया कि सूर्यके उदय होनेपर दिन और उसके छिप

जानेपर रात होती है। तब तो और भी विस्मय हो गया कि सूर्य और दिन-रात क्या होते हैं। उन्होंने पूछा—'सूर्य क्या है?' उसने कहा—'एक गोलाकार अत्यधिक प्रकाशका पुञ्ज होता है, जिसके उदय होनेपर अँधेरा बिल्कुल मिट जाता है और चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश दीखने लगता है।' इसपर पातालनिवासियोंने एक हजार पावरकी बिजलीका गोल आकारवाला बल्ब जलाया और पूछा—'क्या तुम्हारा सूर्य ऐसा है?' उसने कहा—'यह तो उसके सामने कुछ भी नहीं है।' तब उन लोगोंने दस हजार पावरके बल्बसे रोशनी की और पूछा—'क्या सूर्य ऐसा होता है?' उसने कहा—'यह भी उन सूर्यके सामने कुछ भी नहीं है।' अन्ततोगत्वा उन्होंने बिजलीका सारा पावर लगाकर रोशनी कर दी और पूछा—'तुम्हारा सूर्य ऐसा होता है क्या?' वह पुनः बोला—'यह भी सूर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है।' अन्तमें उन लोगोंने कहा कि 'तुम झूठ बोलते हो; इससे अधिक तो प्रकाश हो ही नहीं सकता!' उस भाईने जवाब दिया—मैं आपलोगोंको किस प्रकार समझाऊँ। वह चीज समझाने और बतलानेमें नहीं आ सकती। जबतक आपलोग उसको देख नहीं लेंगे, तबतक उसे नहीं समझ सकते!' तब उक्त लोकके निवासियोंने अपने एक आदमीको सूर्य देखनेके लिये उसके साथ पृथ्वीलोक भेज दिया। जब दोनों आदमी पृथ्वीलोकमें पहुँचे, उस समय अमावस्याकी घोर अँधेरी अर्द्धरात्रि थी। पातालनिवासी मनुष्यको तो उस अँधेरी रात्रिमें भी प्रकाशका भान होता था, उसने अपने साथीसे पूछा—'क्या यह दिन है?' वह बोला—'यह तो घोर अँधेरी रात है।' जब धीरे-धीरे अँधेरा और कम हुआ, कुछ प्रकाश बढ़ गया, तब उसने पूछा—'क्या यह दिन है?' उसने जवाब दिया—'अभी तो रात ही है।' फिर धीरे-धीरे नक्षत्रोंकी ज्योति भी कम हो गयी और सूर्यके उदय होनेमें आधा घंटा बाकी रह गया, तब पातालनिवासीने पुनः पूछा—'क्या यह दिन है?' वह फिर बोला—'अभी तो रात ही है। आधे घंटेके बाद सूर्योदय होगा।' तब उसने पूछा—'ये चमकनेवाले क्या हैं?' उसने कहा—'पृथ्वीकी भाँति ये भी सब बड़े-बड़े लोक हैं, इनको तारे (नक्षत्र) कहते हैं।' इसके बाद जब नक्षत्रोंकी रोशनी बिल्कुल बंद हो गयी तथा सूर्योदय होनेमें पाँच-सात मिनट ही बाकी रह गये, तब शुक्र और बृहस्पति नक्षत्रको छोड़कर

सभी नक्षत्र अदृश्य हो गये। एवं सूर्योदय होते ही शुक्र और बृहस्पति नक्षत्र भी दीखने बंद हो गये। उस समय सूर्यका प्रकाश इतना तेज लगा कि पाताल-लोकवासी प्राणी तो सूर्यकी ओर ताक भी न सका; उसने सूर्यकी ओर अपनी पीठ कर ली और उसी हालतमें उसने सूर्यके प्रकाशको देखा। दोपहरमें जब सूर्यका प्रकाश अधिक तेज और उग्रतम हो गया तब तो बेचारा वह उसे देख ही कैसे सकता था। तब जिस प्रकार सूर्यग्रहणके समय शीशेको दीपककी लौसे काला करके देखा जाता है, उसी प्रकार उसने उस पातालनिवासीको सूर्य दिखलाया और बतलाया कि यह सूर्य है तथा इसीसे हमारे इस लोकमें दिन-रातकी व्यवस्था है। इसपर उसने कहा—'अब, दिन-रात और सूर्य क्या चीज हैं—इस बातको मैं समझ गया।'

इसके बाद वह मनुष्य अपने लोकमें वापस चला गया। वहाँ जानेपर वहाँके लोगोंने उससे पूछा—'तुमने दिन-रात और सूर्यको देखा ? सूर्य कैसा है ? उसका प्रकाश कैसा है ? दिन-रात आदि क्या चीज है ?' इस प्रकार उन्होंने उस आदमीसे वे सभी प्रश्न किये, जो पृथ्वीलोकके आदमीसे किये थे। उसने बतलाया—'सूर्य एक अत्यन्त प्रकाशका पुञ्ज है, अपनी जो यह बिजलीकी रोशनी है, उससे असंख्यगुनी उसकी रोशनी होती है तब उन्होंने पूछा 'असंख्य गुना उसका प्रकाश कैसा होता है, यह बात हमको समझाओ, तुम तो हमारी भाषा भी जानते हो।' उसने उत्तर दिया—'उस चीजको बिना देखे किसी प्रकार समझाया ही नहीं जा सकता। उसकी उपमाके योग्य अपने लोकमें दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है जिसका नाम लेकर मैं आपको बतला सकूँ। वह वस्तु तो ऐसी है कि प्रत्यक्ष देखनेपर ही समझी जा सकती है, बिना देखे वह किसी प्रकार समझमें आ ही नहीं सकती।'

इस उदाहरणसे यह सिद्ध हुआ कि जब सूर्य-जैसी एक साधारण वस्तु भी बिना देखे समझमें आनी कठिन है, तब फिर उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्य बिना प्राप्त किये कैसे समझ सकता है और दूसरा कैसे उसे समझा सकता है। फिर भी शास्त्र तथा आचार्यगण वाणीद्वारा जितना समझाया जाना सम्भव है, उतना समझाते ही हैं, परंतु यथार्थतः कोई नहीं समझा सकता। सभी आचार्योंके समझानेके तरीके अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार पृथक्-पृथक् हैं। तर्ककी

कसौटीपर कसनेसे तो कोई भी मत अकाट्य, निर्दोष और युक्तिसङ्गत नहीं ठहरता। जैसे बीस सम्प्रदायोंमेंसे एक सम्प्रदाय किसी एक सिद्धान्तको निश्चित करता है तो शेष उन्नीस सम्प्रदाय उसके विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय अन्य उन्नीस सम्प्रदायोंसे विरुद्ध पड़ जानेके कारण तर्कसे कोई भी अकाट्य, निर्दोष और युक्तिसङ्गत नहीं कायम होता।

इसी प्रकार गीतापर भी सैकड़ों टीकाएँ हैं, उनमें कौन-सी टीका सही है, किसका अर्थ ठीक माना जाय? क्योंकि सभीमें मतभेद है, सभीका अर्थ भिन्न-भिन्न है। सौ टीकाओंमें एक टीकाका अन्य निन्यानबे टीकाओंसे स्वाभाविक ही मतभेद एवं विरोध हो जाता है। इसलिये सभीमें परस्पर विरोध सिद्ध होता है; किंतु जितने भी टीकाकार हैं, गीताके मूल श्लोकोंको वे सभी समानभावसे मानते और आदर करते हैं। मूलमें प्रायः किसी भी सम्प्रदाय अथवा टीकाकारका मतभेद नहीं। इसी प्रकार मूलभूत जो परमात्माका स्वरूप है, वह एक है और परम सत्य है तथा मन-वाणीका अविषय है।

ऐसे उस अत्यन्त विलक्षण परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये साधकको ईश्वरकी और महापुरुषोंकी शरणमें जाना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८।६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

तथा महाभारतान्तर्गत श्रीविष्णुसहस्रनाममें कहा है—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्॥

(अनुशासन० १४९।१३०)

'जो भगवान् श्रीवासुदेवके ही शरण है और श्रीवासुदेवके ही परायण है, वह

समस्त पापोंसे रहित विशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य सनातन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है।'

एवं महापुरुषोंकी शरणमें जानेके लिये भी भगवान् गीतामें कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(४।३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भली-भाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा 'हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा'।

यही परमात्माकी प्राप्ति है, इसीको परम धाम, परम गति, परम अक्षर, अव्यक्त गति आदि अनेकों नामोंसे कहा है। भगवान् कहते हैं—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता ८।२१)

'जो अव्यक्त 'अक्षर'—इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परम गति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।'

इसकी प्राप्ति उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेपर होती है। अतएव जिस

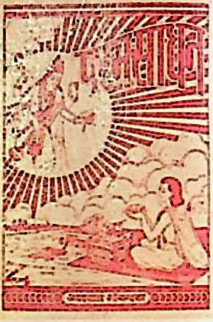
साधककी परमात्माके जिस स्वरूपमें * और जिस साधनमें श्रद्धा और रुचि हो, उसीको लक्ष्य बनाकर विश्वासपूर्वक विवेक और वैराग्ययुक्त चित्तसे कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

——::o::——

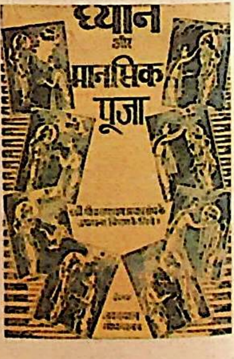
---

* निर्विशेष सविशेष प्रभु निराकार साकार।
सब, सबमें, सबसे परे, निर्विकार, सविकार॥
पुरुष परात्पर प्रेममय, अंशी अमल अनूप।
चिन्त्य अचिन्त्य अनन्त अज दिव्य स्वरूप अरूप॥


शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ
श्रीजयदयालगोयन्दका






ध्यान
और
मानसिक
पूजा